

श्रीपरमपूज्यचारित्रचक्रवर्ति श्री १०८ आचार्यशांतिसागरजी महाराज.

चतुर्थोऽध्यायः ।

दानशाला लक्षण

इति दानशालाविधिः ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

पात्रसेवाविधिः ।

इति पात्रसेवनाविधिः

षष्ठोऽध्यायः ।

द्रव्यलक्षण

सप्तमोऽध्यायः।

अष्टमोऽध्यायः ।

दातृलक्षणविधि ।

नवमोऽध्यायः ।

औषधिदानविधानम्

दशमोऽध्यायः ।

शास्त्रदानविधानम्

इति शास्त्रदानविधानम् ।

एकादशोऽध्यायः ।

भावलक्षण विधानम् ।



संपादकीय निवेदन.

श्रावकोंका अनुदिनका कर्तव्य इज्या व दत्ति है। जिस घरमें दान व पूजाके लिए स्थान नहीं है वह घर नहीं स्मशानभूमिके समान है। जिस संपत्तिका उपयोग दानपूजा कार्यमें नहीं होता है उस संपत्तिका होना न होना बराबर है। इस लिए महर्षि कुंदकुंदस्वामीने आदेश दिया है कि

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मं ण सावया तेण विणा।

दान और पूजा ये दो ही श्रावकके मुख्यकर्तव्य हैं। यदि श्रावक कहलाकर जो दान और पूजा नहीं करें तो समझना चाहिये कि वह श्रावक नहीं है।

लोकातिशायी पुण्यके कारणसे श्री त्रिलोकीप्रभु तीर्थंकर परमेष्ठी सर्वलोकहितकारी अक्षयदानको देते हैं। जिसके द्वारा लोकका उद्धार होता है। तीर्थंकरप्रभुके दरबारसे अधिक पुण्यसूचक स्थान दूसरा नहीं है। उसके लिए समस्त भव्यप्राणी तरसते हैं। जहांपर त्रिलोकीनाथ दाता हों और गणधरादिक महर्द्धिक ऋषि पात्र हों वहांके दानका क्या वर्णन किया जाय। इसलिए आत्मकल्याणेच्छु सज्जनोंका कर्तव्य है कि उस अक्षयदानको देनेके सामर्थ्यको प्राप्त करें। उस के लिए अनेक भवोंसे आहारादि लौकिक दान देनेका अभ्यास होना चाहिये। सारांशतः मोक्षमार्गके लिए दानकार्यकी परम आवश्यकता है। इसके विना यह भव्य मुक्तिसाम्राज्यको सुखसे प्राप्त नहीं कर सकता है। संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंको स्वर्गमें जाकर कुछ काल विश्रांति मिलती है और वहांके जीव अपनेको सुखी मानते हैं। परंतु मनुष्य लोकमें जो विशिष्टदान देते हैं उससे प्रभावित होकर जब वे पंचाश्चर्य करने के लिए आते हैं तब वे देव अपने जीवनको धिक्कारते हैं कि इतने सब वैभवोंकि होते हुए भी हम पात्रदान नहीं कर सकते

है। केवल उपचारभक्ति कर सकते हैं, मुख्यभक्ति नहीं कर सकते हैं। इसलिए मनुष्यों का ही यह भाग्य है कि जहां पात्रदान देने की पात्रता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव, इंद्रियपूर्णता, निरोगशरीर, कुल-जातिकी शुद्धि आदि साधनोंको पाकर भी जो दानादिक सत्कार्य नहीं करते हैं सो समझना चाहिये उनका संसार दीर्घ है।

इस ग्रंथमें चतुर्विधदानका सूक्ष्म विवेचन किया गया है। श्री परमपूज्य विद्वान् तपोनिधि स्व. मुनिराज **सुधर्मसागरजी महाराज** व स्व. धर्मवीर सेठ **रावजी सखाराम दोशी** की प्रेरणासे इस ग्रंथका मैंने संपादन व अनुवादन किया है। खेद है कि इस ग्रंथके प्रकाशनके समय दोनों महापुरुष यहां नहीं हैं। परंतु आशा है कि परलोकमें उनकी आत्मावोंको शांति होगी।

हमें इसके संशोधन के लिए दो ताडपत्र व दो हस्तलिखित इस प्रकार चार प्रतियां मिली थीं। परंतु लेखकोंकी कृपासे चारों ही प्रतियां अशुद्धियोंसे भरी थीं। तथापि हमने यथामति, आर्षाविरोधसे इस कार्य का संपादन किया है। कहीं दोष नजर आवे तो उसे विद्वद्गण सुधार लेवें वह दोष हमारा समझें। उसके लिए ग्रंथकारको भला बुरा न कहें यह निवेदन है।

ग्रंथका प्रकाशन अन्यधार्मिक सज्जनोंके सहयोगसे श्री सेठ **गोविंदजी रावजी दोशीने** किया है। हमारे मित्र पं. जिनदासजी शास्त्रीने प्रूफ संशोधनके कार्यमें हमें पूर्ण सहायता दी है। इस लिए उन सब सज्जनोंके प्रति हम कृतज्ञ हैं।

यदि दानकार्यमें उद्युक्त श्रावकोंको इस ग्रंथका उपयोग होजाय तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे। इति।

विनीत,
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री,
(विद्यावाचस्पति)



महर्षिवासुपूज्यविरचित

दानशासनम्

मंगलाचरण

यस्य पादाब्जसद्गंधाघ्राणनिर्मुक्तकल्मषाः
ये भव्याः संति तं देवं जिनेंद्रं प्रणमाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ— जिस भगवंतके अक्षय अनंतगुणों के प्रदान करनेमें दक्ष ऐसे पादकमलोंके सुगंधको सूंघकर भव्यजन रत्नत्रयात्मक धर्मके पालन करनेसे कर्ममलकलंकसे मुक्त होकर संसारपंकसे छूटते हैं ऐसे जिनेंद्र भगवंतको मैं भक्तिसे नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

इस प्रकार आचार्य ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके लिये मंगलाचरण कर आगे प्रतिज्ञाश्लोक कहते हैं:—

अष्टविधदानलक्षण

दानं वक्ष्ये न वारीव सस्यसंपत्तिकारणम् ।
क्षेत्रोप्तं फलतीव स्यात्सर्वक्षेत्रेषु समं सुखम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठी प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस ग्रंथ में दानविषयका निरूपण करेंगे। परंतु सामान्यदानका नहीं। जिसप्रकार लोकमें पानी बरसता है, वह सभी प्रकारके भूमियोंमें जाकर सभी प्रकारकी सस्यवृद्धिका कारण बन जाता है और जिस प्रकार सभी

स्त्रियोंमें समान श्रेणीका सुख है, उस प्रकार हम दानका उद्देश नह
रखना चाहते हैं, हेयोपादेयज्ञानसे युक्त दानका ही हम निरूप
करेंगे ॥ २ ॥

ग्रंथोपदेश्य पात्र.

शुद्धसद्दृष्टिभिः शुद्धपुण्योपार्जनलंपटैः ।
सार्द्धं मयादिमं ग्रंथं नेतरैस्तु कदाचन ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ग्रंथ पंचविंशति-दोषरहित शुद्ध सम्यग्दृष्टियोंको एवं पात्रापात्रके भेदको समझनेवाले सद्गुणों से युक्त होकर पुण्योपार्जन करनेमें तत्पर, ऐसे श्रावकोंके लिये ही उपदेश देने योग्य है । अन्य दर्शनज्ञानचारित्रसे रहित मिथ्यात्वियोंके साथमें इस ग्रंथका विवेचन नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

दत्वा द्वित्रिगुणं करं च सकलां विष्टिं च कृत्वा प्रजाः ।
सद्रूव्यव्ययमात्तयत्ननिचये सम्यक्फले निष्फले ॥
प्रत्यब्दं बहुसुक्रियाः क्रमकृतास्ताभिश्च ताः कुर्वते ।
मुक्त्वा सत्क्रममुत्तमं सुखभुजां वांछंति जैनास्तथा ॥४॥

अर्थ—प्रजाजन दुगुना तिगुना कर राजाको देते हुए एवं राजाकी अनेक प्रकारसे सेवा करते हुए अपनी खेतको फलवान् बनानेके लिये उसमें प्रतिवर्ष बहुत प्रयत्न करते हैं । फिर भी यह निश्चय ही नहीं रहता है कि उसमें सफलता ही हो । पूर्वाचार्यक्रमसे आया हुआ दान-पूजादिसे उत्पन्न सुखको छोडकर जैन भी उसी प्रकारके सावद्यजनित सुखको चाहने लगे हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥ ४ ॥

दानका लक्षण

धर्मकारणपात्राय धर्मार्थं येन दीयते ।
यद्द्रव्यं दानमित्युक्तं तद्धर्मार्जनपण्डितैः ॥ ५ ॥

अर्थ—आत्मीय सद्धर्मोपार्जनके लिये, धर्मानुकूल गार्हस्थ्य धर्मके

संचालनके लिये, अभयपरिपालन करनेवाले राजधर्मके पालनके लिये, उपर्युक्त तीनों उद्देश्योंको सिद्ध करने योग्य पात्रोंके लिये जो द्रव्य दिया जाता है, उसे व्यवहार निश्चय धर्मको जाननेवाले विद्वानोंने दान कहा है ॥ ५ ॥

दानका भेद

सामान्यं दोपदं दानमुत्तमं मध्यमं तथा ।
जघन्यं सर्वसंकीर्णं कारुण्यौचित्यमष्टधा ॥ ६ ॥

अर्थ—दान सामान्य, दोपद, उत्तम, मध्यम, जघन्य, संकीर्ण, कारुण्य और औचित्यके भेदसे आठ प्रकारसे वर्णित है ॥ ६ ॥

सामान्यदानलक्षण

राजा निजारिकृतसंगरवारणार्थं ।
प्रस्थापितं बलमिवावति सर्वमन्यैः ॥
जैनोत्सवेऽरिकृतविघ्नविनाशकेभ्यः
सामान्यमुक्तमखिलं सुजनैः प्रदत्तम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अपनी शत्रुसेनाको निवारण करनेके लिये प्रेषित अपने मित्र राजावोंकी सेनाको राजा जिस प्रकार बहुत आदर विनयके साथ देखता है, उसी प्रकार जिनोत्सवमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको दूर करनेके लिये साधर्मि भाइयों के द्वारा दी गई सर्व प्रकारकी सहायता सामान्यदान कहलाता है ॥ ७ ॥

पात्रभेदाननालोच्य जैनान्धर्मरसकानपि ।
सत्कृत्याञ्चादिकं दत्तं दानं सामान्यमुच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—पात्रभेदोंका विभाग न करके, जिनोत्सवमें आये हुए जैनि-

१ उक्तं च—सर्वापवंचको भूत्वाप्यर्चितुं स्वबलं सदा।
दत्ते यथोचितं द्रव्यं दानं सामान्यमीरितं ॥

योंको एवं अन्यधर्मप्रेक्षकोंको सत्कार करके भोजनादिसे संतुष्ट करना सामान्यदान कहलाता है ॥ ८ ॥

दोषद्दानका लक्षण.

निजपापार्जितं द्रव्यं द्विजेभ्यो ददते नृपाः ।
तैर्नष्टा राजभिर्विप्रा दानं दोषदमुच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ— राजा लोग अपने पापसे उपार्जित द्रव्यको ब्राह्मणोंको दान देते हैं तथा उन पापोपार्जित द्रव्यसे ये द्विज बिगडते हैं। इस प्रकारके दानको दोषद् दान कहते हैं ॥ ९ ॥

उत्तमदानका लक्षण.

श्रीमज्जिनेंद्रसाकल्यरूपधारिमुनीश्वरान् ।
सत्कृत्य दत्तमन्नादिदानमुत्तममीरितम् ॥ १० ॥

अर्थ—श्रीभगवान जिनेंद्रके साक्षात् रूपधारी दिगंबर मुनियोंको सत्कार कर विधिप्रकार आहारादि-दान देना उत्तमदान कहलाता है ॥ १०

मध्यमजघन्यदान लक्षण.

दत्तं मध्यमपात्राय दानं मध्यममुच्यते ।
द्रव्यं जघन्यपात्राय जघन्यं दानमिष्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—एकदेशव्रतधारी मध्यमपात्रके लिए प्रदत्तद्रव्य मध्यमदान और जघन्यपात्र के लिए प्रदत्त द्रव्य जघन्यदान कहलाता है ॥ ११ ॥

संकीर्णदानका लक्षण.

जिनोत्सवसमाहूतपात्रापात्रादिकानपि ।
सत्कृत्य दत्तमन्नादि दानं संकीर्णमीरितं ॥ १२ ॥

अर्थ—जिनोत्सवके लिए निमंत्रित अर्थात् पंचकल्याणिकप्रतिष्ठा इत्यादि कार्योंमें बुलाए गए अथवा जिनभक्तोंके विवाहादिकार्योंमें आमंत्रित पात्र, अपात्र आदिको योग्य उपचार कर आहार, वस्त्र, तांबूल इत्यादिसे सत्कार करना संकीर्णदान कहलाता है ॥ १२ ॥

कारुण्यदानका लक्षण.

रोगिणं निगळितं च बाधितं दण्डितं क्षुधितमंबुपातितं ।
वह्निपीडितमवेत्यवेक्ष्य कारुण्यदानमिदमीरितं बुधैः ॥ १३ ॥

अर्थ—रोगी, ग्लानी, बंधनबद्ध, दुःखी, दण्डित, भूखा, पानीमें गिरे हुए, अग्निमें जलते हुए मनुष्य को देखकर करुणासे रक्षा करना उसे कारुण्यदान कहते हैं ॥ १३ ॥

औचित्यदानका लक्षण.

जैनबंधुयुगसेवनातुरान्स्कंधवाहकजनानपि नीचान् ।
सर्पयंत्यशनवीटिकाभिरौचित्यदानमिदमुक्तमार्हतैः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनेंद्र भगवंतकी सेवा करनेमें तत्पर नीच जात्युत्पन्न पलकी ढोनेवाले मनुष्योंका भोजन, तांबूल इत्यादिसे सत्कार करना औचित्यदानके रूपमें जैनाचार्योंने कहा है ॥ १४ ॥

यो राजा वधकोऽनृतो धनहरोऽन्यस्त्रीहरस्सस्पृहः ।
संतस्तद्विषयं श्रयंति न सदा नो विश्वसंतीह तं ॥
तस्मै नो ददते धनादि च यथा तद्वद्गुणी धार्मिको ।
दाता दानफलान्यथा खलु तथा रत्नानि भाग्यानि च ॥१५

अर्थ—जो राजा हिंसा करता हो, झूठ बोलता हो, परस्त्री और परधनके हरण करनेमें आसक्त हो, लोभी हो, उस राजाके देशको सज्जन लोग आश्रय नहीं करते हैं और न उसे कोई विश्वास करते हैं और उसे धनादिकसे सत्कार भी नहीं करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक कहलानेवाले दानी मनवचनकायकी शुद्धिसे रहित होकर हिंसादिक क्रियामें प्रवृत्त होवें तो उन्हे दानका कोई फल नहीं मिल सकता है अपितु उसका ऐश्वर्य पापके कारण दिनप्रति दिन घटता ही जाता है ॥१५॥

---

१ यो दत्ते गायकादिभ्यः काले काले यथोचितं ।
ख्यात्यापवादभीत्या वा दानमौचित्यमीरितं ॥

कलिकालके राजा.

टंका इव राजानः सुकृतशिलोच्चयविदारका एव स्युः।
पुण्यं प्रहिजलमिव ते नदीरयाभं विचिन्वते पापं ॥१६॥

अर्थ—कलिकालके राजा टंकेके समान होते हैं। जिस प्रकार टंक पत्थरको विदारित करता है, उसी प्रकार वे भी पुण्यरूपी शिलाको विदारित करते हैं। ये लोग कुएके जलके समान पुण्य और नदीके जलके समान पापको अर्जन करते हैं अर्थात् थोडा तो पुण्य और बहुत पाप अर्जन करते हैं ॥ १६ ॥

भक्तद्वेषी खलमीतः सतृष्णो हितदृड्जडः।
मोहवानहितेच्छो वा ज्वरी वा भाति भूपतिः ॥ १७ ॥

अर्थ—पापोदयसे यह राजा भक्तोंका द्वेषी, दुर्जनोंका मित्र, लोभी, हितैषियोंका शत्रु, अज्ञानी एवं अपने अहितको चाहनेवाला एक ज्वरग्रस्त मनुष्यके समान रहता है ॥ १७ ॥

और भी इसी विषयको स्पष्ट करते हैं.

यद्यद्वर्णानुसंक्रांतास्तत्तद्वर्णानुगामिनः।
स्फटिका इव राजानो भासंते गणिका इव ॥ १८ ॥

अर्थ—दुष्टहृदयके राजागण वेश्याओंके समान होते हैं। जिस प्रकार स्फटिक जिस २ वर्णके पदार्थोंसे घिरता हो उसीका अनुकरण करता है अर्थात् उसी वर्णसे दिखता है। उसी प्रकार कलिकालके राजा जैसा रंग दीखें वैसे पलटते जाते हैं। राजाओंका हृदय विश्वास करनेयोग्य नहीं है ॥ १८ ॥

दुर्भावास्सकषायाश्च कृतदानतपःफलाः।
जीवा भवंति राजानः पापकृत्पुण्यवर्द्धनाः ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्वजन्ममें जिन्होंने खोटे भाव और कषायोंसे युक्त होकर

दान, तप इत्यादि किए हों, ऐसे जीव पापाभिवृद्धिके लिए प्राप्त पुण्यसे राजा होकर इस भवमें उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

राजदेहका सामर्थ्य

ये सप्ततलसौधस्य भारमेव वहंति ते ।
सारस्तंभा इवाभांति राजानः पापपुण्यकाः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मजबूत खंबे सातमंजिलकी महलका भी भार धारण करनेके लिए समर्थ होते हैं, उसी प्रकार राजदेह भी प्रजावोंके दुष्टशिष्ट व्यवहारोंमें योग देकर पुण्य-पापोंका उपार्जन करते हैं ॥ २० ॥

आत्मकृतपुण्यशक्तिः स्वार्जितबहुपापभारवहनाय स्यात् ।
व्याघ्रस्य सर्वमृगपशुवधपटुता पापभारवहनायैव ॥ २१ ॥

अर्थ—संपूर्ण प्राणियोंको मारनेमें प्राप्तचातुर्य व्याघ्रके लिए पापोपार्जन का ही कारण है, उसी प्रकार दुष्ट राजावोंके द्वारा उपार्जित पुण्य केवल पापभारको वहन करनेके लिए ही होता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणशरीरका सामर्थ्य

रंभास्तंभा यथा सौधभारमत्र वहंति किं ।
विप्रा रंभोपमा राजपापभारं वहंति किं ॥ २२ ॥

अर्थ—केलेके वृक्षका खंभा क्या महलके भारको धारण कर-सकता है ? नहीं । इसी प्रकार क्या राजाके पापके भारको ब्राह्मण धारण कर सकते हैं ? नहीं ॥ २२ ॥

षोडशवर्णसुवर्णं सुरत्नसंकीलनोचितं नान्यस्मै ।
वोढुं सुशास्त्रभारं दक्षा विप्रा न पापभारं नैव ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सोलहटंचका सोना रत्नोंको धारण करनेके लिये योग्य होता है अर्थात् शुद्ध सोनेमें रत्न जडनेसे विशेष शोभा आती है, अन्य

कार्यमें यह नहीं लिया जाता, इसी प्रकार ब्राह्मण भी शास्त्रोंके ज्ञान-भारको वहन करनेके लिये समर्थ हैं। पापभारको धारण करनेके लिये वह योग्य नहीं है ॥ २३ ॥

शालिसस्योपमा विप्रा नित्यपुण्यक्रियान्विताः ।
राजानोऽद्रिनिभास्तेषां तेऽघभारं वहंति किं ॥ २४ ॥

अर्थ—नित्य पुण्यक्रियामें संलग्न ब्राह्मण शालिसस्य (धान) के समान हैं, राजालोग पहाड के समान हैं, इसलिये राजावोंके पापभारको वे ब्राह्मण किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥ २४ ॥

शरस्त्ववसारवन्न स्याच्छिग्रुः खदिरवन्न च ।
काराचवन्न मंदारो विप्रो भूपालवन्न च ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार लोकमें दर्भ बांसके समान नहीं हो सकता है। सैंजिनेका पेड खैरके समान नहीं होसकता है। मंदारवृक्ष काराचके समान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण राजाके समान कभी नहीं बन सकता है ॥ २५ ॥

कुदान स्वरूप.

पापार्जितार्थदाता स्याद्राजा क्ष्वेडान्नदातृवत् ।
विप्रः पापार्थमादाता मृतिमेति शुको यथा ॥ २६ ॥

अर्थ—पापोपार्जित धनको दान करनेवाला राजा विषमिश्रित अन्नको दान करनेवालेके समान है। उस पापधनको लेनेवाला ब्राह्मण विषाहारपरीक्षित तोतेके समान मरणको प्राप्त करता है अर्थात् भ्रष्ट होता है ॥ २६ ॥

वस्त्रं कच्चरमग्निदग्धमनवं भिन्नं नवं खण्डितम् ।
स्त्रीकीलाखुभिरर्जुनं सकपटं सम्यक्परीक्ष्याधिपाः ॥
आहारादिसुभोज्यवस्तु सकलं दाने स्वभुक्तौ सदा ।
भुंजाना दुरितार्जितं धनफलं यच्छंति विप्रे नृपाः ॥ २७॥

अर्थ—राजगण अपने भोगोपभोग में और बंधुबांधवोंके रक्षणमें अत्यंत सावधान रहते हैं । वे अपने परिभोगके लिए अथवा स्वजनोंके उपयोगके योग्य, खराब, अग्निसे जला हुआ, पुराना, नवीन अपितु खंडित, दीमक लगा हुआ, चूहेसे काटा हुआ वस्त्र काममें नहीं लेते हैं । चांदीसे मिला हुआ सोना भी काममें नहीं लेते हैं। आहारादि द्रव्योंको अपने तथा दूसरोंके उपयोगमें लेते समय अच्छी तरह परीक्षा कर लेते है । फिर भी आश्चर्यकी बात यह है कि राजगण पापार्जित-द्रव्य दानमें देते हैं ॥ २७ ॥

प्रज्वलज्ज्वालकं वन्हिमादाय स तृणालयं ।
दहन्दापयिता दानमेनोऽर्जितमिवावभौ ॥ २८ ॥

अर्थ--जो व्यक्ति इस प्रकार पापोपार्जित द्रव्यको राजासे दान दिलाता हो वह सचमुचमें जलती हुई अग्निको लेजाकर घासके मकान में डाल रहा है ऐसा समझना चाहिये ॥ २८ ॥

कुदानफल.

पूर्वापतोऽघजाताघं सहस्राधिकतां वहन् ।
शिष्टविप्रकुलद्रोहाद्दाता गच्छति दुर्गतिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—शिष्टब्राह्मणोंके कुलद्रोही राजा पापार्जित धनको दान देकर पहिलेकी अपेक्षा भी सहस्रगुना पाप कमाकर परभवमें नरकादिदुर्गति को प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

सहनशीलता.

दष्टवाशीविषदष्टदुःस्थलमिदं पीत्वा विषं भो भिषक् ।
दत्वा क्ष्वेडहरौषधं विषमरं मोन्मूल्य मां रक्षतात् ॥
इत्यानम्रकुदृष्टिवन्न भव भो धर्मार्थवेद्यातुरा- ।
वेवं वीरतरौ भटाविव सदा तेषामधीशामिव ॥ ३० ॥

अर्थ--आशीविषसर्पके द्वारा काटा गया मनुष्य दीनताको धारण

कर वैद्यसे जिस प्रकार कहता है कि " कृपानिधान वैद्यराज! मेरे ऊपर दया करके सर्पके द्वारा काटे हुए स्थलको आप देखकर तथा चूसकर विषहर औषधि देकर मेरी रक्षा कीजिये ", आचार्य कहते हैं कि भो धर्मको जाननेवाले पुरुष ! तू उस प्रकार दीनता धारण न कर ! एक होशियार वैद्यके समान, रणभटके समान या सेनापतिके समान बनना सीखो। सारांश यह है कि कष्टकालमें भी दीनता धारण न कर धैर्यके साथ उसे सहन करना चाहिये ॥ ३० ॥

गायत्री दोषहर्त्री यदुदितबलतो राजपापार्जितार्थं ।
स्वीकुर्वन्मर्त्यदोषं हरति किल सदा ध्यायतां ब्राह्मणानां ॥
विघ्नांस्तैरुस्थितार्थं तदुदितबलवर्दीनतायाचकत्वं ।
तज्जं किं हंति वंध्यासुतफलसदृशं नार्थिनां पुण्यदानं ॥३१॥

अर्थ— ब्राह्मणोंका गायत्री-मंत्र (पंच नमस्कार-मंत्र) सर्व दोषको दूर करनेवाला है। जिसके उदयसे यह मनुष्य राजाके पापोपार्जित दोषको भी दूर कर सकता है। बडे २ विघ्न उससे दूर होते हैं। राजाके आश्रयको पाकर पापधनके लिए दीनता या याचकवृत्ति करनेमें कोई लाभ नहीं है। वह वंध्यासुतके समान कोई फल देनेवाली क्रिया नहीं है। इससे पुण्यलाभके बजाय पापका ही संचय होता है ॥३१॥

फलकच्छत्रकवचकरा इव दयालवः ।
निर्दोषाहारदातेव पात्रदातार उत्तमाः ॥ ३२ ॥

अर्थ— युद्धस्थानमें काममें आनेयोग्य ढालकी मूठ, कवच, छत्रको तैयार करनेवाले जिसप्रकार दयालु होते हैं, जिस प्रकार निर्दोष आहार देनेवाला दयालु होता है उसी प्रकार निर्दोष पात्रको दयासे दान देनेवाले उत्तम दाता कहलाते हैं ॥ ३२ ॥

रजकाः कच्चरं क्षारचूर्णादिविधिभिर्यथा ।
पूतं कुर्वंति गुरवो राजाघं नाशयंत्ययैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार धोबी वस्त्रको मसाला, सोडा इत्यादिसे धोकर साफ करते हैं उसी प्रकार गुरुजन राजाके पापको पुण्योंके द्वारा दूर करते हैं॥ ३३ ॥

किं नीचकल्पिताहारमाहरन्त्युत्तमा यथा ।
तथा पापार्जितं द्रव्यं न गृह्णन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३४ ॥

अर्थ—यथा नीचकुलोत्पन्नोंके द्वारा पकाये हुए भोजनको उत्तम मनुष्य ग्रहण करते हैं ? नहीं । इसीप्रकार उत्तमद्विज पापसे कमाये हुए द्रव्यको ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ३४ ॥

परस्त्रीजारसंधानकारिणं च यथा नृपः ।
सार्धं दापयितारं यथापयिष्यति दुर्गतिं ॥ ३५ ॥

अर्थ—धर्मात्मा राजा जिसप्रकार परस्त्रीलंपटी, अन्यायी, चोर इत्यादिको दण्ड देता है उसी प्रकार पापोपार्जित धनको दान देनेवाला राजा भी नरकादि दुर्गतिको प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

बालोऽप्यन्यधनादाने पापमित्युदिते सति ।
मुक्त्वा धावत्यस्पृशन्स बालाद्बालोऽपि वस्तुहृत् ॥ ३६॥

अर्थ—परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें तत्पर ऐसे बालकको भी यदि यह कहदिया जाय कि हे ! यह परपदार्थ है इसको ग्रहण करना पाप है तो वह उसको छोडकर दौडता है । ऐसी अवस्थामें पापाचरणसे द्रव्य कमानेवाला राजा बालकसे भी अधिक मूर्ख है ॥ ३६ ॥

न वांछंति न शृण्वंति न स्मरंति यथा बुधाः ।
वाग्दत्तकन्यां भूपाधदत्तं वित्तं तथा द्विजाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दूसरोंको वाग्दानपूर्वक दी हुई कन्याको उत्तम पुरुष इच्छा नहीं करते हैं और न स्मरण करते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण लोग राजाके पापोपार्जित धनके दानकी वांछा न करें ॥ ३७ ॥

ग्राह्योर्थः सागसां राज्ञा नान्यैरत्र यथा तथा ।
धर्मापराधिनां देवपूजायोग्यो बुधैर्न च ॥ ३८ ॥

अर्थ—पापी राजावोंका धन राजावोंके द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है। अन्योंके द्वारा नहीं। अथवा इस लोकमें धर्मापराधियोंका[1] द्रव्य देवपूजादि कार्यमें लिया जा सकता है। अन्य उत्तम पुरुष उसे ग्रहण नहीं करें ॥ ३८ ॥

इसलिए दाता और पात्रकी प्रवृत्ति निर्दोष होनेपर ही दानकी यथार्थ सिद्धि होती है।

इत्यष्टविधदानलक्षणम् ।

---

१ चण्डांशोरवलोकनादिव जगद्व्याप्यंधकारैर्भृतं
कल्याणं च सकालिकं हुतभुजस्तापाद्यथा शुध्यति ।
तद्वद्भानुर्हिमभानुकोटिसदृशप्रद्योततीर्थंकर-
श्रीपूजोत्सवसेवनोचितमिदं दुष्टेन दत्तं धनम् ॥

किंच—

सागसोर्थो नृपैस्सेव्यो न सेव्यो नृपसेवकैः
देवपूजोचितं दोषि वित्तं नान्यस्य चोचितं ॥

दानविधिद्रव्यदातृपात्रलक्षण.

प्रणम्य जिनभास्वंतमज्ञानध्वांतभेदिनं ।
विध्यर्थपात्रदातॄणां वक्ष्ये लक्षणमुत्तमम् ॥ १ ॥

अर्थ--अज्ञानरूपी अंधकारको नाश करनेवाले जिनेंद्रसूर्यको नमस्कार कर उत्तम दानकी विधि, द्रव्य, दाता और पात्रका लक्षण कहूंगा। इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

येऽन्यानन्यधनानि चान्यसुकृतान्यन्यायमन्यार्जितं ।
त्रैरत्नं परदृष्टिबोधचरितं दुर्वृत्तमन्यस्य वा ।
दातारः समनुग्रहाय ददते दानानि चात्यक्षयम्
पात्रापात्रविचारशून्यमनसः कर्माणि ते चिन्वते ॥२॥

अर्थ—कोई पात्र अपात्रके विवेकरहित मनुष्य दूसरोंकेप्रति अनुग्रहसे, दूसरोंके धनको, दूसरोंके पुण्यको प्राप्त करनेके लिये, दूसरोंके दर्शन ज्ञान चारित्रकी वृद्धिकेलिये, अथवा कुसंयमकी वृद्धिकेलिये, या उनकेप्रति दया करनेकेलिये दान देता है परंतु वह सब पुण्यके लिये नहीं होता है उससे पापार्जन होता है ॥ २ ॥

वैरं व्याधिरघं च नश्यति लसत्पुण्यं दया वर्द्धते ।
भूताः पंच वशीभवंति रिपवो मित्राणि के बंधवः
सद्धर्मानुगुणास्सधर्मचरिताः के धार्मिकाः सदृशः
शुद्धाः स्युर्गुरवो नृपे निजानिजेष्टार्थमदानेन के ॥ ३ ॥

अर्थ—इस लोकमें समस्त प्राणियोंको उनके मनोनुकूल इष्ट

१. दानेन तिष्ठंति यशांसि लोके दानेन भोगाः सुलभा नराणाम्
दानेन वश्या रिपवो भवंति तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥
दानेन भूतानि वशीभवंति दानेन वैराण्यपि यांति नाशम्
परोपि बंधुत्वमुपैति दानाद्दानं तु रुवैव्यसनानि हंति ॥

पदार्थोंका दान देनेसे वैर और व्याधिका नाश होता है। पापका नाश और पुण्य और दयाकी वृद्धि होती है। पंचभूत वश होते हैं। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, कोई बंधु बन जाते हैं। कोई धर्मकार्योंमें अनुकूल बन जाते हैं, कोई धर्माचरण करने लगजाते हैं। कोई धार्मिक और सम्यग्दृष्टि बनजाते हैं। कोई अंतःकरणशुद्धवाले गुरु बन जाते हैं ॥ ३ ॥

सत्पात्रदानमनघं कुरुते सुपुण्यं
पापं निहंति सरुजं सकलांतरायं ॥
स्वर्गादिजातमक्षयं च सुखं ददाति।
तस्मिन्गृहे स्रवति रत्नहिरण्यवृष्टिं ॥ ४ ॥

अर्थ—निर्दोष सत्पात्रदान पुण्यकी वृद्धि करता है, पापको नाश करता है, स्वर्गादिमें उत्पन्न अक्षय सुखको उत्पन्न करता है, इतनाही नहीं उस घरमें रत्नवृष्टि सुवर्णवृष्टिको भी करता है ॥ ४ ॥

सत्पात्रदानैर्भुवनत्रयेऽपि प्रोद्दीप्तकीर्तिद्युतिपूर्णलोकान्।
जिनेंद्रभक्तानभिवृद्धसौख्यान् शंसंति देवाश्च नराश्च नागाः ५

अर्थ—सत्पात्रदानके द्वारा जिनका कीर्तिसूर्य तीन लोकमें फैलगया है, जिनकी जिनभक्ति वृद्धिंगत होगई है, सुख जिनका बढ गया है ऐसे भव्योंको देवेंद्र चक्रवर्ति और नागेंद्र भी प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥

शांतान्गुप्तियुतानभग्नचारितान् जैनेषु नीचान्यथा।
दातॄन्वीक्ष्य जना नमंति रिपवो निर्णाशयंतः स्वयम्।
नश्यंति क्षितिपास्तरक्षुभुजगाः क्रूरा प्रशांताशया
नो पश्यन्ति हितं वदंति मनुजाः सेवां सदा कुर्वते ॥६॥

---

१ अज्ञानी क्षपयेत्कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः
तद्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहंत्यंतर्मुहूर्ततः ॥

अर्थ—शांत, गुप्तियुक्त, सुंदरचरित्र ऐसे दातावोंको देखकर मनुष्य विनय करते हैं। शत्रु स्वयं नाशको प्राप्त होते हैं, कषायसे दूषित राजा शांतिको प्राप्त करते हैं, शेर, सर्प सरीखे क्रूर प्राणी प्रशांत होते हैं और ऐसे व्यक्तिको वे क्रूर प्राणी स्पर्श भी नहीं करते हैं। मनुष्य हितवचन बोलते हुए सदा सेवामें तत्पर रहते हैं ॥ ६ ॥

कुलाचलोत्पन्ननदीव केचित् ।
वर्षाचलोत्पन्ननदीव केचित् ॥
नदीव वन्या कतिचिच्च केचित् ।
तटाकतोयोच्छ्वसनं यथा स्युः ॥ ७ ॥

अर्थ—कोई दाता कुलाचल पर्वतोंसे निकलनेवाली नदियोंके समान हैं जिनमें सदा पानी बहता रहता है, कोई दाता बरसातके समयमें बहनेवाले नदियोंके समान हैं अर्थात् कुछ महिने तक ही बरसातकी नदियां बहती हैं, और कोई दाता जंगलके नदियोंके समान है। कोई तालाव को फोडकर बहनेवाले जलके समान है ॥७॥

नदीतटद्वयोत्पन्ना यथाशरमहीक्षवः
सर्पाद्यावासभूताः स्युर्न परोपकृतिक्षमाः ॥ ८ ॥

अर्थ—नदीके दोनो तट में उत्पन्न दर्भ और जंगली ईख सर्पादि दुष्ट प्राणियोंके निवास के लिये काम में आते हैं। परोपकार करनेके काम में नहीं आसकते हैं। इसी प्रकार जो अपात्रोंको दान देते हैं वे दुष्कार्योंकी वृद्धि में सहायता पहुंचाते हैं, सत्पात्रोंका उपकार नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

पात्राणि मत्वा ददतं कुदृग्भ्यो ।
वित्तानि मिथ्यात्वमुपव्रजंति ॥
दुष्टाय दुष्टत्वमयंति मूढाः ।
पापाय येऽहांसि च येन ते ते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव मिथ्यात्वियोंको योग्य पात्र समझकर दान देता हो वह मिथ्यात्वकोही प्राप्त करता है, वैसेही पापियोंको देवे तो पापको प्राप्त करता है, दुष्टको देता हो तो दुष्टताको प्राप्त करता है। जो जैसा करे वैसा भरे यह लोकमें कहावत प्रसिद्ध है। इस लिये योग्य पात्रको देखकरही दान देना चाहिये ॥ ९ ॥

क्रोधिभ्यो लभते क्रोधं रिपुभ्यो रिपुतामपि ।
जारत्वमेव जारेभ्यश्चोरेभ्यश्चोरतां तथा ॥ १० ॥

अर्थ—क्रोधियोंको दान देनेसे क्रोधको प्राप्त करता है शत्रुओंको दान देनेसे वैरभावको प्राप्त करता है, जारोंको दान देकर विटत्व और चोरोंको दान देकर चौर्यभावको प्राप्त करता है ॥ १० ॥

धान्यानि सर्वाण्यपि धान्यवद्भ्यो ।
वित्तानि दत्त्वाददते मजाश्च ।
दानानि दत्त्वाप्यघपुण्यवद्भ्यः ॥
पापानि पुण्यानि यथा तथैव ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें धन देकर धान्यवालोंसे धान्य खरीदते हैं इसीप्रकार दानरूपी धन देकर पापियोंसे पाप और पुण्यात्माओंसे पुण्य खरीदते हैं ॥ ११ ॥

सर्वासु स्त्रीषु सौख्यं सममिति मनुते गौरिवाज्ञन् स लोकः ।
सर्वोर्वीप्तबीजं फलति बहुफलं लोकवादो न शास्त्रम् ॥
सुगेहार्थप्रदाता पतिरिपुपुरनेता गुरुः पौरमर्त्यो ।
मित्राणीवाद्यसंतः सुखमसुखयशोबंधवः कार्मिको मे ॥
स्यादन्यासु सुखं न धर्मकुलसत्पुण्याभिवृद्धिर्न च ।
स्वस्त्रीष्वस्ति सुखं स्वधर्मकुलसत्पुण्याभिवृद्धिस्तथा ॥
स्वस्वाम्याश्रितसेवकानिह धनै रक्षंति भूपा यथा ।
स्वस्वाम्याश्रितसंघमेव सुदृशोऽप्यर्चन्ति पुण्याय च ॥ १२ ॥

अर्थ—अज्ञानीजन पशूके समान सभी स्त्रियोंमें समान सुख है ऐसा समझता है एवं सभी भूमियोंमें बोया हुआ बीज समान फलको देनेवाला है ऐसा मानता है । भूमि गृह और द्रव्यको देनेवाला मेरा स्वामी, राजा, मेरा गुरु, पुरवासी, मेरे मित्र, मेरे सुखदुःखमें साथ आनेवाले मेरे बंधु इस प्रकार समझनेवाले कृपिक अन्य स्त्रियोंमें सुख नहीं मानता है । उससे अपना धर्म, कुल व पुण्य का नाश होता है । इसलिये पात्रका विचार अवश्य करना चाहिये ऐसा समझकर वह, अपनी स्त्रीमें सुख धर्म, कुल और पुण्यकी वृद्धि है ऐसा समझता है । जिस प्रकार अपने आश्रित प्रजाओंकी धनधान्यादिसे राजा रक्षा करते हैं उसी प्रकार जिनेंद्रमार्गके आश्रित संघकी रक्षा करना यह प्रत्येक सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है उससे उनके पुण्यकी वृद्धि भी होती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

श्रीजैनेंद्रोत्सवाय प्रविमलवृषसंवर्द्धनायैव दात्रा ।
दानं प्रोक्तं सरत्नत्रयशुभजनसंपुष्टये दत्तवित्तम् ॥
स्वस्यापि श्रेयसे यत्प्रवितत्यशसे शुद्धपुण्यार्जनाय ।
स्वाधीनान्कर्तुमन्यानितरजनकृतस्यांतरायस्य हंत्रे ॥ १४ ॥

अर्थ—श्रीजैनधर्मकी प्रभावनाके लिये, निर्मलशासनकी वृद्धि के लिये, रत्नत्रयधारियोंके पोषणके लिये, एवं अपने कल्याणके लिये, यशके लिये पुण्यके प्राप्तिके लिये, दूसरोंको अपने आधीनमें करनेके लिये, दूसरों के द्वारा जिनमार्ग में किये गये अंतरायोंको दूर करनेके लिये दान कहा गया है, दानसे इतने उद्देश्योंकी पूर्ति होती है ॥ १४ ॥

सत्पात्रदानका माहात्म्य.

दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिं ॥
सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजां वृत्तेन जन्माग्र्यमुपैति मर्त्यः ॥

अर्थ—इस लोकमें मनुष्य दानसे भोग, दयासे सुंदर रूप, ध्यानसे

मोक्ष, तपसे इष्टकार्यकी सिद्धि, सत्यसे वचनशुद्धि, शांतिसे पूजा, और चारित्रसे संसारके अंतको प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

दान सुभोजनके समान है.

तपोऽशनं वृत्तमशेषशाकता दयाज्यदुग्धं मधुरो रसः शमः ॥
ऋतं हितं ध्यानमतीव लोलता विभाति दानं च सुभोजनं यथा ॥

अर्थ—द्वादश प्रकारके तप करना यह आहार है, चारित्रका पालन करना यह शाकभाजी है, दया उसमें घी और दूध है, शांति मीठा रस है, सत्य उस भोजनका पथ्य है। ध्यान उस भोजनकी रुचि है। दान उसमें भी स्वर्गीय भोजनके समान है। जिस प्रकार अच्छा भोजन करनेसे मनुष्यको तात्कालिक आनंद होता है उसी प्रकार इन गुणोंके धारण करनेसे अतुल आनंद होता है ॥१६॥

सुक्षेत्रं सुतपो दयार्द्रहृदयं ज्ञानं सुवृष्टिः शमः ।
सस्याम्लानकरो गुणोऽप्यऽविरतं सत्यं सुवर्द्धिष्णुता ॥
दानं बीजमशेषवृत्तममलः सूर्यश्च पुण्यैषिणो—
प्यतैस्सप्तगुणैरशेषसुकृतं संचिन्वते धार्मिकाः ॥ १७ ॥

अर्थ—तप एक उत्तम क्षेत्र (खेत) है, दयासे पूर्ण हृदय व ज्ञान बरसात है, सस्योंको प्रफुल्ल करनेवाला गुण शांति है, निर्दोषवचन सस्योंको बढानेवाले सूर्यकिरणोंके समान है। दान उस खेतकेलिये बीजके समान है। निरतिचार चारित्र दुरितांधकारको दूर करनेवाले निर्मल सूर्यबिंब के समान है। पुण्यको चाहनेवाले धार्मिक पुरुष इन सप्तगुणोंको धारण कर सदाकाल पुण्यार्जन करते हैं ॥ १७ ॥

सत्पात्रका आदर और अनादर करनेका फल.

सदादरेणैव ददाति दानं ।
लक्ष्मीः सदा भोगकरी मनोज्ञा ॥

अनादरेणैव सुपात्रदानं ।
लक्ष्मीः सदा भोगविवर्जिता स्यात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति आदरसे सुपात्रदान देता है उसकी संपत्ति इच्छितरूपसे भोगके काम मे आती है । जो निरादर भावसे पात्रदान देता है उसकी संपत्ति भोगके काममें नही आती है ॥१८॥

अनादरकृतं सुदानमतुलानि धत्ते सदा ।
फलान्यविकलानि तैरनुभवो न तस्येष्टदः ॥
असाध्यरुजयाथवा बहुमिषात्प्रभोस्सेवया ।
सुखं न लभते लसद्विभवदेवबिंबं यथा ॥ १९ ॥

अर्थ—यद्यपि अनादरभावसे दिया हुआ सुपात्रदान सभी फलोंको देनेवाला होता है परंतु उसे असाध्य रोगके कारणसे, स्वामिसेवाके कारणसे, या और कोई कारणसे सुख नहीं मिलता है; जैसे देवप्रतिमा यद्यपि चामर, छत्रादि वैभवसे सजी हुई दीखती है परंतु उस वैभवका अनुभव वह नहीं लेसकती है वैसे संपत्तिके प्राप्त होनेपर भी सुख नहीं मिलना यह अनादरकृत दानका फल है ॥ १९ ॥

पात्रदानसे दोषनाश और गुणलाभ.

वातघ्नो मलमूत्रकृच्छ्रकहरो दुष्पित्तनुत्पुष्टिकृत् ।
मेधाबुद्धिबलांगकांतिकरणः पापच्छिदग्निप्रदः ॥
दृग्ज्ञानावरणापहो बहुगुणः शीतः सुसेव्यो बुधैः।
गव्याघार इवाप्यदभ्रगुणदो वर्णानुवत्सादरः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार गायका घी यदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोगको दूर करता है, मलमूत्रके विकारको नष्ट करता है । थकावटको दूर करता है, पित्तोद्रेकको हटाता है, शरीरको बल देता है, मेधा-बुद्धि और शरीरकी कांतिको बढाता है, प्यासको दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुद्धिविकार इत्यादि दोषोंको दूर

करता है, ठण्डा है, एवं सर्वजनोंसे सेव्य है-उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी वात नाश होता है। उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी तेज बुद्धि तेज होजाती है, पाप का नाश होकर पुण्यकी वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभावसे पात्रदान देनेमें बहुतसे गुण प्राप्त होते हैं॥ २०॥

दया गंगेव कुल्यांवदादरः सादरो जनः।
पुण्यपूरगिरिः पात्रं स्यान्नदीमातृको यथा॥ २१॥

अर्थ— मनुष्य के हृदय में जो दया है वह गंगानदी के समान है। उसके हृदय का जो आदर वह नहरके समान है, वह आदरसहित मनुष्य उस नदीके उत्पन्न करनेवाला पर्वतके समान है। जो पुण्यप्रवाहको जन्म देता है। पात्र उस नदीके द्वारा जल प्राप्त करनेवाले देशोंके समान है॥ २१॥

न क्रोधो न च मत्सरो न च मदो माया न कामो न नं।
द्वेषो मोहसरागदर्पमदना लोभो भवेत्तस्य न॥
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासक्तिरभ्यासता।
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता दानेषु यत्रादरः॥ २२॥

अर्थ—जिस भव्यको दान देनेमे आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व, विषयाभिलाषा इत्यादि दोष दूषित नहीं करते हैं। परंतु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य-विचारोंमें आसक्ति, नित्य पुण्य विषयोंका विचार करना, सर्व कार्योंमें नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं॥ २२॥

पात्रप्रेमका फल

आधयो व्याधयो न स्युर्बाधाराजादिसंभवा।
जनः प्रियंवदस्तत्र यत्रास्ते सादरो जनः॥ २३॥

अर्थ—जिस देशके मनुष्य दानादिकार्योंमें आदरयुक्त हैं उस देशमें आधि व्याधि इत्यादि नष्ट होते हैं। राजादिकोंके द्वारा उत्पन्न बाधा भी नष्ट होती हैं। मनुष्य सब प्रीतिकर वचन बोलते हैं ॥ २३ ॥

केदारोप्ते शालिबीजेप्यनंता (?) ।
नश्यंतीवानंतकर्माणि जीवे ॥
नश्यंत्यस्मिन्सादरे तं श्रयंति ।
क्षुद्रा नद्यस्ता नदीस्ताः समुद्रम् ॥ २४ ॥

अर्थ—कुटकीके बीज जिस भूमिमें बोया हो वहांके सर्व तृण सस्य वगैरह नष्ट होते हैं, उसी प्रकार आदरसहित दानसे जीवके अनंतभवके कर्म भी नष्ट होते है। जिस प्रकार छोटी नदियां बडी नदीयोंको, बडी नदियां समुद्रको जा मिलती हैं इसी प्रकार सभी पात्र व अन्य मनुष्य उस दानीके आश्रयमें आते हैं ॥ २४ ॥

सस्या विनश्यंति यदाश्रितानि पद्माकरं निर्जलमाश्रिताश्च ॥
अनादरं दातृजनं च भूपं भक्तास्तथा साधुजना प्रजाश्च ॥२५॥

अर्थ—निर्जल तालावको आश्रित सस्य जिस प्रकार नष्ट होते हैं उसी प्रकार निरादर करनेवाले दाता, राजा वगैरहका आश्रय लेनेवाले भक्त प्रजा व सज्जन नष्ट होते हैं ॥ २५ ॥

दानके पांच दोष.

अनादरो विलंबश्च वैमुख्यं चाप्रियं वचः ।
पश्चाद्भवति संतापो दानदूषणपंचकम् ॥ २६ ॥

अर्थ—पात्रके प्रति निरादर करना, देरीसे दान देना, मुनियोंको देखकर भी नहीं देखासा करना, हितमितमधुर-वचन नहीं बोलना, दान देनेके बाद पश्चात्ताप करना ये पांच दानके लिए दूषण है ॥२६॥

दानके गुणपंचक.

आनंदाश्रूणि रोमाणि बहुमानं प्रियं वचः ।
किंचानुमोदनं दानं दानभूषण पंचकम् ॥ २७ ॥

अर्थ—पात्रोंको देखकर आनंदाश्रु बहना, रोमांच होना, पात्रोंका आदर करना, प्रिय वचन बोलना, पात्रदानके बादमें संतोष होना ये पांच दानके लिये भूषण हैं ॥ २७ ॥

इत्युत्तमपात्रसामान्यविधिः



चतुर्विधदाननिरूपण

अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधं ।
दानं सुधीभिरित्युक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रितम् ॥ १ ॥

अर्थ—महर्षियोंके द्वारा दान अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदानके भेदसे चारप्रकारसे वर्णित है। चारों प्रकारके दान पात्रोंके प्रति भक्ति और अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ॥१॥

चतुर्णामिह दातॄणां वरेण्योऽभयदानवान् ।
तस्मादादावहं वक्ष्ये तस्य दानस्य लक्षणं ॥ २ ॥

अर्थ—चारों प्रकारके दान देनेवाले दातावों में अभयदान देनेवाला श्रेष्ठ कहलाता है। इसलिये आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि सबसे पहिले उसी अभयदानका लक्षण कहेंगे ॥ २ ॥

भीत्वागत्य पलाय्य दुष्टमृगचोरामित्रभूपादिभिः ।
स्वावासं स्वपुरं स्वदेशमबलान्मर्त्यान्स्वपृष्ठं गतान् ॥
मा भैषीरहमप्यवामि भवतः कस्मै ममांगावधे— ।
नो यच्छामि किमस्ति चेद्भयमितो निर्यापयिष्याम्यहम् ॥३॥

अर्थ—जो कोई व्यक्ति परराज्यसे या दूसरे स्थानसे डरकर भागकर आया हो, दुष्ट पशु और चोरों के द्वारा, राजाके द्वारा, या शत्रुओंके द्वारा सताया हुआ हो एवं अपने नगरमें, अपने घरमें आगया हो उसको धैर्य बंधाकर कहना कि " तुम डरो मत, तुम्हारी रक्षा मैं करूंगा, जबतक मेरा शरीर रहेगा तुम्हे किसीके द्वारा कष्ट नहीं होने दूंगा, फिर भी यदि तुम्हारे लिये कोई भय होतो मैं उनको दूर करूंगा इस प्रकार आश्वासन देकर अभयदान पालना चाहिये ॥३॥

यदैकमेकदा जीवं त्रायमाणः प्रपूज्यते ।
न तदा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः ॥ ४ ॥

अर्थ—जब एक जीवको एक दफे रक्षण करनेवाला व्यक्ति विद्वानोंके द्वारा आदर करने योग्य होता है तब सदा सभी जीवोंको रक्षण करनेवाला आदर करनेके लिये क्यों योग्य नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा ॥ ४ ॥

अभयदान परंपरासे मोक्षदायक है.

यः स्थानत्रयवर्तिनस्तनुमतो योगेन रक्षत्यसौ ।
राजासौ सुकृती दयालुरनघः सोऽभीतिदानी गुणी ॥
तेनाधीतमिदं श्रुतं बहुकृतं दानं च तप्तं तपः ।
सर्वे सत्क्रमतो निजेष्टफलदं निश्रेयसं लभ्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो राजा अपने महल, नगर और देशवासी आश्रितजनोंको मन वचन कायसे रक्षा करता है वह राजा पुण्यवान् है, दयालु है, पापरहित है, गुणवान है एवं वही सच्चा अभयदानी है। सचमुचमें उसीने सर्वशास्त्रोंको अध्ययन किया है, बहुत दान किया है, बहुत तप तपा है, वह इस प्रकारके नीतिमार्गसे चलनेवाले राजाके लिये सभी ऐहिक इष्टसिद्धि होनेके साथ २ मोक्षकी भी प्राप्ति होती [redacted] ॥५॥

देवाद्याभयदानतोऽरिनृपरोगावृष्टिभीतिक्षयो ।
जायंते कुलदीपकास्सुकृतिनस्त्यक्त्वासृतात्यामयाः ।
वर्द्धेतालपमयं भवेदिह सुखी निष्कंटकोऽग्रे भवे ।
देवो वा सकलावनीशविनुतः श्रीसार्वभौमो विभुः ॥६॥

अर्थ—जो राजा देव गुरु शास्त्रोंके प्रति आये हुए संकटोंको दूर करता है, धर्मप्रभावनाके मार्ग में आये हुए विघ्नोंको दूर करता है वह राजा इस अभयदानके फलसे, शत्रुराजावोंकी बाधा, रोग, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, इत्यादिके भयसे पीडित नहीं होता है, वह सचमुचमें कुलदीपक है। पुण्यवान् है। कोई भी रोग उनके पास नहीं आने पाते हैं। उसका सुख दिन प्रतिदिन निराबाधरूपसे बढता है

इतनाही नहीं आगेके भव में यह देवगति में जाकर जन्म लेता है अथवा सर्व राजाओंके द्वारा पूज्य चक्रवर्ती होकर जन्म लेता है ॥६॥

त्यक्तास्त्रं ममपलायितं गिरिमगारूढं जलांतर्गतं ।
देहात्पोगुळितांतवार्जुनमुदस्तोच्चध्वजं त्वद्गतिं ॥
दैन्योक्तिं प्रणतं विमुक्तविरुदं दत्तात्मपृष्ठं रिपो-
र्भृत्यं देशगतं तदप्यभयदानाख्यं सुरक्षन्गुणः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस शत्रुराजाने युद्धस्थानमें शस्त्रको छोड दिया हो, जो भाग गया हो, पहाड वगैरह में डरसे चढ गया हो, जल में घुस गया हो, शरण में आकर पादमें गिरता हो, अपने छत्र वगैरहको समेट लिया हो, आपही गति है ऐसा कहता हो, दीनतासे युक्त वचन बोलता हो, नमस्कार किया हो, अपने पदवी वगैरहको छोड चुका हो, एवं जो पीठ दिखाता हो उसकी रक्षा करनी चाहिये, शत्रुके सेवककी भी रक्षा करनी चाहिये यह भी अभयदान है ॥ ७ ॥

दत्वा स्वार्थान्यिलं राज्ञे दयते सागसः शिरः ।
तदेवाभयदानं स्यात् पुण्याय कुरुते सदा ॥ ८ ॥

अर्थ—एक अपराधी राजाके द्वारा प्राणदण्डसे दण्डित किया जारहा हो, उस अवस्था में अपने परिवार, धन एवं सर्वस्व देकर भी उस अपराधी का प्राण बचाना यह भी अभयदान है, इससे पुण्य की वृद्धि होती है ॥ ८ ॥

स्वदेशपुरगेहस्थान्येऽवंति ममुदा सुखं ।
नापानि नारयस्तेषां हानिर्नावति तान्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—जो अपने घर, नगर, देशमें रहनेवाले प्राणियोंको बहुत हर्षसे रक्षा करते हैं, उनको सुख पहुंचाते हैं ऐसे अभय दानियोंको पाप पीडा नहीं देता है और न उनको कोई शत्रु है, उनके कोई

हानि भी नहीं होती है, ये अपने आश्रित प्राणियोंकी रक्षा करते हैं इस लिये उनकी रक्षा उनके पुण्य सदा करते हैं इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ९ ॥

कर्माण्यात्मनि दुर्द्धराणि विषमा दोषा वपुष्यासते ।
बाधंते तमदश्च तानि रिपुवत्पुण्याभिवृध्या न ते ॥
एकं वधकरी (?) प्रभो तव करेणैकेन शस्त्रेण भो ।
कान्कान्हन्ति भवान् द्विपः पदपदे भीताः स्वतेजोबलात् ॥

अर्थ—राजाको अभयदान करनेके लिये किस प्रकार प्रेरणा करनी चाहिये यह बात कहते हैं ।

हे प्रभो ! आत्मामें दुर्द्धर कर्म अनादिकालसे लगे हुए हैं, शरीर में वातपित्त कफादिक विषम दोष लगे हुए हैं । ये आत्मा और शरीरको शत्रुके समान कष्ट देते हैं । आपके पुण्यवृद्धिसे वे आपको दुःख नहीं देते हैं । इसी प्रकार कर्मके उदयसे सर्व प्राणी त्रसित हैं । आप अपने एक शरीरसे, एक हाथसे शस्त्र लेकर किस प्राणियोंको मारेंगे उनको अभयदान दीजिये । उस अनंत पुण्यतेजसे आपके शत्रु भी डरकर मित्र होजायेंगे ॥ १० ॥

मंदेनानलतेजसीव कृतिनः पथ्याश्च दोषा निजाः ।
स्वे चान्ये च विकुर्वते गतमहस्युर्वीपती भस्मनि ॥
त्यक्तोष्णे शुनका यथा गतभयास्संशेरते ताः प्रजाः ।
धर्म धर्मकराश्च पाहि सकलान् लब्धुं स्वतेजोऽखिलं ॥ ११ ॥

अर्थ—हे राजन् ! मनुष्योंके शरीर में यदि अग्नि मंद हो जाय तो शरीरके दोष विकारको प्राप्त होते है, इसी प्रकार यदि राजा तेजोहीन हो गया तो उनके स्वजन और परजन सबके सब विकारको प्राप्त होते हैं, एवंच जिस प्रकार जिस भस्म में उष्णता न हो उसमें कुत्ते भी जाकर निर्भय होकर सोते हैं इसी प्रकार तेजोहीन राजाके

प्रति प्रजायें स्वेच्छाचारपूर्वक व्यवहार करती हैं। इस लिये हे राजन्! धर्मको और धर्मात्मावोंको तुम रक्षा करो जिस से तुम्हें संपूर्ण तेज प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

उद्धार करने योग्य चीजें.

जीर्णं जिनालयं जिनबिंबं सुदृशं च पुस्तकं पूज्यं ।
पूजकमप्यधिकं स्याद्यदुद्धरेत्पूर्वपुण्यतः पुण्यं ॥१२॥

अर्थ—जीर्ण मंदिर, जीर्ण जिनबिंब, जीर्ण रत्नत्रयधारक, जीर्ण शास्त्र, जीर्ण संयमी, एवं देवार्चक, इत्यादिका जो उद्धार करता है वह पूर्वसे भी अधिक पुण्यको प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

अभयदानके अनेकभेद.

द्विर्घोषं तु तटाककूपमृगसर्पामित्रचोरानल- ।
क्ष्वेडग्रामगतामयप्रभृतिकं श्रुत्वैव यत्रोदितं ॥
तत्रागत्य तदीयदुःखमखिलं नित्यं निवार्यागतो ।
शूरोऽयं खलु यत्तदेव सकलो लोकश्चिरं जीवति ॥१३॥

अर्थ—मनुष्य तालाब में गिरनेके संकटके विषय में, कुवेमें पडा इस प्रकार, शेर वगैरहसे पकडा गया ऐसा, सर्पसे काटा गया, शत्रुवोंसे बाधित किया गया, चोरोंसे लूटा गया, आगसे जल गया, विषसे आहत हुआ अथवा कोई रोगविशेषसे पीडित हुआ इस प्रकार दो आवाज सुननेपर भी उस घटनास्थल में पहुंचकर संकटापन्न प्राणियोंकी आपत्तियोंको दूर करें। अज्ञानीजनोंके दुःख मिटावे यह सब अभयदान है ॥ १३ ॥

तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति ।
यन्न संपद्यते सद्यो जंतोरभयदानतः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो सुख अभयदानसे प्राणियोंको प्राप्त न हुआ हो वह

सुख लोकमें न हुआ, न है और न होगा अर्थात्, अभयदानसे प्राणियोंको सर्वप्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

अभयदानसे मिलनेवाले लाभोंका सविस्तर विवेचन.

येऽर्चंति तेजांसि निजाश्रितानां विद्वद्भिषग्ज्योतिषिकादिकानां।
तेषामृषीणां गुणिनां वृषाणां शुक्लेन्दुवद्वृद्धिमुपैति तेजः १५

अर्थ—जो राजा अपने आश्रित मनुष्योंका, विद्वानोंका, वैद्य, ज्योतिर्षी आदिका, संयमियोंका, गुणियोंका एवं धर्मका तेज बढाते है एवं रक्षा करते हैं उनके स्वयंका तेज भी शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान बढता है ॥ १५ ॥

स्वीयानन्यजनानिवान्यवनिताः स्वस्त्रीरिव स्वं धनं ।
चान्यार्थानिव देवताश्च सकलाः स्वीया इव क्ष्माभृतः ॥
स्वस्थानत्रयवर्तिनस्तनुमतो रक्षंति सर्वान्पुरा ।
स्त्री वाव्याज्जनपुण्यदुष्कृतपतिस्सर्वं त्रिशुद्ध्योचितं॥१६॥

अर्थ—पूर्वकाल में राजा अन्य प्रजावोंको अपने बंधुवोंके समान रक्षण करते थे, अपनी स्त्री के पातिव्रत्यधर्मको रक्षण करना जितना आवश्यक है उतनाही परस्त्रियोंके पातिव्रत्यका रक्षण करना आवश्यक समझते थे, अपने धनके समान, दूसरोंके धनका रक्षण करते थे, सर्व संप्रदायके देवोंको अपनेही देव समझते थे, इसी प्रकार कोई प्रकारका कष्ट नहीं होने देते थे, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने चाहे जैसे पति हो उसकी सेवा करती है उसी प्रकार अपने राज्यमें रहनेवाले पुण्यात्मा पापात्माको मनवचन कायकी शुद्धिसे रक्षा करते थे। यही अभयदानका आदर्श है ॥ १६ ॥

यत्रास्ते नृपतिर्मुनिर्यदमलं तेजः प्रजानां तयो— ।
र्बाधां वारयतीत्यघं च कुरुते सौख्यं च पुण्यं शुभं ॥,

यच्चार्कस्य यथा करोति सुदृशां दृष्टिप्रकाशं सुखं ।
बाधां क्रूरभवां निवार्य शुभकृत्कर्माण्यलंकारयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ--जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर जिनकी आंखे अच्छी हो उनको प्रकाश मिलता है। सुखका अनुभव होता है, क्रूर सर्प इत्यादि प्राणियोंकी बाधासे बच जाते हैं, अच्छे कार्य में संलग्न होते हैं। चोरी इत्यादि पापकर्मोको करनेका अवसर नहीं मिलता है इसी प्रकार जिस देशका राजा न्यायवान् एवं पराक्रमी हो, अथवा जिस राज्य में तपस्तेजसे युक्त कोई मुनि हो, उन दोनोंके तेजसे प्रजाओंका दुःख दूर होता है। उनको कोई बाधा नहीं सताती है, उनका पाप दूर होकर पुण्यकी वृद्धि होती है एवं उस राज्यकी प्रजा शुभकार्य में प्रवृत्त होकर सुख प्राप्त करती है ॥ १७ ॥

सद्धर्मापहताववग्रहगतःस्याच्चचटाको नृपः।
शून्यस्तत्तदधः प्रजा निजकरं सस्यं न दत्ते फलं ॥
धर्मान्वर्द्धय पाहि धार्मिकजनान् शुद्धान्विशुद्धाशयान् ॥
स्वस्थानत्रयवर्तिनोऽप्यनुदिनं क्षेत्रं यथा कार्षिकाः ॥१८॥

अर्थ—हे राजन् ! सद्धर्मका नाश होनेपर प्रजाजनों में सुख शांति नहीं रहती है। जिस प्रकार सस्योत्पत्तिके आधारभूत तालाबका पानी सूखनेपर सस्य होता नहीं, फिर प्रजा अपने करको नहीं देती है, इसलिये राज्य में सुख शांति में मूल कारण धर्मका यदि नाश होता है तो दुर्भिक्ष आनेमें देरी नहीं लगती। इसलिये अपने राज्य में धर्म की वृद्धि करो, जो धर्मात्मा है, सज्जन हैं, ऐसे महल, नगर, राज्य के मनुष्योंकी रक्षा करो, जिस प्रकार किसान खेतकी रक्षा चिंतापूर्वक करता है उसी प्रकार अपनी प्रजाजनोंकी रक्षामें दत्तचित्त रहो॥१८॥

तातं स्वामिनमुत्तमार्यमनुजं जामातरं मातरं ।
भ्रातारं गुरुमित्रसेवकमरिं ज्येष्ठं गुणं वल्लभां ॥

मित्रं स्वामिबलं स्वबांधवजनं जैनं च सद्धार्मिकं ।
यःश्याच्छंसति तस्य पुण्यममलं तेजोऽपि भाग्यादिकं॥१९

अर्थ—जो व्यक्ति अपने पिता, स्वामी, उत्तम मनुष्य, जमाई, माता विश्वस्त व्यक्ति, गुरु, सेवक, शत्रु, बडे पुरुष, गुणवान, स्त्री, मित्र, स्वामिसेना, बंधुजन, धार्मिक जैन आदिको गुणानुरागसे प्रशंसा करता हो वस्तुतः वह पुण्यशाली है उसका भाग्य तेज वगैरह बढता है ॥ १९ ॥

स्थैर्यादियत्वगांभीर्यतेजस्वित्वसुरूपताः ।
सौभाग्यत्यागिभोगित्वयशस्वित्वमरोगताः ॥ २० ॥
चिरंजीवित्वमित्यादिलोकोत्तरगुणानपि ।
धर्मार्थकाममोक्षान्यः स व्रजेदभयप्रदः ॥ २१ ॥

अर्थ—अभयदान देनेवाला व्यक्ति प्रत्येक कार्य में स्थिरता, शत्रु मित्रादि जनोंको वश करनेमें प्रभावक शरीर, समुद्रके समान गांभीर्य, सूर्यके समान तेज, सबको प्रसन्न करनेवाला सुंदर रूप, सौभाग्य, पात्रदानादि कार्य में त्यागभाव, यथेष्ट इंद्रियसुख में भोगित्व, सर्व कार्य में यशस्वी होकर कीर्तिसंपादन, नीरोग शरीर एवं चिरायु आदि बहुतसे लौकिक एवं लोकोत्तर गुणोंको भी प्राप्त करता है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ उसे सहज प्राप्त होते हैं ॥२०॥२१॥

धन्यराजतपोभाजां हितपूतमितोक्तयः ।
वर्धयंति स्वतेजांसि नाशयंत्यघसंचयान् ॥ २२ ॥

अर्थ—हित, मित, मधुर वचनको बोलनेवाले राजा, तपोधन [मुनीश्वर] आदिका तेज बढता है, पापनाश होकर पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

१ आदेयः सुभग सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ॥
भवत्यभयदानेन चिरंजीवी निरामयः ॥

स्यात्सार्वभौमसंपत्तिः सर्वजीवसुरक्षया ।
तस्मात्सर्वे न हंतव्यास्सागसोपि निरागसः ॥ २३ ॥

अर्थ— संपूर्ण जीवोंकी रक्षासे चक्रवर्तीका पद भी प्राप्त होता है इस लिये चाहे कोई अपराधी हो निरपराधी हो उनको मारना नहीं चाहिये और न कष्ट देना चाहिये ॥ २३ ॥

ब्रूते क्लेशकरं वचो न न हरत्यन्यार्थभूम्यादिकं ।
नातिक्रामति यो व्रती तमखिला देवो वदंतीत्ययं ॥
यद्यत्तेन कृतं च तत्तदखिलं सत्यं फलत्यन्वहम् ।
सर्वं मानसवाचिकांगिकमहो सद्यः फलं यच्छति ॥२४॥

अर्थ—जो व्यक्ति दूसरोंके साथ कटुवचनका प्रयोग नहीं करता है, दूसरोंके धन भूमी आदिको अपहरण नहीं करता है, साधु संयमियोंका अविनय नहीं करता है उसे सब लोग देव कहते हैं, वह जो कुछ भी कार्य करता है उसमें उसे अवश्य सफलता मिलती है, उनके संपूर्ण मानसिक, वाचिक और कायिक कार्य तत्क्षण फल देते हैं ॥ २४ ॥

निर्दयपनेसे होनेवाला नुकसान उदाहरणकेद्वारा दिखाते हैं.

येऽत्र स्वाश्रितजीवयुग्ममदयन्दत्वोचितार्थान्सदा ।
विष्टिं कारयतीव गोपशुनरैः कार्यं कृतं कारितं ॥
सर्वं नश्यति तस्य तेन फलति क्षेत्रे न सर्वं कृतं ।
नैष्फल्यं भवतीत्यवेत्य सुकृती सर्वान्घनैः पालयेत् ॥२५

अर्थ—जो व्यक्ति अपने आश्रित द्विपद [नौकर चाकर] चतुष्पद [गाय, भैंस, बैल वगैरे आदि प्राणियोंको उचित द्रव्यादि देते हुए दया नहीं करता है उनसे बराबर अपना कामही लेता रहता है

१ क्लेशकरोक्तिं न वदति न परार्थं हरति यस्तमिह धान्ये ॥
देवोऽयमिति ब्रुवते भाषमतिस्तस्य सर्वसिद्धिः स्यात् ॥

उसका किया हुआ, कराया हुआ सर्व कार्य नष्ट होता है, जिस प्रकार कोई किसान अपने आश्रित जनोंको कष्ट देकर यदि खेदसे फल प्राप्त करना चाहता है तो उसे फल मिलना कठिन है उसी प्रकार अपने आश्रित जनोंके प्रति दया न रखनेवाले व्यक्तिको किसीभी कार्य में सफलता नहीं मिलती, इस लिये अपने आश्रित मनुष्योंको धन इत्यादिसे रक्षा करनी चाहिये ॥ २५ ॥

जीवपालनसे होनेवाले लाभ

ये ये पूर्वनृपालदत्तमखिलं ग्रामादिधर्मादिकं ।
पात्येवं भगिनीमिवात्मतनुजामेवात्मदत्तं यथा ॥
ते भूपाश्च जनाः सुतद्रविणगोधान्यादिसंपत्तयो ।
आधिव्याधिभिरंतरेण सुखिनो जीवंति भूत्वा चिरं ॥२६॥

अर्थ— जो राजा व अन्यव्यक्ति जिस प्रकार धनादि देकर अपने पुत्रीके समान बहिनकी भी रक्षा करते हैं ठीक उसी प्रकार अपने पूर्वजोंके द्वारा दिये गये ग्राम खेत इत्यादिके धर्मको बराबर पालन करते हैं उन राजाओंको अथवा उन व्यक्तियोंको धन धान्य स्त्री पुत्र इत्यादियोंकी समृद्धि होते हुए आधिव्याधिसे रहित सुखी शरीरको प्राप्त कर चिरायु प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

---

१ स्वदत्तं द्विगुणं पुण्यं पूर्वदत्तानुपालनात् ।
पूर्वदत्तापहारेण स्वदत्तं निष्फलं भवेत् ॥
पित्रा दुहित्रे भगिनी च दत्तं पुत्रे हरत्यात्मन आददानः ॥
पुत्रीरिवास्यां भुवि पूर्वदत्तं गृण्हंत मा×के विफलं स्वदत्तं ॥
सर्वाःप्रजा यथा पूर्वे भूपास्ते वर्तयंति ताः ।
पालयंतु तथा भूपा वैद्या वा कृषिका इव ॥
दानपालनयोर्मध्ये दानाच्छ्रेयोनुपालनं ।
दानात्स्वर्गमवाप्नोति पालनादच्युतं पदं ॥

देशे यस्य पुराविष्टजनाक्षोदयते च ये ।
दापयंति न ते तत्र जीवंति सुखिनश्चिरं ॥ २७ ॥

अर्थ—जो राजा अपने राज्य में प्रविष्ट प्राणियोंको कष्ट नहीं देता है एवं दूसरोंसे नहीं दिलाता है वह राजा एवं उसकी प्रजा सुखसे जीते हैं ॥ २७ ॥

नृस्त्रीगोधनधान्यवृक्षवसनाद्याहृत्य यस्मिन्गते ।
स्वस्थानान्नृपते सदोनमभवत्सदं विघत्से हृदि ।
कोकोत्साहहतेश्च देवविभवच्छेदे मुदं मा कृथाः ॥
विघ्नं मा कुरु मापि कारय महं निर्विघ्नमेवाखिलं ॥२८॥

अर्थ—हे राजन् ! दूसरे जीवोंको कष्ट देना पाप है, उनकी स्त्री, गाय, धन, धान्य, वृक्ष, वस्त्र इत्यादिको अपहरण करनेसे उनके हृदय में बडा भारी धक्का पहुंचता है जिससे उनको भयंकर दुःख होता है, दूसरोंकी संपत्तिका छेद करनेसे उनका उत्साह भंग होता है, इस लिये दूसरोंको कष्ट पहुंचाने में आनंद मत मानो, दूसरों के उत्साहमें विघ्न उपस्थित मत करो, दुसरोंसे न कराओ ताकि तुम्हारे भी सर्व कार्य निर्विघ्न हो ॥ २८ ॥

विघ्नान्वितेष्वैहिकसर्वकार्येष्वयंति नो तानि पुरोभिवृद्धिं ।
दैवे महे सर्वविनाशहेतुर्यंपादविघ्नं कुरु भव्य बुद्ध्या ॥ २९ ॥

अर्थ—हे भव्य राजन् ! ऐहिक विवाहादिकार्यों में यदि विघ्न उपस्थित हुए तो पुरोभिवृद्धि नहीं होती है । देवता महोत्सवमें यदि विघ्न उपस्थित हुआ तो वह सर्वनाशके लिये कारण है, इस लिये ऐहिक पारलौकिक कार्यों में विघ्न उपस्थित न होसके ऐसा प्रयत्न करो. ॥ २९ ॥

स्वान्देशान्मुजनैरवंति च जनैर्धान्यार्थमारोग्यकं ।
मेघैर्बंधुभिरंगना इव सुतांस्ताभिर्लभंते नृपाः ॥

पट्टादीनि मणीन्वर्णाग्निभिरिव सज्ज्ञानं बुधैस्साधुभिः ।
स्वानीकैश्च जयंत्परीनिव स भो पापं जय श्रावकैः॥३०॥

अर्थ—जिसप्रकार देशकी रक्षा सज्जनोंसे, धनधान्यकी रक्षा प्रजाजनोंसे, स्वास्थ्यकी रक्षा वैद्योंसे, बंधुवोंसे स्त्रीकी प्राप्ति, स्त्रीसे संतानकी प्राप्ति, वैश्योंसे वस्त्राभूषण इत्यादिकी प्राप्ति, विद्वान् साधुवोंसे ज्ञानकी प्राप्ति, तथा शत्रुवोंकी जय अपनी सेनासे होती है इसी प्रकार उत्तम श्रावकोंकी रक्षा कर पापको जीतना राजाका धर्म है ॥ ३० ॥

जिनेंद्रधर्मतेजांसि वर्द्धयंतीह ये नराः ।
तमोपहार्कतेजोवत्ते भवेयुस्सतेजसः ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जो व्यक्ति अपने धनके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करते हैं उनका तेज - अंधकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके समान अत्यंत उज्वल होता है । उनकी कीर्ति बढती है ॥ ३१ ॥

परंपरायातजिनार्चनाविधि- प्रमाणमाचार्यमुखैर्विचार्य ।
जिनेंद्रधर्मोत्वणमेव कुर्वते ते धार्मिका धर्मविचारपेशलाः ॥३२

अर्थ—जो मनुष्य परंपरासे आया हुआ जिनपूजनविधान-वगैरहको आगमोंसे जानकर अथवा गुरूवोंसे विचारकर जिनधर्मकी प्रभावना करते है वे धार्मिक हैं । धर्मकार्योंके करनेमें दक्ष हैं एवं अपनी धर्मभावनासे कर्मको नाश करनेके लिये समर्थ है ॥ ३२ ॥

---

१ चित्रदारुशिलारूपबिंबान्यर्चंति येऽर्हतां ।
न संति कृतिनस्तद्वन्मुनिर्गणधरादिवत् ॥
सोऽयं जिनःसुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः
सलिलानि साक्षात् ।
इंद्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततःकथमियं न,
महोत्सवश्रीः॥

मन्वाना त्रिदिवागतः स मघवानेवायमिंद्रो महां-।
स्तन्वाना निजबंधुवर्गसहिताः श्रीजिनपूजोत्सवान् ।
चिन्वानाः सुकृतोच्चयं निरुपमं स्वर्गापवर्गं पदं ॥
धुन्वाना रजसाकवस्त्रमिव चात्माघोत्करं धार्मिकाः ॥३३

अर्थ—जो मनुष्य पूजादि महोत्सव करानेवाले भव्यको यह साक्षात् स्वर्गलोकसे उतरा हुआ इंद्र है ऐसा समझकर अपने बंधुजनोंके साथ युक्त होकर उसके धर्मकार्यमें बहुत हर्षसे योग देते हैं वे स्वर्गापवर्गको देनेवाला पुण्यसंचय करते हैं एवं च उसके बलसे मलिन वस्त्रके मलके समान आत्मामें लिप्त पापोंके समूहको नष्ट करते हैं ॥ ३३ ॥

आहूताखिलजैनबंधुरिह तैरालोच्य देशादिभिः ।
प्रत्यूहं सविवेकसर्वविधिभिः श्रेष्ठे दिने वोत्सवं ॥
राजा बांधवभृत्यवर्गसहितो भुक्त्वैव भोगद्वयं ।
युद्धे शत्रुलयं करोत्यघलयं कुर्यात्स पुण्यार्जनं ॥३४॥

अर्थ—जिनमहोत्सवको करनेके पहिले सब देशोंसे जैन बंधुओंको बुलाकर उनके साथ महोत्सवमें आनेवाले विघ्नोंको निवारण करनेका उपायविचार करना चाहिये, तदनंतर मंगल मुहूर्तको देखकर राजा बंधुजन, सेवक आदिसे युक्त होकर, भोगोंसे मुक्त होकर बहुत भक्तिसे जिनपूजा महोत्सव करें जिस प्रकार राजा युद्धमें शत्रुवोंका नाश करता है उसी प्रकार ऐसे महोत्सवोंसे पापका नाश करता है पुण्यका संपादन करता है ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वार्हन्महपत्रिकां सहृदया दूतं पुरस्कृत्य तत्-।
पूजार्थं परिगृह्य साधुसहितो गत्वा बहिश्चितनं ॥
सुपरत्वानम्य जिनान्गुरूनपि बुधान्भक्तान्निजान्बांधवान् ।
स्थित्वा तत्र शुभाशयांश्च सकलान् संभावयंतु स्थिरं ॥३५

अर्थ—जिस समय जिनमहोत्सवके निमंत्रणपत्र लेकर कोई दूत

आवे तो उसका हर्षसे सन्मान करना चाहिये, एवं उस पूजाके लिये योग्य सामग्री वगैरह लेकर अपने बंधुबांधव व साधुसंयमियोंके साथ मंदिरके लिये रवाना होना चाहिये। मंदिरमें जाकर बाह्य विचारको छोडकर देव गुरु विद्वान व सुदृष्टि जीवोंका यथायोग्य नमस्कार करें एवं एवं शुभविचारसे युक्त होकर स्थिरचित्तसे उस शुभ महोत्सव में योग देवें ॥ ३५ ॥

जेतुं शत्रुबलं व्रजामि नृपतेः सेवार्थमंगं दधे ।
मुक्त्वैवारमपरिग्रहं निजगुरोरग्रेऽङ्गभोगोचितं ॥
इत्थं स्वीकृतसुव्रतो रणतले निश्शेषसन्यासवान्- ।
स्त्वं जीवात्र जिनोत्सवेषु सुभटो वर्तस्व नित्यं यथा॥३६॥

अर्थ—हे आत्मन्! जिसप्रकार युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें जानेवाला वीर सैनिक प्रतिज्ञा करता है कि "मैं शत्रुसेनाको जीतनेके लिये जा रहा हूं। स्वामिसेवाके लिये मेरा शरीर समर्पित है। जबतक मैं स्वामिसेवासे निवृत्त न होऊं तबतक मेरेलिये सब प्रकारके भोगोपभोगोंका त्याग रहे" इसीप्रकार जिनोत्सवमें जानेवाला जीव भी यह प्रतिज्ञा करें कि "कर्मरूपी शत्रुवोंको जीतनेकेलिये जिनचैत्यालयमें जारहा हूं। मैं जिनेंद्र भगवंतकी पूजाकेलिये अपना शरीर अर्पण कर चुका हूं। जबतक इस पुण्यमहोत्सवसे निवृत्त नहीं होऊं तबतक मेरेलिये सर्व भोगोपभोग पदार्थोंका त्याग है" इसलिये जिन पूजामें भी वीरके समान रहे ॥ ३६ ॥

योद्धारो रणरंगवीरारिपुभिस्त्यक्तांगनान्नादिकाः ।
निश्शंकादिगुणा इवार्हतमहे विण्मूत्रशंकादिना ।
नो गच्छंति पुरः प्रयांति चरमं पद्भ्यां शिवस्येव नो- ॥
न्नेक्षंते न निजं स्मरंति निलये जैनाः वसंतश्चिरं ॥३७॥

अर्थ—जो योद्धा शत्रुवोंसे युद्ध करनेके लिये रणरंगमें जाते हैं वे

वहांपर स्त्री पुत्र धन आहारादिसे निश्शंक होकर युद्ध करते हैं। इसी प्रकार जो श्रावक जिनपूजोत्सवके लिये मंदिरमें जावें वे मलमूत्रादिकी शंकासे रहित रहें, मंदिरमें व्यर्थ इधर उधर टहले नहीं, किसी पदार्थको पांवसे हटावे नहीं, इधर उधर देखें नहीं, अपने मित्रादिकोंका स्मरण नहीं करें। एवं अपने गृहकृत्य संबंधी विचारोंको मनमें लावे नहीं एकाग्रचित्तसे महोत्सवमें योग देवें ॥ ३७ ॥

सर्वे वीरभटा रणांगणतले तांबुल्यमिच्छंति यं।
तांबूलोदकनालिकेरकदलीसस्यादि किंचिन्न ते ॥
संतुष्टाः भविचारका रिपुक्षयव्यापारबोधक्षमाः ।
श्रीजैनोत्सववीक्षका अघक्षयव्यापारदक्षास्तथा ॥ ३८ ॥

अर्थ—वीर–योद्धा युद्धस्थानमें युद्ध करनेमेंही लगे रहते हैं, तांबूल पानी, नारियल, केला आदि खानेकी उन्हें चिंता नहीं रहती है, इसी लिये वे संतुष्ट होकर युद्ध करते हुए शत्रुओंको नाश करनेमें समर्थ होते हैं, इसी प्रकार जिनमहोत्सवमें लगे हुए जीव उसी में संलग्न होकर उतने समयतक खाना पीना वगैरह सब भूल जावे तभी वे यथार्थ रूपसे कर्मोंको नष्ट करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥

चैत्यावासगतिस्मृतेरनशनद्वंद्वस्य चाद्योगतो।
बंधस्याष्टफलं लभेत गमनप्रारंभतश्चंक्रमे ॥
पंक्तेर्द्वादशजं फलं निजगृहद्वार्निर्गमान्मध्यतः।
पक्षानन्नफलं गृहेक्षणवशान्मासोपवासोऽद्भवं ॥३९॥

अर्थ—भावपूर्वक जिनचैत्यालयको जानेके विषयमें विचार करने मात्रसे दो उपवासका फल, सामग्री वगैरहके तैयार करने में चार उपवासका, गमन करनेके लिये प्रारंभ करनेसे आठ उपवासका, गमन करनेसे दस उपवासका, अपने घरके द्वारसे बाहर निकलने में बारह

उपवासका, मध्यमार्ग में पहुंचनेपर पक्षोपवासका एवं जिनमंदिरको देखनेसे मासोपवासका फल मिलता है ॥ ३९ ॥

षण्मासोत्थफलं गृहांगणगते द्वाराग्रगे वार्षिकं।
वर्षाणां शतजं प्रदक्षिणवशाद्दृष्टे जिनेंद्रानने ॥
साहस्रं स्तवने कृतेऽत्र लभते भक्त्याप्यनंतं फलं।
निर्भुक्तेर्न पुमान्विभावसहितः किंचित्फलं च ध्रुवं ॥४०॥

अर्थ—जिनेंद्रमंदिरके अंगणमें जानेपर छह महिनेके उपवासका फल, दरवाजेके पास जानेपर वर्षोपवासका फल, प्रदक्षिणा देनेसे शत वर्षोपवासका फल, जिनेंद्रके मुखदर्शनसे हजार वर्षके उपवासका फल, भक्तिसे स्तुति करनेसे अनंत उपवासका फल नियमसे यह मनुष्य प्राप्त करता है। परंतु ये सब होने चाहिये भावभक्तिसहित उसीसे इस प्रकारके सातिशय फल मिलते हैं। भक्तिरहित होनेपर कुछभी फल नहीं मिलेगा ॥४०॥

द्वादशकायोत्सर्गाः साष्टान्वितशतनमस्क्रियाः शुद्धाः।
यः पुरुषः कुरुते स त्रैकाल्यादनशनत्रयं लभते ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध अंतःकरणसे तीन बार प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकालमें बारह कायोत्सर्ग जाप देता हो अथव एकसौ आठ दफे जाप देता हो वह तीन उपवासका फल अवश्य प्राप्त करता है ॥४१॥

राजेवारिबलं पुरात्मनृपतिं यः स्वस्वबीरान्भटान्।
प्राथ्यालंकृतिवस्त्रकर्पटमुखैरुक्त्वा प्रियोक्तिं जयेत् ॥
जैनः कर्मबलं पुरा निजचतुःसंघं त्रिलोकप्रदं।
संप्रार्थेत यथोचितस्तुतिनतीष्टोक्त्यर्थदानैर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने शत्रुसेनाओंको जीतनेके पहिले अपने पक्षके राजा, वीरभट आदिसे युद्ध करनेके लिये प्रार्थना करता है एवं उनको वस्त्र आभूषण इत्यादियोंसे सन्मानित करता है इसी प्रकार

जो व्यक्ति कर्मबलको जीतना चाहिये ऐसा विचार रखता हो वह पहिले देवपूजादिसत्कार्योंको करनेके लिये चतुःसंघसे प्रार्थना करें एवं चतुःसंघकी स्तुति, नमन, प्रियोक्ति, एवं दान इत्यादि यथोचित उपचारों-द्वारा सत्कार कर फिर कर्मोंको जीते ॥ ४२ ॥

विघ्नोंको दूर करनेवाला त्रिलोकमान्य होता है ।

देवधर्मगुरुभूपधार्मिकग्रामविघ्न इह येन मुच्यते ।
राजनायकजनैस्स पूज्यते स्तूयते त्रिभुवनेऽपि गीयते॥४३

अर्थ—जो मनुष्य देवविघ्न, धर्मविघ्न, गुरुविघ्न, राजविघ्न, धार्मिकजनविघ्न, ग्रामविघ्न आदि विघ्नोंको दूर करता है वह इस लोकमे राज्याधिकारियोंसे सन्मानित होता है । इतनाही नही उसकी कीर्ति बढती है, तीन लोकमें सभी उसकी प्रशंसा करते हैं ॥४३॥

लोके यथा प्रवर्तंते साधुवैद्यनृपर्षयः ।
जिनोत्सवे प्रवर्तेरंस्तथैव जिनधार्मिकाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें सज्जन, वैद्य, राजा, और मुनीश्वर अपने उपकारको गौण रखकर निस्वार्थदृष्टिसे परोपकार करते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा श्रावक जिनपूजोत्सवके कार्यमें प्रवृत्ति करें ॥४४

अद्य द्वेषकरं न विस्मर मनो मावीक्षि पात्रेक्षणे- ।
त्वन्योन्यासुहरौ द्विषद्रिपुभटास्ते मापराक्षं बहिः ॥
चिंतां मा कुरु धैर्यमेव यतनं युद्धैकचित्तो भवे- ।
त्यन्योन्यानुवदत्पट्ट इव जनाऽशांनारसदा जीवितं[?]॥४५

अर्थ—युद्धस्थानमें भयंकर द्वेषसे युद्ध करनेवाले शत्रुवोंको प्रेरणा करनेकेलिये कहते हैं कि " अरे भाई ! आज तुम्हारा शत्रु तुम्हारे हाथमें आया है उसको छोडो मत. उसे क्षमा नहीं करना, बराबर उससे युद्ध करो, बाहरकी कोई चिंता मत करो, केवल युद्धमें ही

अपना चित्त लगाओ, इत्यादि, इसी प्रकार कर्मरूपीशत्रुको जीतते समय शांत चित्तसे उसे जीतनेका उपाय करना चाहिये ॥ ४५ ॥

जिनपूजनोत्सवके लिये कौन योग्य है ?

इंद्रोऽयं भेषकोऽयं किमिह सुजनसंपूजितोऽयं द्विजोऽयं ।
विप्रोऽयं ब्राह्मणोऽयं विरचितदहनप्लावकोऽयं बुधोऽयं ।
शास्त्रात्मा इवचरित्रो द्विजनिकरसुकर्मोपदेष्टा च कर्ता ॥
शुद्धोऽयं शिक्षकोऽयं स भवति जिनपूजोत्सवे योग्य एव ४६

अर्थ—जो षोडशाभरणको धारण कर इंद्रके समान पूजाके लिये सज्ज हुआ है, पूजासामग्री लाने ले जानेकेलिये समर्थ हो, सज्जनोंके द्वारा आदरणीय हो, त्रिवर्णमें जिसका जन्म हो, पुरुषार्थोंको पूर्ण करनेमें दत्तचित्त हो, ब्राह्मण हो, स्नानसंध्या, सकलीकरण इत्यादि पवित्र क्रियाओंको जो करचुका हो, दर्शनचारित्रसे भूषित हो, त्रैवर्णिकोंको धर्मोपदेश देनेवाला हो, निर्मल विचारवाला हो, दूसरोंको शास्त्राभ्यास करानेवाला हो, वही जिनपूजा करनेकेलिये योग्य है ॥ ४६ ॥

पूजाके भेद.

भृत्यैश्च बंधुभिः पूज्यैरिद्रैर्जिनपतेः कृता ।
तामसी राजसी पूजा सात्विकी भवति ध्रुवं ॥ ४७ ॥

अर्थ—सेवकोंसे जो पूजा कराई जाती है वह तामसी पूजा कहलाती है, उसका फल न कुछ है। अपने बंधुओंसे कराई जानेवाली पूंजा राजसी कहलाती है, उसका फल अल्प है। पूज्य पुरुष जो गृहस्थाचार्य कहलाते हैं उनसे कराई जानेवाली पूजा सात्विकी कहलाती है। इससे महान् फल मिलता है ॥ ४७ ॥

दद्याद्दश फलान्याद्या परा शतफलान्यपि, ।
तृतीया स्वर्गमोक्षश्रीसंगसौख्यफलान्यरं ॥ ४८ ॥

अर्थ—पहिली तामसी पूजा दसवां भाग सदोष फल देगी, दूसरी राजसी पूजा सौवां भाग सदोष फल देगी, तीसरी सात्विकी पूजा स्वर्ग व मोक्षलक्ष्मीका संग कराकर अनंत सौख्यको देती है ॥ ४८ ॥

मुक्त्वा क्षुत्तृषमात्मनाथ समयं स्मृत्वा मनस्यासते ।
सन्नद्धाश्च धृतश्रियो नृपभटा जीवंति कांके यथा ॥
त्यक्त्वा लौकिककर्मांगिकं सुकृतिनः कार्यं तु धृत्वाग्रये ।
संतुष्टया जिनभानुनैनसतमो निर्णाशयंति ध्रुवं ॥४९॥

अर्थ—जिस प्रकार रणभूमिमें युद्ध करनेवाला वीरभट भूख प्यासकी परवाह न करके अपने स्वामिकार्यमें पूर्णतया संलग्न रहता है वही यशस्वी होता है, उसी प्रकार लौकिक व शारीरिक कष्टोंको सहन कर धर्मात्मा लोग मन में संतोष धारण कर जिनपूजादिकार्य में संलग्न रहते हैं, वे अवश्यही जिनेंद्रसूर्यके प्रतापसे पापरूपी अंधकारको नष्ट करते हैं ॥ ४९ ॥

शरीरे जिनलांछनं स्वमनसि श्रीजैनबिंबाकृतिं ।
वक्त्रे श्रीजिनसंस्तुतिं जिनपतेस्तत्त्वश्रुतिं कर्णयोः ॥
अक्ष्णोः श्रीजिनपोत्सवं दृढतरं संस्थाप्य ते धार्मिकाः ।
ध्यायंतोऽत्र जिनोत्सवेषु विमलं पुण्यं सदा चिन्वते ॥५०॥

अर्थ—पूजोत्सवमें प्रवृत्त भक्त शरीरके अवयवोंमें मानस्तंभ, चक्र आदि शुभलांछनोंको धारण कर, अपने मनमें श्रीजिनेंद्रबिंबके आकारको, मुखमें श्रीजिनस्तुति करते हुए, कानोंसे तत्त्वश्रवण करते हुए, आंखोंसे जिनपूजोत्सवको देखकर दृढचित्तसे — एकाग्रतासे श्री जिनपूजोत्सव करें तो अवश्य निर्मल पुण्यका संचय करते हैं ॥५०॥

१ अर्हद्बिंबाकृतिं चेतसि वपुषि सदा जैनलक्ष्माणि वक्त्रे ।
जैनस्तोत्राणि विभ्रम चर्वितवत्तु (?) गात्राणि जैनेंद्रपूजां ॥
संघं संवीक्ष्य तुष्टो भव भवदुरितं जीव भो नाशय त्वं ।
धर्मोपदेशसारं दृढ दृढ पव पापादयो दुरपापान्तीम् ॥

पूजामीक्षितुमेत यूयमिति चाह्वाने शयानो वदे- ।
घामोधेति चिरं प्रसुप्य पुनरुत्थायैव भूत्वा शुचिः ॥
स्थित्वार्चां कुरु मेति दूत वसंतावुक्त्वा त्वमागच्छ भोः।
लक्ष्मीलक्ष्म न कस्य लक्षणमिदं पापस्य गर्वस्य वा ५१

अर्थ—यदि किसीको किसीने पूजा देखनेकेलिये निमंत्रण दिया हो कि आप आज पूजा देखनेके लिये मंदिरमें अवश्य आवें । तब यह लेटे २ ही उत्तर देता है कि " आयेंगे " । फिर निरशंक होकर निद्रा लेता है । उठकर मलमूत्रादिसे निवृत्त होकर दूतको बुलाकर कहता है कि अरे देवदत्त ! मंदिरमें जाकर कहो मैं जबतक नहीं आवूं तबतक पूजा मत करो । मैं पूजा देखनेके लिये आनेवाला हूं । आचार्य आश्चर्य करते हैं कि यह वृत्ति श्रीमंतोंकी है अथवा पापकी है ? या गर्वकी है ? ऐसे प्रमाद आचरणसे अवश्य पापबंध होता है ॥ ५१ ॥

सद्धर्मोचितपुण्यात्संसारसुखानुभवनमितरस्यात् ॥
स्मर भज कुरु भव जहि जिनसुरुसंघं दानमप्यघं नित्यं५२

अर्थ—सद्धर्मोपार्जित पुण्यसे संसारसुख तो मिलताही है, अतींद्रियसुख भी मिलता है । इसलिये हे भव्य ! जिनेंद्रचरणको स्मरण करो । चतुःसंघकी नित्यसेवा करो । दानादि सदाचरणमें अपना चित्त लगावो । संसारमें इस आत्माको पतन करनेवाले पंच पापोंको त्याग करो ॥ ५२ ॥

संतः शाल्यन्नमिच्छंति न च मद्यं तदुद्भवं ॥
धर्ममेव यथा किंचित् किंचिन्नेच्छंति दुष्कृतं ॥ ५३ ॥

अर्थ—सज्जनलोग शालीके केवल धान चाहते हैं । उससे उत्पन्न मद्यकी इच्छा उनको नहीं रहती है । इस लिये धर्मात्मा लोग जो भी कार्य करें वह पुण्योत्पादक हो उसीको करें । पापोत्पादक कार्य की वे इच्छा नहीं करते हैं ॥ ५३ ॥

तिक्तमूलवपुःपत्रपुष्पादिश्चिभेदो यथा ॥
पक्के मधुरतां याति कश्चिदस्ये शुभाशयाः ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसका जड, लता, पत्र, पुष्प आदि सभी कडुवे हैं अपितु अंत में फल मीठा निकलता है ऐसी काकडी जिस प्रकार है उसी प्रकार कोई २ धर्मात्मा पहिले साधारण सुखका अनुभव करनेपर भी अंत में धर्म के प्रभावसे स्वर्गादिक संपत्तिका अनुभव करते हैं ॥५४॥

आस्तेऽर्कभक्तो बंधूको भास्कराभिमुखो यथा ॥
केचिदेव जिनेंद्रोक्तसन्मार्गाभिमुखास्तथा ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यभक्त बंधूक पुष्प सूर्याभिमुख होकर रहता है इसी प्रकार कोई २ भव्य जिनेंद्र भगवंतके द्वारा उपदिष्ट सन्मार्गके प्रति अभिमुख होकर रहते है ॥ ५५ ॥

वंगसेना यथोन्निद्रा लोकबांधवदर्शनात् ॥
जिनार्चालोकने केचिद्भवंति कृतिनस्तथा ॥ ५६ ॥

अर्थ—वंगसेना (हाथियावृक्ष) वृक्ष सूर्यबिंबके अवलोकनसे खिल जाता है इसीप्रकार कोई २ भव्य जिनपूजोत्सवको देखनेसे संतुष्ट होकर अपनेको धन्य मानते हैं ॥ ५६ ॥

केचित्संसारसुखिनः संसारावर्तवर्तिनः ॥
संसाराब्धितटं यांति भेका इव जलांतरे ॥ ५७ ॥

अर्थ—कोई संसारसमुद्रके तरंगमें फंसे हुए जीव संसारमें सुख है ऐसा समझकर संसारसमुद्रके तटमें जाते हैं जिस प्रकार मेंटक पानीके तल पर न जाकर तटके तरफही जाते हैं ॥ ५७ ॥

पल्यंकांदोलवाहीभारोहिणो भूभुजो यथा ॥
केचिज्जीवास्तथा भ्रश्वत्स्वर्गारोहणशालिनः ॥५८॥

अर्थ—जिसप्रकार राजा पलंग, झूला, घोडा, हाथी इत्यादि

वाहनपर चढकर आनंद करते हैं उसी प्रकार कोई जीव धर्मके प्रभावसे स्वर्गमें विमानारूढ होकर सुख भोगते हैं ॥ ५८ ॥

पूर्वं मुक्तिगतौ महाविह [?] निजज्येष्ठस्मृतेर्जीव भोः ।
स्यक्त्वा तद्गमनं क्षणस्मृतिवशात्सर्वार्थसिद्धिं गतौ ॥
तौ द्वौ पण्डुसुतानुजाविव तथा स्वान्याभिलाषौ तव ।
ध्याने स्याद्यदि पुत्रजन्मनि मृतौ पूजोत्सवेऽर्थे मह ॥५९॥

अर्थ—पाण्डवपुत्र नकुल और सहदेव मुक्ति जानेके लिये पात्र थे। परंतु जिस समय उन्होंने तपश्चर्या की उस समय एक क्षणभरके लिये शत्रुवोंकी बाधा न सहन करनेसे एवं धर्मराजका स्मरण आनेसे मुक्ति टलकर उन्हें सर्वार्थसिद्धी जाना पडा। इसलिये हे भव्य ! तुम तप, ध्यान, जन्म, मरण, द्रव्योपार्जन, युद्धस्थान एवं जिनपूजोत्सव आदि समयमें अपने चित्तको स्थिर रखो। प्रत्येक कार्यमें चित्तैकाग्रताकी अत्यंत आवश्यकता है ॥ ५९ ॥

कारुण्यार्द्रीभूतचित्ते दयालोः
क्रोधोद्रेकं कुर्वते कारयंति ।
एते सर्वे हिंसकास्संत आहु-
स्तद्व्यापारा एव हिंसाक्रियाः स्युः ॥ ६० ॥

अर्थ—करुणासे जिसका चित्त द्रवीभूत होगया है ऐसे दयालु संयमियोंके हृदयमें जो कोई क्रोधोद्रेक करते और कराते है। उनको महर्षियोंने हिंसक कहा है। क्योंकि उनका यह व्यापार हिंसा ही तो है ॥६०॥

साधूनां जनयंति चेतसि यदा हास्याभिमानारति-
क्रोधैः कामविकारशोकरतिसत्रासैर्जुगुप्सादिभिः ।
हिंसाख्यैः परुषैर्वचोभिरमले क्लेशं च ये क्षोभणं ।
वर्षाद्व्याप्तभानुवच्च किल ते पापांबुदेनावृताः ॥६१॥

अर्थ—जो मनुष्य काम, क्रोध, हास्य, रति, अरति, शोक, भय,

जुगुप्सा इत्यादिकोंकेद्वारा साधुवोंके चित्तमें विकार उत्पन्न करते हों वे जिसप्रकार वर्षाकालमें सूर्य बादलोंसे घिरा रहता है उसी प्रकार स्थिर पापोंसे घिरे रहते हैं ॥ ६१ ॥

कंदः पंकेऽम्भसोऽधो वसति पुनरसौ यस्य दण्डस्तदूर्ध्वे ।
पुष्पं पंकेरुहस्येव च सुकृतिजनो भाति पुण्यांबुनाशात् ॥
तान्नुद्दत्याशु खादंत्यपि जगति यथा जंतवो बीजपुण्या-
न्नुन्मूल्यामूलमेते बहुदुरितजुषोऽदंत्यग्रेरिता वै ॥६२॥

अर्थ—कमलका कंद कीचडमें रहता है, कमलनाल पानीके अंदर रहता है एवं पुष्प पानीके ऊपर रहता है। इसी प्रकार पुण्यवान् सज्जनोंकी वृत्ति है। जिस समय उस तालावका पानी सूख जाता है उस समय उस कमलकंदको उखाडकर दुष्टलोग उसे खाते हैं इसी-प्रकार जिस समय पुण्यात्माओंका पुण्यजल क्षीण क्षीण होजाता है उस समय दुष्ट लोग उनको जडसे उखाडनेके लिये प्रयत्न करते हैं। उनके सुखका नाश करते है, ऐसे लोग इस संसारमें घोर पापका बंध करते हैं ॥ ६२ ॥

धर्मातरायेण कृतेन विघ्नं हृद्द्वाधिगम्यैव मुनीश्वरैःके।
जैना बभूवुः सुदृशो विशुद्धा मुक्तिं गताःश्रेणिकवत्प्रयांति ॥

अर्थ—बडे २ मुनियोंके साथ जिन्होंने द्रोह किया, उपसर्ग किया या धर्ममार्ग में अंतराय किया ऐसे बहुतसे लोग पीछे उसका पश्चा-त्ताप होनेपर जैनी होगये, सम्यग्दृष्टि होकर मुक्ति गये. एवं श्रेणिकके समान जायेंगे भी ॥ ६३ ॥

गर्वं संत्यज संभजस्व नृपवद्देवं गुरुं मंत्रिव-
त्संघं तद्वत्सलवद्विरुद्धचरितं त्वं जीव भो मा कुरु ।
वैरं वंचनदुर्विवादमनघं त्यक्त्वैव वाक्यं वद ।
कारुण्यं कुरु भक्तिमेव विलसद्धर्मेऽर्चयचावह ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे जीव ! धर्मप्रभावनाकी इच्छासे सदाकाल तू गर्व छोड, राजाके समान देव की सेवा कर, मंत्रिके समान गुरु की सेवा करो, सेनाके समान संघ की रक्षा कर, इसके विरुद्ध व्यवहार मत कर, बैर, माया, वितण्डावाद मत कर, जिससे पाप न हो ऐसे वचन उच्चारण कर, सब प्राणियोंपर दया और सज्जनोंपर भक्ति रखो ॥६४॥

कश्चिद्धर्मप्रभावं रचयति कतिचित्तं निरीक्ष्येर्ष्ययाघं ।
केचित्संशुद्धभावेन च सुकृतचयं प्राप्नुवंत्युद्धदृष्ट्या ॥
पूर्णं पद्माकरं तं बहुसतृषजनो वीक्ष्य श्रांतः श्रमः को ।
मीनासक्ताशयः स्याद्विगतघनरसं वांछतीवाहसः कः ६५

अर्थ—कोई धर्मप्रभावना करता है । कोई उसे ईर्षाभावसे देखकर पापको प्राप्त करता है, कोई शुद्ध भावसे उसे देखकर पुण्यसंचय करते हैं एवं स्वर्गादिसंपत्तिको प्राप्त करते हैं । संसारमें देखा जाता है कि कोई बहुत प्यासा व्यक्ति तालाबमें पानी भरा हुआ देखकर प्रसन्न होता है । मछली पकडनेवाला धीवर तालाबका पानी सूखनेपर आनंद मानता है । इस लिये भिन्न २ भावोंसे भिन्न २ प्रकारके पापपुण्योंको यह मनुष्य अर्जन करता है ॥६५॥

स्थित्वा गत्वागत्य ये चैत्यगेहे,
वर्तंते ते स्वल्पलाभेच्छयैव ।
संस्थायास्थित्यैव मुक्त्वा गतौ द्वे,
मूढाः पुण्यं नैव किंचिल्लभंते ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो जिनालय में जाकर कभी बैठते हैं कभी इधर उधर उठकर जाते हैं । फिर आकर बैठते हैं वे लोग जिनालयमें जाकर भी विशेष लाभ नहीं लेना चाहते हैं । स्थिर चित्त से एक जगह बैठ

1 दूराध्वगा राजभृत्या जिनपूजादिदक्षिव. ।
राजभोगोचिताः कांताः स्वल्पाहाराः प्रकीर्तिताः ॥

कर जिनपूजाविधि को देखने वाले बहुत कम हैं, इस प्रकार अज्ञानीजन पुण्यसंचय नहीं करते हैं ॥ ६६ ॥

केचिद्ध्नंति जिनोत्सवं कुमतयोऽप्यस्मान्न शृण्वन्नयं-
तिष्ठतोऽत्र स तत्स्मयेन किल भो कुर्वन्महांतो वयम् ।
स्थानीये भवने वृषे वपुषि यो वैषम्यबुद्धिर्भवेत् ।
तत्कालादुपरि प्रणश्यति कृतं दानं च तत्तत्सतत् (?) ॥६७

अर्थ—कोई २ दुर्बुद्धी मनुष्य अहंकार के वश ऐसा समझने लगते हैं कि हम इतने बडे आदमी होते हुए भी इस जिनपूजोत्सवको करानेवाले व्यक्ति हमसे इस उत्सवको करानेके लिये पूछा नहीं। इस लिए इसके कार्य में विघ्न डालेंगे ऐसे दुराशय से नगरमें, घरमें धर्मकार्य में, उस के शरीरमें इत्यादि अनेक स्थानो में उस श्रावकसे वैरकर उस के उत्सव में विघ्न डालने का प्रयत्न करते हैं वे पापी हैं। उस के सर्व पुण्य नष्ट होते हैं ॥६७॥

एके विश्वपतीनसेक्ष्य दुरितं पुष्टिं वहंत्यन्वहं
त्वेके दीनतयाशनं च वसनं वित्तं सदा याचितुं ।
एके श्रावकमानसं कलुषयंत्येके शयानाः परे-
त्वेके श्रीजिनबिंबदत्तमनसः पुण्यं लभंते ध्रुवं ॥६८॥

अर्थ—जिनालयमें पूजोत्सवके निमित्त गये हुए मनुष्योंमें कितने ही श्रीमंतोंको प्रसन्न करनेकेलिये पापको कमानेमें संतुष्ट होते हैं, और कोई दीनतासे भोजन, वस्त्र, धन इत्यादिको मांगनेके लिये तत्पर रहते हैं, और कोई श्रावकोंके चित्तको कलुषित करनेमें तत्पर रहते हैं, एवं कोई प्रमादसे सोते रहते हैं। परंतु ऐसे भी कुछ लोग रहते हैं जो जिनबिंबकी ओर ही अपना मन लगाकर बैठते हैं वे नियमसे पुण्यसंपादन करते हैं ॥ ६८ ॥

एकाः स्वं च पराक्रमं व्यवहृतिं दुःखं सुखं स्वीयजं।
चाख्यात्यामयपापभोजनविधिं दृष्ट्वा स्वयोषिज्जनं ॥
पूजामीक्षितुमंतरेण समयं प्रातः पुरं स्त्रं ययुः
पातास्युर्वनिताश्च विघ्नदुरितं दत्ते न किं किं फलं ॥ ६९

अर्थ—कोई २ स्त्रियां जो महोत्सव देखने के लिए आती हैं अपने २ पक्षके स्त्रियों को देखकर उन से अपने पति के पराक्रम का वर्णन करने लगती हैं। उस के व्यवहार को कहती हैं। अपने सुख दुःखको कहती है। अपने को कोई रोग हुआ हो या कष्ट हुआ हो, उसे कहती है। या भोजनका समाचार कहती है, इस प्रकारकी स्त्रियां पूजा महोत्सव को न देखकर प्रातःकाल होते ही अपने २ गामको चले देती हैं। इस प्रकार पूजाकार्य में विघ्न डालनेवाली स्त्रियोंको पाप क्या फल नहीं देगा ? अपितु अवश्य देगा ॥ ६९ ॥

मत्सरैः परिवादनात्महसनात्मोत्कर्षणैः कुत्सनैः
दोषख्यापनभर्त्सनैः परयशोलोपात्मकीर्त्युद्भवै-
र्जैनावर्णनयोगिराड्वारिभवस्थानावमानैरन-
भ्युत्थानांजलिकाभिवादनमुखैस्सम्यग्गुणाच्छदनैः ॥७०॥
बंभ्रम्याखिलहीनयोनिषु चिरं देवादिहानेकधा-
प्युच्चयोच्चकुले जिनं वृषमयं लब्ध्वा सबोधं वपुः।
कृत्वार्चां सकलं च दानममलं पश्चात्तु पूर्वां गतिं।
गंतुं वांच्छसि जीव मा भज शमं धर्मं दयां सर्वदा ॥७१

अर्थ—इस जीवने पूर्वमें अपने मानकषायसे, दूसरोंके तिरस्कार करनेसे, हंसी करनेसे, अपने उत्कर्षकी चाहसे, मन वचन कायकी नीच प्रवृत्तिसे, दूसरों के दोष प्रकट करनेसे, दूसरोंको भर्त्सना देनेसे दूसरोंके कीर्ति लोपने एवं अपने कीर्ति चाहनेसे, जैन मुनिश्वरोंके आनेपर उनको स्थान मान देकर एवं उठकर खडे होना, प्रणाम

करना, पादस्पर्श करना आदि क्रियाओंसे आदर न करनेसे, अच्छे गुणोंको ढकनेसे, समस्त नीच योनिमें भ्रमण करते हुए दुःख उठाया है। दैवसे अनेकवार उच्चकुलको प्राप्त कर भी दुराचरणसे नीचकुलमें फिर गया है। इसलिये हे जीव! तूने अब उच्चकुलमें जन्म लिया है, लोकमें सबका हित करनेवाले जैन धर्मको प्राप्त किया है। एवं ज्ञानयुक्त शरीरको भी प्राप्त किया है। पूजा दान इत्यादि सत्कार्योंको करनेकी पात्रताभी तुम में मौजूद है इस लिये पहिलेके समान नीच गतियों में जानेकी इच्छा मत कर। शांति और दयाकी सेवा सदाकाल करते हुए अपना जन्म सफल कर ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नेदं नेदमिदं न यो न कुपितः कर्ता दिदृक्षागते- ।
न्द्रादिश्रावकमानसं कलुषयन् संक्षोभयन् जायते
स्वास्यात्तोज्ज्वलदीपवर्तिशिखया स्नेहेच्छुराखुः स्वयं॥
स्वीयान्याखिलदेहिनोऽपि दहतीत्यात्मीयगेहादिकं ॥७२॥

अर्थ—जो कोई भी श्रावक जिनपूजोत्सव को जाकर वहांपर कषायोद्रेकसे "यह वह नहीं, वह नहीं" इत्यादि कषायपूर्ण वचन कहकर इंद्र, गुरु, श्रावक इत्यादि सबके चित्तको क्षुभित करता है वह अपना तथा दूसरोंका अहित करता है। जिसप्रकार दीपकका तेल पीनेकी इच्छा रखनेवाला चूहा जलती हुई बत्तीको मुखमें लेकर जाते हुए अपने शरीरको एवं दूसरोंको जला देता है उसीप्रकार जिनपूजोत्सवके समयमें कषायके उद्रेकसे क्रोधित होनेवाला मनुष्य अपने तथा दूसरोंके हृदयमें क्षोम उत्पन्न करते हुए अहित कर लेता है ॥ ७२ ॥

कारुण्यात्मधिया शपंति न च न क्रुध्यंति निंदंति न ।
स्वद्रव्यार्थिजना इवानवरतं माध्यस्थभावं गताः ॥
नो जल्पंति न च स्मरंति सुधियो धिक्कारवाचं क्वचित् ।
स्वमत्पूहधियेव धार्मिकजना निर्विघ्नपुण्यार्थिनः ॥७३॥

अर्थ—कोई २ सज्जन जिनालयमें जाकर करुणाबुद्धिसे किसीपर क्रोधित नहीं होते हैं। किसीकी निंदा नहीं करते हैं, किसीको शाप नहीं देते हैं, अपने आत्मद्रव्यको चाहनेवाले मुनियोंके समान शत्रु-मित्रोंमें माध्यस्थभाव रखते हैं, कोई बडबड नहीं करते। बाह्य विचारोंकी चिंता नहीं करते। कभी किसीको धिक्कार नहीं देते हैं। ऐसे सज्जन धार्मिक हैं। पुण्योपार्जन करनेवाले हैं ॥ ७३ ॥

यो व्ययत्यनिशं तस्य धर्मार्थे धर्मजश्रियम् ॥
श्रीलता त्रिजगद्वृक्षमारोहति विवर्द्धना ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो अपने धर्मसे उत्पन्न धनको धर्मके लिये व्यय करता है वह अपने संपत्तिरूपी लताको तीन लोकरूपी सबसे बडे वृक्षपर चढाता है अर्थात् मोक्षसंपत्तिको प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

मिथ्यादृष्टिस्तु वेश्याजन इव सकलान्पुंस एवानुभूय।
लब्धुं देहार्थवित्तं सुखमिह सततं वर्तयन्मूर्खजीवः ॥
सम्यग्दृष्टिस्तु साध्वीजन इव गुरुदत्तात्मनाथोक्तचित्तो ॥
योगं स्पवत्वान्यचिंतो निजपतिचरणाराधनैकात्मवर्गः ॥

अर्थ—इस संसार में मिथ्यादृष्टि वेश्याओंके समान सभी मनुष्योंके साथ व्यवहार कर इस शरीरके सुखके लिये द्रव्यको कमाते हैं; एवं अपनी मूर्खतासे शरीरसुखकोही सुख समझकर पापबंध करते हैं। परंतु सम्यग्दृष्टी जीव पतिव्रता स्त्रीके समान गुरुवोंके द्वारा दिये हुए व्रतोंको पालन करते हुए अपने स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हुए इधर उधरके विचारोंको छोडकर जिनेंद्र भगवंतकी सेवा करनेमें ही दत्तचित्त रहते हैं एवं पुण्यबंध करते हैं ॥ ७५ ॥

सा दत्तेधिकृतः प्रजा स च निजाधीशस्य नैजं धनं।
स स्वामी निजभाग्यचिह्नमखिलं दत्त्वैव तं रक्षति ॥

दातेंद्राय स धार्मिकोऽत्र सकलद्रव्यं प्रदातार्हते ।
स स्वार्थी निजभाग्यचिह्नमखिलं दत्त्वा सुखं रक्षति॥७६॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रजायें राजाको कर देते समय अपने ग्राममे किसी छोटे अधिकारीको देती है। वह अधिकारी ग्रामाधिकारीको देता है फिर वह ग्रामाधिकारी अपने उपरके अधिकारियोंद्वारा राजातक पहुंचा देता है। राजा भी हितैषिता पूर्वक प्रजायोंकी रक्षा करता है। इसी प्रकार धार्मिक दाता भी संपूर्ण पूजाद्रव्यको इंद्रके (देवार्चक) पास भेजें इंद्र उन द्रव्योंको भगवान्की सेवामें अर्पण करे। इस प्रकार परम भक्तिसे जो भगवान् जिनेंद्रकी पूजा की जाती है उससे फलरूप स्वर्गादि संपत्तिरूप सुखको यह मनुष्य प्राप्त करता है ॥७६॥

हितमितसविनयवाग्भिर्दाताखिलधार्मिकोऽजस्रं ॥
शक्त्युचितधनं दत्वा कुर्यादिन्द्रस्य तस्य सत्कारं ॥७७॥

अर्थ—धार्मिक दाता हित मित मधुर व विनययुक्त वचनोंसे युक्त होकर अपने शक्तिके अनुसार धन देकर उस देवार्चकका सत्कार करें ॥ ७७ ॥

स्नानाभ्यंगविलेपनस्ववमनस्त्रक्पुष्पभूषापट- ।
श्रृंगारं वठरत्वनिष्ठुरवचः कोपांगसम्मर्दनम् ॥
तांबूलांजनदंतधावनकलातोघ्राणकंडूननं ।
भ्रूविक्षेपणकामवैकृतमिदं चैत्यालये वर्जयेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ—स्नान करना, तेल वगैरह मलना, नत्यसेवन करना, सुगंधित पदार्थोंका लेपन करना, पुष्पमाला वगैरह धारण करना, आभरण वगैरह धारण करना, श्रृंगार करना, हल्ला करना, कटुवचन कहना, क्रोधित होना, शरीर मलना, तांबूलसेवन करना, अंजन लगाना, दातुन करना, नहीं चढाया हुआ फूलको सूंघना, खुजलाना,

आंखोंके भौंएको चढाना, कामविकारसे युक्त होना, ये सब जिन मंदिरमें निषिद्ध है अर्थात् ऐसी क्रियायें मंदिरमें नहीं करनी चाहिये ॥ ७८ ॥

मात्सर्यं च मदाष्टकं च शपनं निर्भर्त्सनं धिक्कृतिं ।
निंदां दोषकरोक्तिभोजनविधिं दुःकामशास्त्रश्रुतिं ।
खट्वांदोलनसंस्थितं च शयनं निद्रां च तंद्रां कलिं ॥
रागद्वेषमनारतं स सुकृती चैत्यालये वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

अर्थ—मत्सरभाव, अष्टमद, दूसरोंको शाप देना, क्रोधभरे वचन कहना, धिक्कार देना, निंदा करना, दोषपूर्ण वचन कहना, भोजन करना, कामशास्त्रादिकका सुनना, खाट, झूला वगैरहमें बैठना, सोना, नींद लेना, आलस करना, रागद्वेष करना एवं पूजा आदिको देखनेमें चित्त लगाना यह सब जिनमंदिरमें वर्ज्य है ॥ ७९ ॥

हास्यं नर्मपदप्रसारणकरस्फोटांगसंस्कारता- ।
भ्याख्यानं करताडनं क्षुतमसत्यालापनिष्ठीवनं ॥
जृंभं कर्दनगात्रभंजनमवष्टंभं सदा पर्दनम् ।
सर्वं श्रीजिनसाधुसद्मनि नृपास्थाने यथा वर्जयेत् ॥८०

अर्थ—हास्य करना, सरस कथालाप करना, पैर फैलाना, हाथको मोडकर छुटकी निकालना, शरीरका संस्कार करना स्त्रीपुरुषोंके गुप्त रहस्यको प्रकट करना, ताली बजाना छींकना, असत्य बोलना, थूंकना, जंभाई लेना, शरीरको तोडना, लेटना, पादना आदि अयोग्य क्रियायें राजाके आस्थान में जिस प्रकार निषिद्ध है उसी प्रकार जिनमंदिर व साधुवोंके स्थानमें ये क्रियायें निषिद्ध हैं ॥ ८० ॥

राजाग्रेपि विकुर्वंते परिहसंत्याख्याति भण्डोक्तिकाः ।
खुर्दंते परिहासयंति खलु ये नीचास्त एवाखिलाः ॥
भण्डास्ते परिहासका इति जनाः संतः स्मरंत्यन्वहं ।
ये साधोस्त इवाचरंति सुजनास्तेषां सदृक्षा इति ॥८१॥

अर्थ—राजाके सामने जो विकृत आचरण करते हैं, परिहास करते हैं, उनको सज्जन लोग भाण्ड कहते हैं । ये नीचकुलमें उत्पन्न होते हैं । जो सभ्यताका आचरण करते हैं उनको सज्जन कहते हैं । इसी प्रकार जिनालय में जाकर नीचवृत्ति करनेवाले भांड ही है । नीच हैं । जिनालयमें सभ्यवृत्तिसे रहकर जिनभक्ति करनेवाले ही महापुण्य संपादन करते हैं ॥८१॥

---

१ यथा मिथ्यात्विनां नृणां गुणापातश्रुतिर्वृथा ।
तथा दुष्टसवृत्तीनां पुराणश्रवणं वृथा ॥ १ ॥
ये व्यर्थोक्तिभिरुत्कटं सदसि कोलाहलं कुर्वते ।
साधोर्दंति शमं मनोविकलता ध्याने मनोऽस्थस्थता ॥
श्रुत्वाकुप्यत एष यत्र प्रतिभिर्वीक्ष्याखिलाः श्रावकाः ॥
तान्कुप्यंति सपुण्यभक्तिचरितश्रद्धाश्च निघ्नंति ते ॥
दुष्टराजकथाकामक्रोधवृद्धिकरी कथा ।
दुःकाख्युष्यकरी साधर्विकथेत्युच्यते बुधे ॥
पत्नीं गच्छति वसतौ ताभिस्स रसं करोति संलपति ॥
तामालिंगति स पुमान् निस्वः पण्ढः सुखे च मूढः स्यात् ।
सोपानःकजना जिनालयगता गर्वात्प्रमादाच्च ये ।
जायते खलु सप्त जन्मनि सदा मातंगजातौ च ॥
सप्तश्वासगलांमयः सन्ति अजाक्षैस्तूलकस्पर्शिनः
श्वित्राद्यामयदु खिनो जिनगृहाविष्टा भवेयुर्ध्रुवं ॥
विना पूजोपकरणैः स्वस्वद्रव्याणि ये नराः ॥
स्थापयंति जिनावासे ते ते स्युः पापभूमयः ॥
जलं विना यथा सर्वद्रव्याणां जन्म भूतले ॥
स्नेहं विना निजात्मार्थपुण्यानां जननं तथा ॥

स्नेहं कुर्वन्नुत्कटं संघवर्गे शुद्धस्तस्मिन्वावगाहे निमग्नः ।
क्रुद्धाद्युन्मूलयेच दोषान् लभेत क्षेत्रे शुष्के धान्यलाभं कुटुंबी ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसान सूखे खेतमें पानी इत्यादिका सिंचन करके एवं अनेक प्रकारसे संस्कार करके धान्यकी प्राप्ति करता है उसी प्रकार धार्मिक वर्गमें उत्कट स्नेह करके उनके क्रोधादिक विकारोंको शांत करना चाहिये तब जिनपूजा करानेवाले को विशिष्ट पुण्यबंध होता है ॥ ८२ ॥

शालिः सज्जनयोगतोऽन्नमभवन्मद्यं कुयोगात्तथा ।
पथ्या पंचरसा मलापहरणे दग्धा मलग्राहिणी ॥
नाभिस्साधुसुयोगतो मृतमिव स्यात्साधुसंयोगतः ॥
सद्भावं भज साधुतां भज जिनं साधुं स्मरन्पूजय ॥८३॥

अर्थ—सज्जनोंके संसर्गसे शाली सस्यसे धान्य निकलते हैं। दुष्टोंके संसर्गसे मद्य निकलता है । पंचरस से युक्त हरडा मल को अपहरण करने में सहकारी है । उसी को यदि जलाकर उपयोगमें लाये तो मलनिरोध में सहकारी हैं । बछनाग सरीखा विष भी योग्य संस्कार करनेवाले वैद्योंको हाथ में जावे तो अमृतके समान हो जाता है । वही यदि नीचवृत्तिवालोंके हाथमें आवे तो विषके समान उपयोगमें आता है । यह सब संसर्ग का प्रभाव है । इस लिए आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले भव्य जीव सदाकाल शुभ परिणामोंमें ही अपने आत्माको लगावो, सज्जनों की संगति करो, जिनदेव, जिनमुनियों की सेवा व पूजा करो, तब तुम्हारा आत्मा उच्च बनेगा ॥ ८३ ॥

गंधांभःसुममर्हदंघ्रियुगसंस्पर्शात्पवित्रीकृतं ।
देवेंद्रादिशिरोललाटनयनन्यासोचितं मंगलं ॥
तेषां स्पर्शनतस्त एव सकलाः पूता अभोगोचितं ।
भाले नेत्रयुगे च मूर्धनि तथा सर्वैर्जनैर्धार्यताम् ॥८४॥

अर्थ—भगवान्‌के चरणमें चढाये हुए गंधोदक पुष्प वगैरह भगवान्‌के पवित्र चरणके स्पर्श होनेसे पवित्र हो जाते हैं। अत एव देवेंद्रादिके भी ललाट, मस्तक नेत्रोंमें धारण करने योग्य हैं। उनके स्पर्श करने मात्रसे ही पूर्वमें अनेक जन पवित्र होचुके हैं। इस लिये उन गंधोदक आदिको भव्यजीव सदा ललाट, नयनद्वय व मस्तकमें सदाकाल भक्तिसे धारण करें ॥ ८४ ॥

सिद्धक्षेत्रगतीच्छयैव निटिले गंधोऽर्चितो लिप्यते।
दृष्टिज्ञानविशुद्धयेऽर्चितजलं दृष्टिद्वये सिच्यते॥
ब्रह्मत्वस्पृहयैव मूर्ध्नि कुसुमं संधार्यते पूजितं।
जैनैस्तत्त्रयमेव धार्यमनिशं रत्नत्रयव्यक्तये॥ ८५ ॥

अर्थ—मोक्षस्थानको प्राप्त भगवान सिद्धों के चरणमें चढाया हुआ गंध ललाटमें इसलिये लगाया जाता है कि सिद्धस्थानमें अपना गमन शीघ्र हो। दोनों आंखोंमें गंधोदक लगानेका प्रयोजन यह है कि हमारे सम्यक्त्व व ज्ञानमें विशुद्धि होवे। मस्तकमें भगवान्‌को चढाया हुआ पुष्प धारण करनेका प्रयोजन यह है कि हमें आत्मतत्वकी सिद्धि हो, जैनकुलोत्पन्न श्रावकोंको उचित है कि सदा रत्नत्रयके प्रकट होनेके लिये उन तीनों स्थानोंमें गंध, उदक, और कुसुमको धारण करें ॥८५॥

भोगेच्छयैव नादेयं गंधांबुकुसुमत्रयं।
मुनयो मितमादेयं प्रसादं प्रवदंति तत्॥ ८६ ॥

अर्थ—भगवान्‌को अर्चित गंध, कुसुम, गंधमिश्रित कुसुम भोगकी इच्छासे कभी ग्रहण नहीं करें, भक्तिसे प्रसाद समझ कर थोडा ग्रहण करें। इसे मुनिगण प्रसाद कहते हैं ॥ ८६ ॥

शुद्धावभिषिक्तजलं सिंचेत्पूर्वांगमार्द्रमपि भूरि।
लिंपेदर्चितगंधं रक्षार्थं युधि च भूतपीडायां॥ ८७ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्तमें शुद्धिविधानके लिये गंधोदकको मस्तकसे लेकर कटीपर्यंत गीला हो वैसा सेचन करें। भूत प्रेतादिक ग्रहोंकी पीडासे व युद्धक्षेत्रसे रक्षाके लिये गंधोदकको लेपन करें ॥८७॥

दुष्टैः पीडितमानवोत्र सुमनाश्चाश्रित्य भूपं यथा।
दुष्टान्वारयितुं सुखं च सुकृतं लब्धुं त्रिधा सेवते॥
पापैः पीडितमानवोपि सुमनाश्चाश्रित्य देवं गुरुं॥
पापं वारयितुं सुखं च सुकृतिं स्वर्गापवर्गप्रदं॥८८॥

अर्थ—जिस प्रकार दुष्टोंसे पीडित मनुष्य दुःखसे बचनेके लिये, दुष्टोंको निवारण कर सुखकी प्राप्तिके लिये राजाके आश्रयमें जाता है एवं मन वचन कायसे उसकी सेवा करता है उसी प्रकार पापोंसे पीडित मनुष्य पापोंके व तज्जन्य दुःखोंके निवारणके लिये एवं सुखकी प्राप्तिके लिये देव व गुरुकी मन वचन कायसे सेवा करें, देव गुरु सेवा का फल इस लोकमेंही नहीं परलोकमें सुखप्रद है, स्वर्गादिक सुखोंको अनुभव कराकर मोक्षसुखको प्रदान करनेवाला है ॥ ८८ ॥

यो जीवान्स्वगृहस्थितान्न दयते स्वाधीनतोऽनारतं॥
तस्यांतः सुकृतक्षयस्तमखिला पापीत्युशंति क्षितौ॥
क्लिष्टश्वासजतापदग्धसुकृतः पुण्याभिवृद्धि क्रियाः।
सर्वा निष्फलतां प्रयांति बलवत्पापाभिवृद्धिः परा ८९

अर्थ—जो स्वामी अपने घरमें अपने आश्रयमें रहनेवाले द्विपदचतुष्पद जीवोंपर दया नहीं करता है वह सदा पापबंध करता है, उसके पुण्यका नाश होता है। इतनाही नहीं उसे लोकमें सब पापी ऐसा कहते हैं। दूसरे प्राणियोंको क्लेश पहुंचानेके कारण उनके आहसे उसका पुण्य जलते हैं अत एव पापकी वृद्धि होती है। स्वाश्रित जीवोंपर दया करनाही श्रेयस्कर है ॥ ८९ ॥

राजश्चक्रमवंति शत्रुहनने दक्षं यथा कार्षिकाः ।
कृष्यर्थं भृतिसुग्गृषानपि सदा रक्षंति लोके यथा ॥
सद्धर्मानुगुणं परिग्रहमिमं पात्येव तेषामयः ।
स्याद्धर्माननुकूलरक्षणविधौर्विष्टिक्रियेवाघदा ॥ ९० ॥

अर्थ— जिसप्रकार राजा शत्रुवोंसे अपनी रक्षाके लिये समर्थ सेनाका रक्षण करते हैं, किसान लोग कृषि के योग्य बैल मनुष्य आदि की रक्षा करते हैं उसी प्रकार धार्मिक गृहस्थोंको उचित है कि वे धर्म के अनुकूल परिग्रहोंकी रक्षा करें अर्थात देवकार्य, राजकार्य, गार्हस्थ्य-कार्य एवं व्यवहारकार्यको संपन्न करनेके लिये अपने कुटुंबीजनोंकी रक्षा करें, अपने आश्रित जनोंपर अनुग्रह करें, यहांतक इसी उद्देश्यसे गाय भैंस आदिको भी पालन करें, इस प्रकार पुण्यमय उद्देश्यसे किये हुए कार्यसे पुण्यबंध होता है । इसके विरुद्ध जो आचरण करते अर्थात् उपर्युक्त चार प्रकारके उद्देश विरुद्ध आरंभ करते हैं वे पापका संचय करते हैं जैसे किसीको पकडकर बलात्कारसे उससे कार्य कराना पापके लिये कारण होता. है ॥ ९० ॥

ग्रंथपुरदेशसैन्यं यस्य भवेन्नानुकूलमपि तस्य ।
पुण्यं न नार्थलाभो यशो न भूतिर्न हानिरातिभीः स्यात् ॥९१

अर्थ—जिसके लिये परिग्रह, पुर, देश, सेना आदि प्रतिकूल है उसको पुण्यकी प्राप्ति नहीं, अतएव सुख नहीं, द्रव्यलाभ नहीं, यश की प्राप्ति नहीं, ऐश्वर्यकी उसे प्राप्ति नहीं होसकती, प्रत्युत उनसे उसकी हानि होती है और अतिशय भय उत्पन्न होता है। इसलिये इन सबको अपने अनुकूल बनानेसे गृहस्थजीवन सुखमय होता है ॥९१॥

ग्रंथः पापागतस्तस्मो निस्वनोऽनन्नतोऽनिशं ।
क्रोधाग्निभ्रष्ट आदत्तं शुक्तिद्रव्यं स्वकर्तृतः ॥ ९२ ॥

शत्रुणा पीडित इव ग्रंथस्तं पीडयत्यलं ।
स निस्वद्वृद्धवद्याति तस्य लक्ष्मीर्निरेत्यरं ॥ ९३ ॥

अर्थ—पापोपार्जित परिग्रह, रोगोंसे, दरिद्रोंसे, भूखेसे, क्रोधित होकर अपहरण किया हुआ द्रव्य सदा वर्जनीय है। वह परिग्रह शत्रुके समान पीडा देनेवाला है। वह यदि श्रीमंत होनेपर भी पापोदयसे उसके पाप से दरिद्री वृद्धको तरुण स्त्री जिस प्रकार छोडकर चल जाती है उसी प्रकार लक्ष्मी उसको छोडकर चली जाती है ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

गोवर्गरक्षिविधिदुर्बलकार्पिका स्यात् ।
ज्ञात्वेव नोऽघमिति कस्य सुरक्षरक्ष,
उक्त्वेति तं प्रवितरंति यथाश्रितानां ॥
त्राणासमर्थनृपतेऽस्खलु मुंच शीघ्रं ॥ ९४ ॥

अर्थ—जो किसान बहुत दयासे युक्त होकर गाय आदिकी रक्षा करता है एवं उनको हरतरहसे सम्हालता है, वह जब उनकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाय तो उस समय उन प्राणियोंको भूखे मारने इत्यादि में पाप होता है ऐसा समझकर उसे किसीको दे देता है परंतु देते समय, इतना जरूर कह देता है कि इसको अभी तक मैं बहुत प्रीतिसे पालन पोषण कर रहा था, अब असमर्थ होनेसे तुमको सौंप रहा हूं इसलिये तुम इसकी अच्छी सम्हाल करना, इसे कोई कष्ट न होने पावे। ठीक इसी प्रकार अपने आश्रित जनोंकी रक्षामें असमर्थ राजा उनको रक्षा करनेकी प्रेरणा करते हुए दूसरोंको सौंप देवें। यह भी अभयदानही है ॥ ९४ ॥

भूपा भुवं पांति त एव संतस्तानेव लोकाद्धते सदैव ।
भूपालशब्दस्य निरुक्तिरुक्ता वीक्ष्यावबुध्यार्थमलं वदेत्तां ९५

अर्थ—इस पृथ्वी में रहनेवाले जीवोंको न्यायनीतीसे जो रक्षा करते हैं वे ही भूप कहलाते हैं। वे ही सत्पुरुष हैं। वे सत्पुरुषोंका

एवं उत्तम पात्रोंका सदा आदर करते हैं इसलिये उनको भूपाळ कहा है। इस प्रकार भूपाल शब्दकी निरुक्ति है। इस बातको समझकर राजावोंको अभयदानके पालन करनेका आदेश दिया गया है ॥९५॥

एतेषां तु दुरर्थिनामघवतामापत्तिभाजां नृणां।
दत्वा भीतिकरं विलिख्य लिखितं पत्रं वचः संपुटं ॥
मा भैषीर्गणकैः पुरोऽपि जगतामुक्त्वा कृतप्रत्ययः।
सद्यद्याखिलमोघवाक्स च यथा लोको यथा वर्तते ॥९६
सामोघोपि तथा तथा विकुरुते द्रव्यातिकांक्षयेन स।
हृत्वा तद्रविणं यदा तदाखिलं निर्विश्यते तेन सा,
क्ष्वेडान्नात्सरतीव जंतुरमला लक्ष्मीर्निरेति क्षणात् ॥
तस्माद्दुःखकरक्रियातिचतुरैर्भव्यैःस्समालोच्यताम् ॥ ९७

अर्थ—जो दीन, पापी, संकटग्रस्त मनुष्य हैं उनका भय दूर करना चाहिये। तथा उनको लिखकर और बोलकर अभय देना चाहिये। अर्थात् तुह्मारा भय मैं दूर करूंगा ऐसा वचन कहकर उनको संतुष्ट करना चाहिये। परंतु ऐसा अभयवचन देकर भी यदि वह रक्षण नहीं करेगा। द्रव्यके लोभसे संकटग्रस्तोंका धन छीन लेगा और उसको उपभोग लेगा तो लक्ष्मी उस राजाके पास न रहकर अन्यत्र जायगी। जैसे विषसे प्राणी दूर भाग जाता है इस वास्ते प्राणिओं को दुःख देनेवाले कार्य छोड देना चाहिये। हे भव्य हो आप इनका खूब विचार कर ऐसे कार्योंका त्याग करो ॥९६ ॥ ९७॥

चित्ते सज्जनि पत्तने स्वविषयेऽपुण्यस्य यस्यान्वहं।
दुर्भावोऽशनपीडना बहुविधा वृत्तिर्भवेन्मारकी ॥
दुष्टायत्तविधिर्जनः सुजनता रोहयते क्लिश्यते।
लक्ष्मीनिर्गमनाय लक्षणमिदं संतो जगुस्तस्य हि ॥९८॥

अर्थ—जो राजा पुण्यहीन होगया है वह अपने दुर्भावके वशी-

भूत होकर अपने चित्तमें, महलमें, नगर में एवं अपने देशमें सदा काल प्राणियोंको कष्ट पहुंचाता रहता है। अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये उन आश्रितजीवोंको अनेक प्रकारसे पीडा देता है यह नारकी वृत्ति है। इस प्रकारकी दुष्टवृत्तिसे सज्जनलोगोंको हरतरहसे कष्ट पहुंचाया जाता है। सज्जन लोग ऐसे राजासे घृणा करते है। यह सब राजाके ऐश्वर्य उसके हाथसे जानेके चिन्ह हैं ॥ ९८ ॥

नाहं त्वं दुष्कृतोऽहं बहुसुकृतफलस्त्वंनृपोऽहं कुचारी।
त्वं दाता याचिताहं त्वमरिकुलभयो भीतिरक्षो बुधस्त्वं ॥
स्तुत्यःस्तोता विवेकी त्वमहमपि जडः श्रावणीयः सुवक्ता।
त्वं स्वामी सेवकोऽहं त्वमिह भज निजां पुण्यवृद्धिं क्षितीश॥९९

अर्थ—अपने रक्षक राजाको अभयदान पालन करनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा करें कि हे राजन्! तुम पुण्यवान हो, मैं पापी हूं, तुम बहुतसे अच्छे आचरणोंको पालते हो, मैं दुराचारी हूं, तुम दाता हो, मैं याचक हूं, तुम शत्रुओंको भय उत्पन्न करनेको समर्थ हो, मैं भयभीत होने योग्य हूं, मैं मूर्ख हूं, तुम बुद्धिमान् हो, तुम स्तुतिके योग्य हो, मैं स्तुति करनेवाला हूं, तुम विवेकी हो, मै अविवेकी हूं, तुम सुवक्ता हो, विशेष क्या? तुम स्वामी हो मैं सेवक हूं, तुम रक्षक हो मैं रक्ष्य हूं। इसलिये मेरी रक्षा करना तुम्हारा धर्म हैं। हे राजन्! तुम्हारा कर्तव्य पालन कर तुम यथेष्ट पुण्य संपादन करो ॥ ९९ ॥

धर्मागसां शुभान्येव कर्माणीश विशंति न।
यथा संयमिनश्चैतेष्वारिष्टांदिशवाल्यान् ॥ १०० ॥

अर्थ—जिस प्रकार संयमीजन जिस घरमें कुत्ता घुसगया है, जहां प्रसूति होगई है, कौआ जिस घरमें घुसगया है, चाण्डालने जिस घरमें प्रवेश किया है ऐसे घरमें प्रवेश नहीं करते हैं उसी प्रकार धर्मापराधी अर्थात् देवधर्म और राजधर्मके विरोध में चलनेवालोंके घर शुभ क्रिया

व लक्ष्मी ये दोनों प्रवेश नहीं करती है। शुभाचरण करनेवालोंको देखकरही लक्ष्मी उनके घर जाती हैं, प्रत्युत ऐसे दुराचारी अशुभ क्रियावोंसे दरिद्रीही बनते हैं ॥ १०० ॥

सहस्रजनभोगेऽपि वंध्यायां न तुजो यथा ।
तथा पापात्मके पुंसि, नोद्भवंति शुभक्रियाः ॥ १०१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार हजारो आदमियोंके संभोग करनेपरभी वंध्याको संतानोत्पत्ति होती नहीं इसी प्रकार पापी मनुष्योंमें किसीभी प्रकार शुभाचरण उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १०१ ॥

सात्मवपुः शुद्धमिदं मलीमसं विमलमाहुरेवार्याः ।
स्याच्चदपुण्यं शवमिव विबुधैरधिगम्य वह्निदग्धं तैः १०२

अर्थ—पापक्रियावों से पापबंध होता है, मनुष्यको पुण्यकर्मसे सब कुछ प्राप्त होते हैं। इस शरीर में जबतक आत्मा रहता है तबतक मलिन होनेपरभी पवित्र माना जाता है। कोई उसे स्पर्श करनेमें घृणा नहीं करते हैं। परंतु जब पुण्यहीन होनेसे उससे आत्मा निकल जाता है तब यह शरीर अस्पृश्य माना जाता है एवं जिस शरीरको हम बडा आदर करते थे उसीको जलाते हैं। यह क्या? यह सब पुण्यपाप कर्मोंकी महिमा है। इसलिये मनुष्यको सदा पुण्यके साहचर्य प्राप्त करना चाहिये ॥ १०२ ॥

तातं स्वामिनमुत्तमार्यमनुजं जामातरं मातरं ।
मातारं बुधमिष्टसेवककुलज्येष्ठं गुणं वल्लभां ॥
मित्रं स्वामिवलं स्वबान्धवजनं जैनं जनं धार्मिकं ।
यः स्यान्निंदति तस्य चायुरयशःश्रीस्थानवंशक्षयः ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने पिता, गुरु, स्वामी, उत्तम सज्जन, जमाई, माता, विद्वान, इष्ट सेवक, कुलगुरु, भाई, अपने स्त्री, मित्र, स्वामि, सेना

अपने बंधुजन, धार्मिक, इत्यादि को निंदा करता है उसकी आयु, यश संपत्ति, स्थान इतनाही नहीं वंशका भी नाश होता है ॥ १०३ ॥

सर्वज्ञं परमागमं जिनमुनिं दोषव्यपेतं व्रतं ।
यद्गोत्रं च गुरुं च निंदयति यो द्रव्यं च देवस्य यः ॥
आवत्ते द्विजबालगोत्रजहतिं योऽसौ कुतर्कं करो- ।
स्यल्पायुर्नरकादिदुर्गतिरभाग्यं तस्य सत्यं भवेत् ॥ १०४

अर्थ—सर्वज्ञ तीर्थकर, परमागम शास्त्र, तीर्थकरोंके प्रतिकृति ऐसे जिनमुनीश्वर, दोषरहित चारित्र एवं सद्गोत्र, गुरु इत्यादिकी निंदा करता है एवं जिनमंदिर आदिके उपयोग में आनेवाले देवद्रव्यको जो अपहरण करता है, ब्रह्महत्या, बालहत्या व अपने बंधुहत्या जो करता है, एवं समीचीन विषयमें कुतर्क कर विसंवाद उपस्थित करता है वह अल्पायुष्यवाला होता है, एवं परभवमें नरकादि दुर्गतीमें जाकर दुःख भोगता है । एवं पुण्यहीन होता है इसमें कोई भी संदेह नहीं है ॥ १०४ ॥

ये घ्नंति तेजांसि नृपाश्च येषां तेषां क्षयेत्सूर्यगिरींदुवत्तत् ।
निस्तेजसो दुःखमयंति सद्यः श्वाघ्यंतगा भूरि यथा शशाद्याः

अर्थ—जो राजा दूसरों के तेजको नष्ट करना चाहते हैं उनका तेज भी उदयाचल में प्राप्त चंद्रमाके समान निस्तेज बन जायगा, जिस प्रकार कुत्ते वगैरह पशुओंके बीचमें फंसे हुए खरगोश इत्यादिका जीवन संकटमय रहता है इसी प्रकार उस मत्सरी राजाका भी जीवन सदा संकटापन्न समझना चाहिये ॥ १०५ ॥

विप्रादिजनहिंसैव यस्य देशे च वर्तते ।
तस्यावासः पुरं देशो लक्ष्मीरन्यं समाश्रयेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जिस राजाके राज्य में ब्रह्महत्या आदि हिंसात्मक प्रवृत्ति

होती हो उस राजाके महल, नगर, देश व संपत्ति अवश्य उसको छोडकर अन्यराजाके आश्रय करते हैं ॥ १०६ ॥

द्रव्यमेकमिदं सर्वं स्याच्छुभाशुभसूचकं ।
वाद्यध्वनिरिवाभाति स्याच्छुभाशुभसूचकः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वाद्यकी ध्वनि विवाहादि मंगलकार्यों में शुभ सूचक है और शवविहारादि में अशुभसूचक है उसी प्रकार यह संपत्तिका सज्जनों के हाथमें जानेसे शुभकार्यों में विनिमय होता है एवं नीचोंके हाथमें जानेसे अशुभकार्योंके उपयोगमें आता है ॥ १०७ ॥

दत्तं संप्रार्थ्य वित्तं विरचयति तयोरादरेणोभयोस्स- ।
त्पुण्यं सौख्यं सकोपं विफलकरमिदं चौर्यतो मूलनाशं ॥
यद्द्रव्यं वंचनेनार्जितमिदमदनं भूरिद्रव्यार्जितं चे-
त्तद्रूप्यं च नश्येद्व्यवहृतिरिपुचौर्याधमर्णाग्निभूपैः ॥ १०८

अर्थ— जो कोई दीन आकर विनयसे धार्मिक दानीसे द्रव्य की याचना करे उस समय वह दयासे उसे इच्छित पदार्थको देवें तो उसमें दोनोंको मानसिक सुख होता है, दोनोंको पुण्यकी प्राप्ति होती है । यदि याचना करनेपर क्रोधित होकर देवें तो उस दानका फल व्यर्थ होता है । चोरी करके दान देवें तो मूलद्रव्यको भी लेकर जाता है । दुनियाको धोका देकर यदि कमाया हुआ द्रव्य हो तो वह दरिद्रताको प्राप्त करता है, यदि धन प्राप्तकर फिर गर्व करे तो वह धन व्यवहार, शत्रु, चोर, नीचोंका ऋण, अग्नि, दुष्टराजा इत्यादि कारणसे नष्ट होगा ॥ १०८ ॥

यः स्यादागतवंतमन्यविषयाद्वीरं च वीरं नृपं ।
वैद्यं ज्योतिषिकादिसर्वमनुजान्निष्कासयन् मारयन् ॥
तस्यैतद्धनमाहरन् कलुषयन् शीर्षाङ्गुलिन्यासनं ।
धिक्कारं खलु कारयन्नभयदानायुःकुलादिक्षयः ॥१०९॥

अर्थ—दूसरे देशसे पीडित होकर आये हुए वीर भटोंको, वीर राजाओंको, चिकित्सा प्रवीण वैद्योंको, ज्योतिषियोंको, एवं और भी मनुष्योंको अपने राज्यसे मारकर एवं उनके धन अपहरण करते हुए उनके चित्तमें संक्लेश उत्पन्न कर इतनाही नहीं उनको अनेक प्रकारसे धिक्कार देकर निकालता है वह राजा अत्यंत पापी है। अनंत गुणोंको देनेवाला अभयदान उसका नष्ट होता है। उसके आयुका क्षय होता है, वंशसंतति इत्यादि सबका क्षय होता है ॥ १०९ ॥

विघ्नस्त्वभयदानस्य शत्रुपातितसालवत् ।
तटाकभेदवन्मुख्यमर्मास्त्रक्षतवद्भवेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—अभयदानमें विघ्न डालनेका फल इस प्रकार दुःख देता है कि जैसे कोई किलेको शत्रु आकर घेरे, अथवा भरा हुआ तालाब फूटे उस प्रकार अथवा मर्मस्थानमें लगा हुआ अस्त्रके समान, अर्थात् अभयदानमें विरोध करनेसे महान् दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ११० ॥

त्वद्राष्ट्रनगरं विभुं ददासि रिपवे गात्रं स्वयं भूपया ।
न्यूनं जातमशेषमेकविलये भृत्यप्रजानां न सः ॥
नाशं वेत्सि जिनोत्सवस्य कुरुषे किं नुनमेतेन से ।
स्वस्थानत्रयवर्जनं तव त्रिवर्षाभ्यंतरे स्याद्ध्रुवं ॥ १११ ॥

अर्थ—हे राजन् ! तुम तुम्हारे राज्य, तुम्हारे नगर में स्थित सेवक वगैरह की शत्रुओंसे रक्षा करने के लिए अपने प्राणोंतकको देनेके लिए तैयार होजाते हो, एवं अपने परिवारके नष्ट होनेपर सब कुछ नष्ट हुआ ऐसा समझते हो ऐसी अवस्थामें जिनोत्सव आदि में विघ्न आनेपर उसको दूर करनेका कार्य तुम्हारा नहीं है ? । उसमें न्यूनता आनेसे तुम्हारे कार्यमें न्यूनता नहीं है ? धर्ममें हानि होनेपर तुममें व तुम्हारे राज्य में हानि होती नहीं क्या ? धर्ममें हानि पहुंचनेपर तीन वर्षके अंदर ही तुम्हारे राज्य नगर देशके परिवारका नाश होगा । इसलिए

अन्य प्यारे पदार्थोंके समान धर्मको भी प्राण जानेपर भी उसमें हानि नहीं पहुंचने देना चाहिये ॥ १११ ॥

ये कुर्वंति जिनोत्सवेष्वसरला विघ्नं दिदृक्षागतां-।
स्तनिंद्रानपि संघसेवकजनानन्यांस्तिरस्कुर्वते ॥
छिन्नास्ते जिनधर्ममात्मसुकृतं स्वर्गापवर्गप्रदं ।
तेषां स्त्रीसुतमित्रराज्यविभवच्छेदोऽपि संजायते ॥११२॥

अर्थ—जो कुटिल श्रावक जिनपूजाको देखनेके लिए जिनमंदिरमें जाकर जिनपूजामें विघ्न डालते हैं, एवं जिनपूजा देखनेकी इच्छासे आनेवाले श्रावकोंको विघ्न डालते हैं, एवं इंद्रके समान रहनेवाले पुरोहितोंको उनके कार्यमें विघ्न डालते हैं, एवं चतुःसंघकी सेवा करनेवाले धर्मात्माओंको बाधा पहुंचाते हैं एवं अन्यस्थानीय श्रावकोंका तिरस्कार करते हैं वह अपने धर्म, स्वर्ग मोक्षको देनेवाले निर्मल पुण्य इत्यादि सबका तिरस्कार करते हैं ऐसा समझना चाहिये अर्थात् उनको तीव्र पापबंध होता है। एवंच उनके स्त्री, पुत्र, धन, मित्र, राज्यादिवैभव आदि सब इसी पापके कारणसे नष्ट होते हैं ॥ ११२ ॥

देशे नष्टे धनसुखसदस्त्रार्थनाशो भवेद्वा ।
स्थानीये स्यात्स्वबलतनुवस्त्रावरोधादिनाशः ॥
श्रुत्वा दृष्ट्वा रिपुजनहतं राज्ञि तूष्णीं स्थितेऽस्मिं ।
धर्मोत्साहे तमधिपहते (?) सर्वनाशस्त्रिवर्गात् ॥ ११३ ॥

अर्थ—राजा यदि शत्रुओंके द्वारा देशके नष्ट होनेकी बात सुनकर चुप रहता है अर्थात् प्रतीकार नहीं करता है उस अवस्थामें उसके देशके समस्त द्रव्य नष्ट होंगे। यदि अपने स्थानीय राजधानीको शत्रुओंने आकर घेर लिया उस अवस्थामें वह चुप रहेगा तो शत्रुसेना आकर उसकी सेना वगैरह को वशमें करलेगी। इतना ही नहीं उसके सब राज्यसंपत्तिको छीनकर अंतःपुरमें रहनेवाली रानियोंको भी बिगा-

डेगी। एवं धर्मकार्यमें विघ्न आनेपर, धार्मिक मार्गमें संकटके उपस्थित होनेपर चुप रहेगा तो उसका तीन वर्षके अंदर सर्वनाश होजायगा। राज्य नगर देशके समान धर्मकी रक्षा करना भी राजाका धर्म है॥ ११३॥

हत्वा धर्ममहोत्सवं जिनपतेर्बिंबं च चैत्यालयं,।
पश्चात्कारयतीह तं च तदनु यो राट्क्रुधस्तस्य च॥
नो देशाधिपता भवेत्पितृमृतिः पुत्रस्य वर्षत्रयात्।
निर्विघ्नं नियमेन सा भुवि ततः षड्वत्सराभ्यंतरे॥११४

अर्थ—जो राजा क्रोधित होकर जिनधर्मप्रभावनाके कार्य में विघ्न डालता है, एवं जिनमंदिर, जिनबिंब आदि विनाश करता है एवं फिर उस मंदिरको बंधवाकर बिंबप्रतिष्ठा करता है वह तीन वर्षके बाद राज्यच्युत होता है। एवं च तीन वर्षके बाद उसका मरण भी होगा। परंतु उसने पुनः जिनमंदिरादि बांधकर धर्मप्रभावना की जिस से उसके पुत्र छह वर्षके अंदर पुनः उस राज्यको प्राप्त करलेगा॥

यत्र यत्र जिनबिंबभंजनं यः करोति खलु तस्य हानयः॥
तत्र तत्र मरणे महाव्रणाः संभवन्ति क्रिमिदुष्टगंधिनः॥

अर्थ—जो कोई मनुष्य जहां जहां जिनप्रतिमाका नाश करता है वहां मरणके समय जिनबिंब नष्ट करनेवालेके शरीर में दुर्गंध कृमि उत्पन्न होंगे॥ ११५॥

जिनधर्मोत्सवमंदिरबिंबहृतेरेव भूपतेः सा लक्ष्मीः।
धावति नश्यति नगरं मरणं वर्षत्रयांतरे स्यादरिणा ११६

अर्थ—जिनधर्मोत्सव, मंदिर, जिनबिंब,इनके नष्ट करनेसे राजाकी लक्ष्मी उसको छोडकर भाग जाती है, उसका नगर नष्ट हो जाता है इतनाही नहीं शत्रुके द्वारा उसका मरण तीन वर्षके अंदर अवश्य होगा॥ ११६॥

काले यस्य हतो महो न सुकृतस्तेनान्यतो वार्हत- ।
स्तस्याब्दत्रयतो न चाधिपतिता द्विड्भिः स्वकीयैरघैः ॥
मृत्युः स्यान्न च सा सुतस्य कुलजस्यात्मीयभृत्यस्य वा ।
शत्रोर्धर्मविनाशकस्य खलु तद्वशस्य साप्यास्थिरा ॥११७

अर्थ—जिस राजाके आधिपत्यके समयमें जिनधर्मोत्सवमें विघ्न डाला गया, उस अवस्थामें राजा उस विघ्नको दूर करनेके लिये उत्साहित न हो वह पुण्यहीन हो जाता है एवं इस पापके उदयसे तीन वर्षके अंदर राज्यच्युत हो जायगा। इतना ही नहीं अपने तीव्रपापोंसे शत्रुओंके द्वारा वह मरण भी पावेगा, एवं उसके पुत्र, कुलोत्पन्न या निकट सेवक आदि किसीको राज्यारोहण करनेका भाग्य न मिलेगा। जिस प्रकार उसकी वह संपत्ति नष्ट होनेवाली है उसी प्रकार जो शत्रु धर्ममें बाधा पहुंचाता है उसकी भी संपत्ति नष्ट होगी। धर्मप्रभावनाके कार्यमें जो विघ्न डालेंगे उनका कभी हित नहीं हो सकता ॥ ११७ ॥

स्वामिद्रोही क्षयेदाशु तस्य शांतिर्न सर्वथा ।
पीतौषधं विरेकाय बद्धकृच्छगुदे यथा ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो स्वामिद्रोह, गुरुद्रोह, मित्रद्रोह, धर्मद्रोह आदि करता है वह पापके उदयसे शीघ्र नष्ट भ्रष्ट होगा। उस पापीके लिए कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। जिस प्रकार जुलाबके औषध लेनेवाला मनुष्य कांचको जोरसे बांध लेवे तो भी कोई उपयोग नहीं उसी प्रकार ऐसे पापीको कोई मार्ग श्रेयस्कर नहीं हो सकता ॥ ११८ ॥

अन्यार्थोऽप्यद इत्युशन्ति विबुधा हर्तुर्बलादाहृत-।
स्तित्क्तार्कं च पयो यथा व्रतिगुरुस्वार्थोऽम्लदुग्धं यथा ॥
देवार्थो विषवत्स्वभाग्यविषयग्रंथार्थ सेनादिक- ।
ध्वंसी मस्त्विह कृष्णपक्षशशिवन्निर्वाणमेति ध्रुवम् ॥११९॥

अर्थ—दुसरे का धन जो हरण करता है उस को पातक उत्पन्न

होता ही है । देव के धन का हरण करना विषके समान है । वह अपना भाग्य, परिग्रह, धन सेना वैगरह का शीघ्र नाश करता है । तथा कृष्णपक्षके चंद्रसमान स्वयं भी नष्ट होता है ॥ ११९ ॥

जिनार्चार्थे मदर्थे हीनत्वं यः करोति चेत् ।
तस्य भाग्यस्य पुण्यस्य हीनत्वं सर्वथा भवेत् ॥ १२० ॥

अर्थ—जिनपूजाके लिए दिए हुए द्रव्योंसे कुछ अपने लिए लेकर कुछ जिनपूजाको जो कोई देता हो उसका भाग्य व पुण्य दोनोंको अवश्य नाश होता है ॥ १२० ॥

येन ग्रामधनं जिनस्य च हृतं स्वल्पाय वह्वर्थदं ।
क्रीतं दण्डितवंचितं त्वपहृतं त्र्यब्दांतरे त्र्यंतरे ॥
तस्य स्यात्स्वविरोधताप्यपयशो तेजोभिमानक्षयो ।
मृत्यु स्फुच धनव्ययोऽप्र विफलास्तास्ताःकृता याः क्रियाः ॥

अर्थ—जो कोई जिनमंदिरके लिए अर्पित ग्राम व धनको अपहरण करता हो, एवं बहुत कीमतके थोडे कीमतमें खरीदता हो, जुर्मानेके रूपमें लेता हो, धोका देकर लेता हो, अथवा और किसी तरह अपहरण करता हो उस पापी व्यक्तिको उसके तीव्र पापोदयसे तीन घडीके अंदर तीन प्रहरके अंदर, तीन दिनके अंदर, तीन पक्षके अंदर, तीनमास के अंदर, तीन अयनोंके अंदर, अथवा तीन वर्षके अंदर अपने बंधु मित्र भार्या पुत्र इत्यादिसे वैर विरोध अवश्य होगा । लोकमें उसका अपवाद होगा, उसका तेज घटेगा, उसका धन नष्ट होगा, उसका मरणभी हो सकेगा विशेष क्या ? वह जो कुछ भी क्रिया करें उसमें उसको सफलता नही मिलेगी ॥१२१॥

पीतं येन विषं च तस्य सकलान्यंगानि पंचेंद्रिया- ।
ण्यंगं बुद्धिरियं च वित्तमभवन्नन्यानुकूलानि वा ॥

धर्मद्रव्यविषं हृतं प्रकुरुते दंदह्यमानालये ।
द्विड्भूपावृतभूपतेः पुरि यथोत्पातास्तदास्युश्च तान् ॥१२२॥

अर्थ—जो मनुष्य विषभक्षण करता है उसका सर्व शरीर, इंद्रिय, बुद्धि, चित्त आदि सर्व विषमय हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिन मंदिरके धनरूपी विषको ग्रहण करता है वह मनुष्य पापके उदय से दुःखी होता है उस की अवस्था ऐसी होती है जैसा आग लगे हुए घर में फंसे हुआ मनुष्य की, अथवा शत्रुओंके द्वारा घेरा गया है राज्य जिस का ऐसे राजाके समान एवं अनेक प्रकार के संकट ऐसे पापी को उपस्थित होते हैं ॥ १२२ ॥

भित्वा देवपुरमविष्टजनमाहृत्य प्रसह्यापि ये ।
तेजोवद्बुधमान्यपौरमपि संगच्छंति तेषां पुरं ॥
देशो नश्यति राट्स्वयं च बहुधोत्पातेन नाशं गतः ।
सर्वं वस्तु धनादिकं च विलयेन्निष्कारणं दोषतः ॥१२३

अर्थ—जो दुष्ट राजा जिनमंदिर इत्यादि देवस्थानोंको फोडकर उनके उन्नतिको सहन न कर उनके धन आदिको अपहरण करते हैं एवं उस नगर में रहनेवाले विद्वान्, वीर, वैद्य इत्यादि सज्जनोंको कष्ट देते हैं, उन दुष्ट राजाओं का इस पापसे राज्य नष्ट होता है । राजा स्वयं अनेक प्रकारके उत्पातों से नाशको प्राप्त होता है, इतना ही नहीं उसके संपूर्ण ऐश्वर्य अकारण नष्ट होते हैं ॥ १२३ ॥

दत्वाल्पार्थं धर्मवप्रं गृहीत्वा धान्याद्यर्थं लब्धुकामः कुटुंबी ।
अज्ञत्वात्मद्रव्यनाशात्क्षुधार्तो जेपालोत्थं बीजमश्नन्निवोर्व्या ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अल्पद्रव्य देकर मंदिरके ग्राम, खेत आदिको खरीदता है, क्योंकि उसे उन खेतोंसे धान्य इत्यादि मिलनेकी आशा है, परंतु वह यह नहीं जानता कि उसको लाभसे अधिक हानि होगी वह व्यक्ति मूर्ख है । भूख लगनेपर जेपालबीज (विष) को खानेवाला

जिस प्रकार दुःखी होता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी दुःखी होता है ॥ १२४ ॥

कथं चिदेकं पणमर्जयित्वा सवृद्धयेऽदाद्धनदस्य दीनः ॥
मूलं न वृद्धिर्न वचो निशम्याक्रोशन्ति पापाय च पीडयंति ।

अर्थ—बडे कष्ट से दीन आदमी थोडासा धन कमाते हैं। तथा श्रीमानके पास सूद के लिए वह धन रखते हैं परंतु कितनेक दुष्ट धनिक मूलधन भी देते नहीं तथा सूद भी देते नहीं उन का यह दुर्व्यवहार देखकर दीन आदमी दुःखमें आक्रोश करते हैं। ऐसे कार्यसे श्रीमान् लोक पापके भागीदार बनते हैं ॥ १२५ ॥

योऽत्र स्वाश्रितजीवयुग्ममदयन्दत्वोचितार्थान्सदा ।
विष्टिं कारयतीव गोपशुनरैःकार्यं कृतं कारितं ॥
सर्वं नश्यति तस्य तेन फलति क्षेत्रं न सर्वं कृतं ।
नैष्फल्यं भवतीत्यवेत्य सुकृती सर्वानलं पीडयेत् ॥१२६॥

अर्थ—किसान यदि अपने आश्रित द्विपद और चतुष्पद जीवोंको अन्न वस्त्रादिकको देकर रक्षा नहीं करता है तो उसके किया हुआ, कराया हुआ खेत वगैरह सब नष्ट होते हैं। एवं धान्य वगैरह समृद्धरूपसे उत्पन्न नहीं होंगे। इसी प्रकार जो स्वामी अपने आश्रममें रहनेवाले द्विपद चतुष्पद प्राणियोंके प्रति दया नहीं करता है, उनकी रक्षा नहीं करता है उसके संपूर्ण कार्य व्यर्थ होते हैं उसको किसी भी कार्यमें सफलता नहीं मिलती है ॥ १२६ ॥

[1]शैलूषबिंबमिव कायकृतं च सर्वं ।
चेतोविना तनुवचःकृतकर्म सर्वं ॥

---

१ भुक्तमपथ्यमनग्नेरसद्यः संपद्यते यथा रोगः ॥
कृतदोपार्जितवित्तं प्राणानमं च हंति सद्यो यत् ॥

वह्निं विनैव बहुचर्वितवाजवान्स्या- ।
त्पीडां च वाथ मरणं खलु याति जीवः ॥ १२७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार डोंबारी खिलौनेका खेल विना मनके होनेसे उसका कोई उपयोग नहीं इसी प्रकार भावरहित कायकी चेष्टा आत्मकल्याणके लिए कोई उपयोगी नहीं हैं। उदरमें अग्नि तेज न हो फिर पौष्टिक आहारोंको ग्रहण करे तो वह रोगादिबाधाको उत्पन्न करने वाला है एवं कदाचित् मरणका भी कारण बन सकेगा । इसलिये आत्माका परिणाम शुभाशुभक्रियामें मुख्य आवश्यक है ॥ १२७ ॥

नें व्ययत्यनिशं यो ना धर्मार्थं धर्मजश्रियं ।
तस्य नश्यति सा शीघ्रं कृष्णपक्षहिमांशुवत् ॥ १२८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति धर्मसे उत्पन्न धनको धर्मके लिए खर्च नहीं करता है उसका धन कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान शीघ्र नष्ट होता है। इसलिये धर्मसे उत्पन्न धनको धर्मकार्यमें ही उपयोगमें लाना चाहिये ॥ १२८ ॥

धर्मतोऽस्मिन्नृपकुलगुरुन्दूषयंतो बभूवु- ।
रसंतो दासीरतिसुखभुजस्तज्जनीस्थानभाजः ॥
रत्नस्वर्णाचितधनकृते वंचका यात्र नीचाः ।
शुद्धो वंशोप्ययमिति मितो मुक्तिमार्गो हतस्तैः ॥१२९॥

अर्थ—जो लोग इस लोकमें धर्म, धर्मात्मा, उत्तमकुलज, गुरु इत्यादि सज्जनोंकी निंदा करते हैं, व साधुओंके प्रति उदासीन भावको रखते हैं, सदा दासीओंके साथ रति करते हैं । रत्न व सुवर्ण के लिये

१ यथा यथा निरंघनृपः स्वकीयान् ॥
कायस्थसंख्यामिति हि प्रसह्य ॥
प्रपीड्य वित्तान्यपहृत्य जीवे- ॥
त्तथा तथा भाग्यलयं करोति ॥

अन्यको फसाते हैं एवं नीच हैं। उन लोगोंने शुद्धवंशमें जन्म लेकरभी मोक्षमार्गको मलिनही किया है ऐसा समझना चाहिये ॥ १२९ ॥

सद्गोत्रनिंदां जिनयोगिनिंदां
करोति यस्तस्य च सर्वदा हि।
इहैव वक्त्रे क्रिमिगूढदुर्व्रणा
भवंति चाग्रे निरयं प्रयाति ॥ १३० ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम गोत्र व गोत्रजोंकी निंदा करते हैं एवं जैन मुनीश्वरोंकी निंदा करते हैं इस जन्ममें ही उनके मुखमें कीडे वगैरह पडते हैं, बहुत ज्यादा फोडा वगैरह उठते हैं, एवं आगेके भवमें नियमसे नरक जाते हैं ॥ १३० ॥

भूत्वा हिंसातुरश्चेतसि बक इव यो मानवो जैनदीक्षां।
धृत्वा भंगानि कृत्वा यदविकलतपास्तंहि निंदन्शपन्सः॥
दासीभर्तुर्द्विजस्योत्तरजनिपसुतोऽशेषविद्यामवीप्य-।
स्तद्देशाधीशकुष्ठप्रशमनकरणाल्लब्धपत्तस्त्रयैश्वः ॥ १३१ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य हिंसा करनेमें तत्पर ऐसे बकके समान जैनदीक्षा ग्रहण करके उसको दोष लगाता है तथा जो निर्दोष दीक्षाको पालनेवाले साधुगण की निंदा करके गालियां देता है। दासीका पति ऐसे द्विजसे उत्पन्न हुआ वह अपने देशके राजाका कुष्ठरोग नष्ट करके जो उसके द्वारा थोडासा ऐश्वर्य मिला है उसका भोग लेता है। अर्थात् कपटसे दीक्षा लेनेवाले पुरुष हीनाचरण करते हुए मुनिधर्म से भ्रष्ट होते हैं ॥ १३१ ॥

यः कामार्थी धनार्थी परधनहरणोपायविन्निश्चितार्थी।
चौर्यार्थी धूलिभस्माद्युपकरणलसद्गैरिकादिविद्भिः ॥
स्नेहं कृत्वा गृहीत्वा तदुपकरणमर्थाढ्यगेहं विचार्य।
स्वेष्टार्थं वर्धनाय व्यवहरति स वेश्यांगसौख्याभिलाषी ॥

अर्थ—संसार में जो कामुक मनुष्य हैं अथवा धनकी इच्छा करने वाले हैं वह सदा दूसरोंके धन को अपहरण करनेके उपाय जानने वालोंके साथ मित्रता चाहते हैं, चोरी करने की इच्छा रखनेवाले, चोरी की सहायक उपकरण भस्म इत्यादि को जाननेवाले के साथ मित्रता चाहते हैं। ऐसे लोगोंके साथ मित्रता कर उन से उपकरणोंको लेकर एवं उन से धनिकोंका घर इत्यादि को विचार कर फिर चोरी करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार वेश्यागमन करने की इच्छा रखनेवाले ऐसे ही दुष्टोंके साथ मित्रता कर उन से उसके सब उपायोंको समझकर ऐसे दुर्मार्गोंमें प्रवृत्ति करते हैं॥ १३२ ॥

भामिन्यां लंजिकायां स्वगृहपरिकरान्[1]र्थवित्तं च सर्वं।
वंचित्वाहृत्य दत्वा परिहरति भवांस्तं समुल्लाल्य चैत्यं ॥
सौख्यं जीवैहिकं संततमनुभवतीत्यात्मधर्मं विमुच्य।
ग्रंथं धर्मं च सर्वं परिभवति क्रुधैवैहिकामुत्रिकार्थी ॥१३३

अर्थ—हे जीव! सर्वजनप्रिया वेश्याके अधीन होकर अपने घर से धन को चोरी कर और भी पदार्थोंको अपहरण कर उस वेश्या को ले जाकर देते हो, उस नीचकार्यके द्वारा अपने चित्त को भी ठगकर ऐहिक सुखकी वांछा करते हो, इहलोक और परलोकमें सुख को देनेवाले धर्म को भूलकर सब कुछ सुखसे वंचित रहते हो, क्रोधी अपने क्रोधसे जिस प्रकार लोकको अपने विरोधी बना लेता है। उसी प्रकार वेश्यागामी अपना अहित कर लेता है॥ १३३ ॥

यत्रास्ते वनितैका तामाक्रामति च पुंसि धनदानात् ॥
अपवादात्पतिभीतेरनुमनुतेऽसौ गृहे वसत्येका ॥१३४॥

अर्थ—जिस घर में अकेली स्त्री रहती है। उसे देखकर कामा-

१ शृंगारोचितवित्तानि स्वसुखाय दधज्जडः।
जारेभ्यो गणिकाभ्यः स्यु परभोगाय तानि ताः॥

तुर लोग भोगकी इच्छा करते हैं उसे मनाने की कोशिस करते हैं। यह स्त्री यदि न माने तो धन का लोभ देकर मनाते हैं। यदि उससे भी नहीं माने तो अपवाद लगाने का भय दिखाकर उसको मनाते हैं। यदि उस के ऊपर अपवाद लगने से उसे पति मार डालेगा इस का भय रहता है, इस लिए उसे विवश होकर मानना पडता है। इस लिए अपने शीलकी रक्षा करने की इच्छा रखनेवाली स्त्रियोंको घर में अकेली न रहनी चाहिए ॥ १३४ ॥

नानग्नेरगदाशनं सुखकरं वातोऽनलं भस्मनि ।
वा नोद्भावयतीव चोपरभुवीवोप्तं सुबीजं सदा ॥
वंध्या कुत्सितके सुतं न जनयेज्जीवोऽघवान् सद्वचो ।
गृह्णातीह स कश्चिदिच्छति धरा च्छायानिलांभोगुणान् ॥

अर्थ—जिसको अग्निमांद्य हो गया है उसे भोजन व औषधि दोनों सुखकर प्रतीत नहीं होते, राखके अंदर हवा अग्निको उत्पन्न नहीं कर सकता है। ऊसरभूमिमें बोया हुआ बीज अंकुरोत्पत्ति नहीं कर सकती है। वंध्याके गर्भमें संतानोत्पत्ति नहीं हो सकती इसी प्रकार पापीके हृदयमें गुरुवोंके द्वारा उपदिष्ट धर्मवचन स्थान नहीं पासकते। परंतु जिस प्रकार पृथ्वी जलवायु छायाके गुणको चाहती है उसी प्रकार कोई कोई भव्य गुरूपदेशको सुननेकी इच्छा करते है॥१३५॥

चौर्ये शूलारोहणं सत्सहायो मंत्रः स्वर्गो देवतानां गतिश्च ।
कर्तुः पीडा सद्दृशोऽस्तो बभूवुः शुद्धं कार्ये काललब्धिः प्रधानं ॥

अर्थ—इस संसारमें चोरी करना, शूलमें चढना, सज्जनोंकी सहायता मिलना, मंत्रवादमें अपनी गति होना, स्वर्गलोकमें जाना, मनुष्यलोकमें देवताओंका आना, मंत्रवाद करनेवाले को स्वयं बाधा होना, सम्यग्दृष्टि होना इन सब अच्छे बुरे कार्योंके लिए मुख्यतासे काललब्धि

की आवश्यकता है, योग्य समयके आये विना कोई कार्य नहीं हो सकता है ॥ १२६ ॥

रोगास्संत्यखिला भिषग् न च विदन्शस्तो न शस्तो गदः ।
श्चेदिच्छा न च रोचते विशति नो नास्ते स्थिते तेऽगदे ॥
वर्द्धते विधुसिंधुवत्प्रतपति क्रुध्यंति चाज्येऽम्बुवत् ।
निस्वग्रंथिरिव प्रभाति न तथा धर्मोऽपि पापात्मनि ॥१२७॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी जगह रोग तो बहुत फैले हैं परंतु वहांपर उन रोगोंकी अच्छी तरह निदान कर चिकित्सा करनेवाले कोई वैद्य नहीं तब वे रोग दूर कैसे हो सकते है ? । कदाचित् वैद्य हो भी वह आयुर्वेदशास्त्रके अनुसार पूर्ण चिकित्साविषयको नहीं जानता हो, कदाचित् जानता भी हो तो उसके हस्तलक्षण अच्छे न हो अर्थात् योगायोगसे उसके हाथसे रोगी अच्छे न होते हों, कदाचित् हस्तलक्षण अच्छे भी हो तो औषधि न हो, कदाचित् औषधि हो तो रोगीको औषधि लेनेकी इच्छा न हो, इच्छा यदि हो तो उसे वह औषधि रुचिकर न हो, कदाचित् रुचिकर हो भी वातपित्तादिक दोषों के विकार से शरीरमें औषधि प्रवेश न करें, प्रवेश करे तो भी वहांपर बहुत देरतक न रहे, वमन इत्यादि होकर बाहर आवें, कदाचित् कुछ समयतक रहें तो भी दूसरे कारणोंको पाकर रोगकी वृद्धि करें इन सब अवस्थाओंमें रोगीको आराम होना कठिन है । इन सब बातोंमें सुयोग मिलनेके लिए काललब्धिकी आवश्यकता है । ठीक इसी प्रकार जिस जगह पर अधर्मवासना अधिक फैली हो, लोगोंके हृदयमें अधर्मविचार विशेष करके हो, उस स्थानमें उन अधर्म विचारोंको शास्त्रोपदेशके द्वारा दूर करनेवाले गुरु नहीं होते हैं, कदाचित् गुरु कहलानेवाले हों भी वे शास्त्रज्ञानसे शून्य रहते है । कदाचित् संपूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता गुरुवोंके अस्तित्व हो फिर भी उनके उपदेशका प्रभाव नहीं होता हो, कदाचित्

ऐसे प्रभावक गुरु हों तो भी उनमें रत्नत्रयात्मक धर्म नहीं मिलता है, कदाचित् रत्नत्रयात्मक धर्मके उपदेश देनेवाले गुरु मिले भी उन कर्मपीडितोंको उसे सुननेकी इच्छा नहीं होती है, कदाचित् इच्छा हो भी वह उपदेश उनको रुचता नहीं, रुचे तो भी हृदयमें प्रवेश नहीं करता है, कदाचित् हृदय में प्रवेश करे तो भी वहांपर वह उपदेश बहुत दिनतक टिकता नहीं, कदाचित् टिक भी जाय चंद्रमासे समुद्र के बढने के समान तपे हुए घी में पानीके समान, दरिद्र में ऐश्वर्य के समान अनेक दोषोंको अर्थात् द्रव्य भाव कर्मोंको उत्पन्न करके आत्मामें विकार उत्पन्न करते हैं एवं उन धर्मविचारोंका नष्ट करते है । ये सब सुयोग प्राप्त होकर पापात्मा धर्मात्मा बने इस के लिए मुख्यतया काल-लब्धिकी अत्यंत आवश्यकता है ॥ १३७ ॥

गुरुक्रमोल्लंघनतत्परा ये जिनक्रमोल्लंघनतत्परास्ते ।
सेषां न दृष्टिर्न गुरुर्न पुण्यं वृत्तं न बंधुर्न स एव मूढाः॥१३८

अर्थ—जो मनुष्य गुरुवों की परंपराको उल्लंघन करना चाहते हैं अर्थात् गुरुवों की आज्ञाको नहीं मानते है वे जिनेंद्रभगवंतकी आज्ञा को ही उल्लंघन करने में तत्पर हैं ऐसा समझना चाहिए । उन लोगों में सम्यक्त्व नहीं है । उन को कोई गुरु नहीं, उन्हें पुण्य का बंध नहीं, चारित्र की प्राप्ति नहीं, उन का कोई बंधु नहीं विशेष क्या! वे अपना अहित कर लेने वाले मूढजन हैं ॥ १३८ ॥

निजधर्मवंशपारंपर्यागतसत्क्रमं व्यतिक्रम्य ।
यो वर्तते स उत्सक इह तेन च धर्मवंशहानिःस्यात्॥१३९

अर्थ—सर्वज्ञपरंपरासे आए हुए सन्मार्ग को उल्लंघन कर जो आचरण करता है वह धार्मिकमनुष्योंमे उत्सक कहलाता है । अर्थात् उस का यह विचार रहता है कि मैं जो कुछ बोलता हूं यहीं

आगम है, मैं जो कुछ भी करता हूं वही आचार है। इस प्रकार के उच्छृंखल विचार से उस व्यक्तिद्वारा धर्म का ही नाश होता है। १३९

बाधंते नृपसेवकानपि वचोगात्रैश्च ये सागस-
स्ते कारागृहबाध्यदण्ड्यसकलच्छेद्या भवेयुर्यथा ॥
ये रत्नत्रयधारिणास्त्रिकरणैस्ते सागसो दुर्गतौ ।
ते बाध्या बहुदण्ड्यखण्ड्यसकलच्छेद्याश्च वध्यास्तथा ॥

अर्थ—जिस प्रकार इस लोकमें राजाके सेवकोंको भी कोई वचन व शरीरके द्वारा बाधा पहुंचावें तो वह राजाके अपराधी कहलाते हैं, *उनको कारगृहका दण्ड मिलता है वहांपर उन्हे अनेक प्रकारकी* बाधा दीजाती है, दण्ड दिया जाता है, समय आनेपर उनका सर्व नाश किया जाता है। इसीप्रकार जो रत्नत्रयधारी साधुवोंको मन वचन कायसे कष्ट पहुंचाते हैं वे अपराधी हैं, वे भी उस पापके कारण नरकादि दुर्गतिमें जाकर जन्म लेते हैं। और वहांपर अन्य नारकी जीवोंके द्वारा उनको अनेक प्रकारसे बाधा दीजाती है। दण्ड मिलता है, वध किया जाता है। एवं उनका सर्वनाश किया जाता है। इसलिये वीतरागी साधुवोंको कभी कष्ट न पहुंचाना चाहिये। ॥ १४० ॥

मुक्तिर्नास्ति फलो वपन्नपिव सुक्षेत्रं जिनर्षिद्वयं ।
जैना निस्वकृपीवला इव सदा भृत्यैश्च तत्र क्रियां ।
श्रेयोदामिह कारयंति विमुखा दस्वेव कालाधतो ॥
राज्ञां विष्टिमिवाफला शुकदेदानानि पूजाधनैः ॥ १४१

अर्थ—इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रसे मुक्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार कि दरिद्री कृषकको निजका खेत नहीं होता है। मुक्तिस्थानको प्राप्त करनेयोग्य क्षेत्र जिनदेव और जिनमुनि हैं। उनके प्रति जो क्रिया श्रावकोंको होनी चाहिये वह योग्यरूपसे नहीं हो पाती, पूजाप्रतिष्ठादि श्रेयस्कर क्रियाको श्रावक अपने

सेवकोंसे कराते हैं। अतएव सम्यक्त्वसे विमुख है। यह कालका दोष है। जिस प्रकार राजाका अपराधी सदा दुःखी रहता है उसी प्रकार यह पापात्मा भी दुःख उठाता रहता है ॥ १४१ ॥

न्यक्सेवाकृद्‌पुण्यवानकुलजो भिक्षार्जितद्रव्यभुक् ।
भूपास्थानगतागतश्च मनुजो नीचोपि पूज्यो भवेत् ॥
तं बिभ्यंति निरीक्ष्य चाटुवचनं सर्वे वदंत्यन्वहं ।
बाधंते जिनपूजकं जडजनाः पश्यंति दासं यथा ॥१४२॥

अर्थ—नीचवृत्ति करनेवाला, पापी, नीचकुलोत्पन्न, भीख मांगने वाला व्यक्ति भी यदि राजदरबारमें आता जाता रहता है, राजाके साथ विशेष बोलता चालता रहता है तो वह नीच होनेपर भी लोकके लिए पूज्य होजाता है। सब लोग उससे इसलिए डरते हैं कि यह कुछ राजासे चुगलीकर हमारा अहित करेगा। इसलिए सब लोग उसकी खुशामद करते हैं। और मीठे २ बोलते हैं। परंतु बडे आश्चर्यकी बात यह है कि जिनेंद्र भगवंतकी सेवा करनेवाले पुरोहितको बहुत कष्ट देते हैं, अज्ञानी जन उन्हे नौकरोंके समान देखते है। यह उचित नहीं है ॥ १४२ ॥

वेश्यादासीजनानामुपकृतिमधुना कुर्वते नो विषादं ।
तेषामाकूतमीपन्न खलु च कलुषीकुर्वते भोगिनो ये ॥
सा वेश्या सौख्यदास्ते न च यदि सुखदास्तद्विरोधान्न सौख्यं
मत्वैवं तैर्विरोधं न च जिनभजकं नेंद्रमेनं तथैवं ॥ १४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोक में ऐसा देखा जाता है कि जो मनुष्य वेश्यासेवन करना चाहता है वह सब से पहिले उसे वेश्या के दासीका उपकार करता है। उस दासीको कष्ट नहीं पहुंचाता है। उस के विचार में जरा भी धक्का नहीं पहुंचने देता है, वह दासी जैसे कहे वैसे ही मानता है। क्या उसे सुखदेनेवाली वेश्या है? अथवा यह दासी है?

सुख देनेवाली यद्यपि वेश्या है तथापि उस दासीके साथ विरोध करने से उस को वेश्या से भी ठीक सुख नहीं मिल सकेगा ऐसा समझकर उस दासीके साथ विरोध नहीं करते हैं। परन्तु दुःख इस का है की जिनेंद्र देवके साक्षात् सेवक पुरोहितोंको आदरकी दृष्टि से देखते नहीं है।

ये ये राज्ञां सेवकाःसंति ते ते।
पूज्याः सेव्याःसेवका न प्रजानां॥
तास्तेषामेवोपकुर्वंति सर्वा।
भीताः प्रीता राज्यमनो लब्धुकामाः॥ १४४॥

अर्थ---राजा की मर्जी को प्राप्त कर लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य राजसेवकों को बडे पूज्यदृष्टि से देखते हैं अर्थात् राजसेवक प्रजावोंके लिए आदरणीय हैं, वे प्रजावोंके सेवक नहीं हैं। प्रजा उन राजसेवकोंको भय से स्नेहसे उपकार करती है एवं उन की सेवा करती है। यह लौकिक नीति है॥ १४४॥

ये ये नो देवार्चकास्संति ते ते।
पूज्याः सेव्या सेवकास्स्युः प्रजानां॥
नार्थस्तेषां ताभिरर्थं विनाद्यं।
भीताः प्रीता आज्ञया [?] वा तदर्थात्॥ १४५॥

अर्थ—जो भगवान्के अर्चक हैं वे सब हम श्रावकोंके लिये पूज्य हैं, उनकी सेवा करने योग्य है। परंतु पंचमकालके दोषसे प्रजायें उनकी सेवा करना छोडकर वेही सबके सेवक बनगये हैं। उनको उनकी सेवाके बदले नैवेद्यके सिवाय और कुछ मिलता भी नहीं है। जो मिलता है उसीमें संतुष्ट होकर भयसे सबकी सेवा करते हैं यह काल दोष है॥ १४५॥

ये येऽर्चंति जिनं गुरूनुपचरंत्यर्हत्प्रजास्तेऽत्र ते।
सद्भक्त्योपचरंति पूजकजनाः स्युस्ताः स पुण्यं तयोः॥

अन्योन्यानकूलयोगवशतः पापं च पापप्रदं ।
कोपाः कोपकराः शमाः शमकराः भावाः स्युराज्यावमाः

अर्थ—जो जिनेंद्र भगवंत व जिनमुनियोंकी पूजा करते हैं वे अर्हत परमेष्ठीके प्रजा हैं, इस पंचमकालमें जो उनका सत्कार करते हैं वे पुण्यका बंध करते हैं। परस्पर अनुकूलवृत्तिसे दोनोंको पुण्यबंध होता है। एवं एक दूसरेके अनुकूल प्रवृत्ति न होकर वैषम्यभाव रहे तो पापकर्मका बंध होता है। क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि क्रोध से क्रोधकी वृद्धि होती है, शांतिसे दूसरा मनुष्य भी शांत होजाता है। जिस प्रकार अग्निमें पडा हुआ घी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है। जलमें पडा हुआ घी ठण्डा होता है, इसीप्रकार भाव जैसे होते हैं उसी प्रकार उसकी परिणति होती है॥ १४६ ॥

ये धर्मार्जितसौख्यमप्यनुभवन्त्युग्रा वृषध्वंसिनो ।
ये ज्ञातार्थगुणाश्च वन्हिबलतोऽपथ्याशिनो दुःखिनः ॥
कर्म घ्नंति दृगर्हदाश्रितजना दुःकर्मसंवर्तिनः ।
सर्वे पंचमकालदोषबलतो मूढा इहैवाभवन् ॥१४७॥

अर्थ—जो राजा व श्रीमंत लोग पूर्वजन्म में आचरण किए हुए धार्मिक वृत्तियोंके पुण्यसे सुखको अनुभव करते हुए उस धर्मको नष्ट करते हैं वे वे अज्ञानी ठीक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि अनेक भोज्यपदार्थोंके गुणको जानते हुए एवं अग्निके बल होनेपर भी अयोग्य आहार को खाकर दुःखी हो जाते हैं। सम्यक्त्व गुण कर्मको नाश करते है। परंतु खेदकी बात है कि इस पंचमकालके दोषसे जिन-धर्माश्रित मनुष्य मूर्खतासे पापकर्मकी ओर प्रवृत्ति करते हैं ॥१४७॥

दुर्दर्शाः श्रितकंटकुगैमतरा मार्गाश्रितभ्रंगुला ।
दुर्गंधाश्च जडैः कृता इव जनैः मही: कृतशिहितैः ।
पुण्योद्योगचयोपदेशुभिरिवासरयावनैः कार्पिकैः
स्वैराचारिभिरक्षलालसनरैर्धर्मान्वियोत्पत्तयः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग खेतके सस्यको काटकर अस्त व्यस्त कर देते हैं तो जानेवाले लोगोंको मार्ग नहीं मिलता है इसी प्रकार इंद्रियाभिलाषी स्वैराचारी व अज्ञानी लोगोंके द्वारा यह पवित्र जिनमार्ग मलिन किया जाता है । उन स्वेच्छाचारियोंकी कृपासे यह मार्ग अत्यंत मलिन, दुर्गंधयुक्त, कुरूप व कंटकमय बन जाता है। इसी प्रकार कृतज्ञ धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा उस मार्गका प्रकाशन भी होता है । वे अपने उपदेशसे इस जिनधर्मकी प्रभावना कर पुण्यसंचय करते हैं ॥ १४८ ॥

ये मध्येजिनगेहमत्र कलहं कुर्वंति साक्षारणं ।
मर्मोद्घाटनमद्भुतं कुमतयः कुर्वंति तेऽग्रे गुरोः ॥
सद्यो न्यग्गतयो विपाद्गतधनाः क्लिष्टाशयाःस्युःप्रभोः ।
तेषां सद्मनि रोगिणोऽपि सरुजां मृत्युस्त्रिमासांतरे॥१४९
ये धूपंति जिनालयेऽपि मदिरां दुग्धाज्यदंत्यामिषं ।
ते भृत्याश्च नृपाः प्रजा अनुमता भ्रश्यंति काका इव ।
क्षुक्लेशा स्वं विहरंति गेहनगरं दुष्टा इवारण्यगाः ॥
सर्वे दण्डितपीडिता निगलिताः कारासु गुप्ता जनैः॥१५०

अर्थ—जो मिथ्यात्वी जिनमंदिरमें अथवा मुनिवासमें कलह करते

१ वेश्या दृष्टीविषमिव धुनोतीह सर्वं परस्त्री– ।
क्ष्वेडः सद्यो हरति च सुखं शुद्धपुण्यं च रण्डा,
मायुर्लक्ष्मीमपि शुभगतिं वंशशुद्धिं च दासी ॥
मूढः श्रेयः शुभगतिकरीमूढकन्यासुदास्ते ॥

अन्योन्यानकूलयोगवशतः पापं च पापप्रदं ।
कोपाः कोपकराः शमाः शमकराः भावाः स्युराज्यावमाः

अर्थ—जो जिनेंद्र भगवंत व जिनमुनियोंकी पूजा करते हैं वे अर्हंत परमेष्ठीके प्रजा हैं, इस पंचमकालमें जो उनका सत्कार करते हैं वे पुण्यका बंध करते हैं। परस्पर अनुकूलवृत्तिसे दोनोंको पुण्यबंध होता है। एवं एक दूसरेके अनुकूल प्रवृत्ति न होकर वैपम्यभाव रहे तो पापकर्मका बंध होता है। क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि क्रोध से क्रोधकी वृद्धि होती है, शांतिसे दूसरा मनुष्य भी शांत होजाता है। जिस प्रकार अग्निमें पडा हुआ घी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है। जलमें पडा हुआ घी ठण्डा होता है, इसीप्रकार भाव जैसे होते हैं उसी प्रकार उसकी परिणति होती है॥ १४६ ॥

ये धर्मार्जितसौख्यमप्यनुभवन्तृपा वृषध्वंसिनो।
ये ज्ञातार्थगुणाश्च वन्हिबलतोऽपथ्याशिनो दुःखिनः॥
कर्म घ्नंति दृगर्हदाश्रितजना दुःकर्मसंवर्तिनः।
सर्वे पंचमकालदोषवलतो मूढा इहैवाभवन् ॥१४७॥

अर्थ—जो राजा व श्रीमंत लोग पूर्वजन्म में आचरण किए हुए धार्मिक वृत्तियोंके पुण्यसे सुखको अनुभव करते हुए उस धर्मको नष्ट करते हैं ये वे अज्ञानी ठीक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि अनेक भोज्यपदार्थोंके गुणको जानते हुए एवं अग्निके बल होनेपर भी अयोग्य आहार को खाकर दुःखी हो जाते हैं। सम्यक्त्व गुण कर्मको नाश करते है। परंतु खेदकी वात है कि इस पंचमकालके दोषसे जिनधर्माश्रित मनुष्य मूर्खतासे पापकर्मकी ओर प्रवृत्ति करते हैं॥१४७॥

दुर्दर्शाः श्रितकंटदुर्गमतरा मार्गाश्रितश्रंगुला ।
दुर्गंधाश्च जडैः कृता इव जनैः मत्तैः कृतघ्नैर्हितैः ।
पुण्योद्योगचयोपदेष्टृभिरिवासत्यावनैः कार्षिकैः
स्वैराचारिभिरसत्खलव्यसनैर्धर्मान्वियोत्पचयः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग खेतके सस्यको काटकर अस्त व्यस्त कर देते हैं तो जानेवाले लोगोंको मार्ग नहीं मिलता है इसी प्रकार इंद्रियाभिलाषी स्वैराचारी व अज्ञानी लोगोंके द्वारा यह पवित्र जिनमार्ग मलिन किया जाता है। उन स्वेच्छाचारियोंकी कृपासे यह मार्ग अत्यंत मलिन, दुर्गंधयुक्त, कुरूप व कंटकमय बन जाता है। इसी प्रकार कृतज्ञ धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा उस मार्गका प्रकाशन भी होता है। वे अपने उपदेशसे इस जिनधर्मकी प्रभावना कर पुण्यसंचय करते हैं ॥ १४८ ॥

ये मध्येजिनगेहमत्र कलहं शृण्वंति साक्षारणं ।
मर्मोद्घाटनमद्भुतं कुमतयः कुर्वंति तेऽग्रे गुरोः ॥
सद्यो न्यग्गतयो विपाद्गतधनाः क्षिप्राश्रयाःस्युःप्रभोः ।
तेषां सद्मनि रोगिणोऽपि सरुजां मृत्युस्त्रिमासांतरे॥१४९
ये धूपंति जिनालयेऽपि मदिरां दुग्ध्वाप्यदंत्यामिषं ।
ते भृत्याश्च नृपाः प्रजा अनुमता भ्रश्यंति काका इव ।
मुक्त्वा स्वं विहरंति गेहनगरं दुष्टा इवारण्यगाः ॥
सर्वे दण्डितपीडिता निगलिताः कारासु गुप्ता जनैः॥१५०

अर्थ—जो मिथ्यात्वी जिनमंदिरमें अथवा मुनिवासमें कलह करते

१ वेश्या दुर्पीविषमिव धुनोतीह सर्व परस्त्री- ।
स्वेष्टः सद्यो हरति च सुखं नुद्धपुण्यं च रण्डा,
मायुर्लक्ष्मीमपि शुभगतिं वंशशुद्धिं च दासी ॥
मूढः श्रेयः शुभगतिकरीमूढकन्यासुदास्ते ॥

हैं, और दूसरोंको मर्मभेदी गालियोंको देते हैं, उनको उस तीव्र पापके कारण उसी समय नरकादि नीचगतियोंका बंध होता है। एवं उनकी संपत्ति चोर, दुष्टराजा, आदिके द्वारा लूट जाती है, एवं वे सदा दुःखी होते हैं। एवं उनके घरमें भयंकर बीमारी फैलती है। एवं इस पापके कारण तीन मासके अंदर मरण भी होजाता है। इसलिए देवगुरुस्थानमें पाप न करना चाहिये। जो मनुष्य जिनमंदिर व मुनिवासमें शराब पीते हैं एवं मांस पकाकर खाते हैं ऐसे सेवक, एवं उनको अनुमति देनेवाले राजा व प्रजा सबके सब भ्रष्ट होते हैं, अपने घर व नगरको छोडकर दुष्ट जानवरोंके समान जंगलमें फिरते रहते हैं। इतना ही नहीं वे सब शत्रुराजाओंके द्वारा बाधित, दण्डित, व पीडित होते हैं, सदा बंदीखानेमें रहनेवालेके समान उनको दुःख उठाना पडता है ॥१४९॥१५०

शैलूषोऽप्यनयोऽगुणोऽप्यशम-क्रोधी जडो भीरुघु-
र्निर्भाग्योऽपमिति ब्रुवंति सुधियो दृष्ट्वा शपंतं नरं ।
स श्रीमानुदयो गुणी स सुकृती शांतः सशिक्षोऽनघः ॥
सद्दृष्टिः सुदृगग्रणीस्स विबुधः श्रीजैनभक्तो भवेत् ॥१५१

अर्थ—गुणदोष को जाननेवाले विद्वान लोग योग्यायोग्य पात्रभेद को न जानकर गालियां देनेवाले मनुष्य को डोंबारी कहते हैं। यह निर्गुण है, अशांत है, गुस्सेबाज है, मूर्ख है, पापी है, नीच है, दरिद्री है इत्यादि अनेक प्रकार से कहते हैं। परंतु जो जिनभक्त हैं उन को यह श्रीमंत है, भाग्यवान है, गुणनिधान है, पुण्यात्मा है, शांत है, शिक्षित है, निष्पाप है, सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्दृष्टियोंके अग्रणी है, विद्वान है इत्यादि प्रकार से प्रशंसा करते हैं ॥ १५१ ॥

सस्वेदान्कुब्जकंठानचलितचरणान्दग्धशीर्षानशक्ता-
न्रक्ताक्षान्कंपितांगान्स्वयथुयुतमुखान्भारवाहान्समीक्ष्य

तद्भारान्ये स्वयं चादधति सकरुणास्तान् प्रणम्य प्रशस्या-
जीवंतोऽमी यथा जीवत भुवि कृतिनो बाधकान्शंसयित्वा ॥

अर्थ—प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह दुःखियों के ऊपर दया करना सीखें। जो मनुष्य कोई बोजा उठाकर ले जा रहा हो, उस को पसीना आया हो, उस के गरदन के ऊपर अधिक दबाव पड रहा हो, पैरसे चलने के लिए असमर्थ हो रहा हो, मस्तक में भार के उठाने से जलन पैदा हुआ हो, शरीर के अवयव कंपने लगे हो, मुख सूज गया हो, ऐसी परिस्थिति से उन से उस भार को लेकर करुणाबुद्धि से स्वयं धारण करते हैं वे सत्पुरुष है। उन्हे वे दुःखी जीव प्रणाम करते है। उनकी प्रशंसा करते है। नीच प्रकृति के लोग उन्हे कष्ट पहुंचावे तो भी वे उन का उपकार ही किया करते हैं।

निमज्जंतीव पंकाधौ पतंतीव नगाग्रतः ॥
शुद्धदृग्बोधवृत्तेभ्यो वृथा भ्रश्यंति मोहिताः ॥१५३॥

अर्थ— जिस प्रकार कोई कीचड के कुए में फंस जाते हों, एवं पर्वत के ऊपर से गिरते हों उसी प्रकार संसारके मोह से फसे हुए मनुष्य व्यर्थ ही शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से भ्रष्ट होते हैं। संसार में मोह बडा जबर्दस्त कीचड है। उस में जो फंस जाते हैं फिर उन का उस से निकलना कठिन हो जाता है। एवं वैसे पवित्र रत्नत्रय धर्म से च्युत होना पडता है जिस कारण से वह दीर्घसंसारी बन जाता है ॥ १५३ ॥

धुर्यांबुजाताब्धिफलादयो यथा ।
नितांतपुण्योदयजातभूतयः ॥
शिलार्विलोत्पन्नकुजा यथा तथा ।
वृषे च पापे कतिचित्समाश्रियः ॥ १५४ ॥

अर्थ—नारियलके वृक्ष समुद्रके किनारे अधिकतर हुआ करते है।

समुद्रमें सदा पानी रहनेसे उसके कारणसे उत्पन्न नारियलके वृक्षमें भी सदा फल रहता है। इसी प्रकार लोकमें ऐसे बहुतसे पुण्यवान् मौजूद हैं जो अपने पूर्वोपार्जित अक्षय पुण्यके कारणसे प्राप्त संपत्तिसे सदा-काल पुण्य-कार्योंकी वृद्धि करते हैं। अपनी संपत्तिसे वे सदा धर्म-प्रभावनाका का कार्य करते हैं। इससे जो पुण्यका बंध होता है उसी का नाम पुण्यानुबंधी पुण्य है। परंतु पर्वतादि में उत्पन्न होनेवाले बहुतसे वृक्ष ऐसे हैं जिनमें कभी फल लगते हैं कभी नहीं लगते हैं। इसी प्रकार कितने ही लोकमें ऐसे मनुष्य हैं जो पूर्वपुण्यके द्वारा संपत्ति को प्राप्त कर भी कभी उसे धर्मकार्यमें और कभी पापकार्यमें लगाते हैं, उनको धर्म और पाप दोनोंमें समानबुद्धि है ॥ १५४ ॥

> यावद्धान्यं भवति भुवि तत्तावदिच्छंति लोका—
> स्तद्वृत्त्याति स्वविषयमिमं पूर्वभूपाः स्ववृद्ध्यै ॥
> अज्ञानांधा जनमिह यथा पूतिनीं नारसिंहो ।
> द्रव्याहृत्यै निजकुलहतेर्भूमिपाः पीडयंति ॥ १५५ ॥

अर्थ—लोकमें किसानोंके स्वभावमें उनको जिस वर्ष जितने अधिक धान्यकी उत्पत्ति होती हो उतना ही वे चाहते रहते हैं। उससे अधिक संतुष्ट होते हैं। धर्मात्मा राजा भी उससे अपने राज्यकी ही उन्नति है ऐसा समझकर उनकी अच्छी तरह रक्षा करते थे, परंतु खेद है कि आजकलके अज्ञानसे अंधे हुए राजा उन प्रजावोंको जिस प्रकार नारसिंहने पूतिनीको पीडा देकर मार डाला उसी प्रकार अपने स्वार्थके लिए प्रजावोंके द्रव्यको अपहरण कर उन्हे पीडा देते हैं। उन्हे यह मालुम नहीं है कि उस पापके कारण उनके कुलका ही क्षय होता है ॥ १५५ ॥

> करोऽधिकोऽभूत्फलमल्पमुर्व्यां ।
> सेवाधिका स्वल्पभृतिः कथंचित् ॥

शून्या तु सा स्वामिजनद्वये त- ।
न्नैष्फल्यमायाति नृपः प्रजोर्व्यः ॥ १५६ ॥

अर्थ—आजकलकी परिस्थिति यह हुई है जमीनका कर तो हुआ अधिक परंतु जमीनमें उत्पन्न तो होता है कम, इसी प्रकार सेवकोंसे सेवा तो अधिक लेने लगे । परंतु उन्हें वेतन तो कम देते हैं । इस प्रकारकी वृत्तिसे उन राजा प्रजाओंमें दिनपर दिन शून्यता आती जाती है । और इससे उन राजा प्रजा व भूमिकी संपत्ति इत्यादि सब निष्फलताको प्राप्त होते हैं ॥ १५६ ॥

विमाननात्पूज्यसतां स्वपक्षयो ।
भवेत्स्वविश्वासवतां विघातनात् ।
स्वतेजसो हानिरनीकतेजसां ॥
प्रजाविलोपश्च निजायुषः श्रियः ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो राजा अपने स्वार्थकेलिए अपने राज्यमें रहनेवाले गुणवान् वैद्य, ज्योतिषी आदि सत्पुरुषोंको पीडा देकर अपने राज्यसे भगाता हो उसके धर्मकी क्षति होती है । अपने विश्वासके मंत्री पुरोहित बंधु इत्यादिके साथ विश्वासघात करनेसे अपने तेजका नाश होता है, इतनाही नहीं उसके सेनाका भी तेज नष्ट होता है । एवं उसके प्रजाका लोप होता है, स्वतः राजाके आयु व संपत्तिका भी क्षय होता है । इसलिये राजाको उचित है कि प्रजाओंको कभी कष्ट न पहुंचावे ॥१५७

नात्मेवाजीविते देहे सहते रोगपीडनं ।
निस्वो नाजीवितः सेवाविधानं भूपतेर्मनाक् ॥ १५८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार शरीरकी आयु बाकी न रहनेपर जीव रोगपीडा न सहता हुआ इस शरीरको छोडकर चला जाता है इसी प्रकार जिस सेवकको सेवाके लिए कोई प्रतिफल न मिलता हो वह राजाकी सेवा कभी नहीं कर सकता है ॥ १५५ ॥

स्वामिद्रव्यं स्वामितामेव कुर्या- ।
द्भृत्यद्रव्यं भृत्यतां स्वामिवित्तं ॥
भृत्यग्राह्यं भृत्यवित्तं न जातु ।
ग्राह्यं योगैः स्वामिना भृत्यकारि ॥ १५९ ॥

अर्थ—सेवक स्वामिसेवामें तत्पर होकर परिश्रमसे जो धन कमाता है उसे स्वामिद्रव्य कहते हैं। ऐसा ही धन सेवकके ग्रहण करने योग्य है, ऐसे धनोंके उपार्जनसे सेवक धनवान् बनकर अनेक सेवकोंका स्वामी बनता है। परंतु ऐसा न कर जो किसी तरह आलस्य से काम करते हैं वे भृत्यद्रव्यके कमानेवाले कहलाते हैं, ऐसे द्रव्यसे सेवक ही बना रहता है। वह यथेष्ट धनार्जन नहीं कर सकता है। स्वामीका धन सेवक ले सकता है। परंतु भूलकर भी स्वामी सेवक के धनको ग्रहण न करें। यदि स्वामी सेवक के धन को ग्रहण करता है तो वह स्वयं सेवक बन जाता है ॥ १५९ ॥

कृत्वा नित्यनिकृष्टकर्मकरुणामुत्पाद्यतेनाशया ।
पत्युर्वित्तमुपार्जितं च यदहो येनैव पापात्मना ॥
तद्वित्तं प्रभुणा न दत्तमथवा व्याजाद्बलादाहृतं ।
तं नाथं कुरुते निजेशसदृशं तद्विघ्नमेतद्धनं ॥ १६० ॥

अर्थ—जो सेवक पहिले बहुत निकृष्ट २ सेवाओंके द्वारा मालिक के हृदय में करुणा उत्पन्न करता है एवं उन से येथेष्ट धन लेता है। उस के बाद उस के हृदयमें पाप आकर अपने स्वामीके द्वारा नहीं दिया हुआ धनको भी किसी तरह धोका देकर लेने लगता है। उस स्वामीकी श्री ऐसी बातोंसे घटेगी नहीं प्रत्युत: वह अपने स्वामीके बराबर बन जायगा। परंतु उस सेवक को ऐसे कार्योंसे हानियां पहुंचेगी, इसलिए ऐसे धन को अपहरण नहीं करना चाहिए।

यः सेवकानां धनमाददाति ।
यो नीचकृत्यार्जितमन्यवित्तं ॥
कुर्याद्धनं यत्खलु तस्य तत्त- ।
न्नीचोपसेवार्जितजीवनं च ॥ १६१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने सेवकों के धन को अपहरण करता है, एवं नीचकृत्योंसे कमाया हुआ वेश्या आदिके धनको ग्रहण करता है वह उसके फलसे इस भवमें एवं परभवमें नीचगतिमें जाकर जन्म लेता है एवं नीचोंकी सेवा करनेके जीवनको पाता है ॥१६१॥

भृत्येष्वीर्ष्या भावहिंसातुरा ये ।
स्वेष्वन्येषु प्रीतिमाकुर्वते ते ॥
जन्मन्यग्रे स्वेषु भृत्येषु चैको ।
भृत्यो भृत्वैकैकजन्मन्यहो स्यात् ॥ १६२ ॥

अर्थ—जो स्वामी अपने भावोंमें मायाचार कर अपने सेवकोंमें ईर्षाभाव एवं दूसरोंके सेवकोंमें प्रीति करता हो वह अपने पापके फलसे आगे एक जन्ममें अपने एक २ सेवकका वह सेवक होकर उत्पन्न होता है आश्चर्य है ॥ १६२ ॥

कृतक्लेशेषु भृत्येषु नोपकुर्वंति ये नृपाः ॥
जन्मांतरेऽधिश्रीणां तु तेषां ते गृहकिंकराः ॥१६३॥

अर्थ—जो राजा अपने श्रम करनेवाले सेवकोंको उपकार नहीं करते हैं वे आगेके जन्म में उन्हीं सेवकोंके सेवक बनते हैं जिन्होंने अपने पुण्यसे अधिक भाग्यको प्राप्त किया है ।

---

१ नृपैर्दत्तार्थभूकन्यासर्ववस्तुसमाप्तता ।
न प्राप्ता आददानास्ते तैः सर्वेपि निराकृताः ॥

भूनाथेऽदृशि सेवकः सुदृगहिग्राही यथा जायते ॥
भृत्येऽदृश्यपि भूमिपो यदि सुदृक्छ्कासोक्षवद्भूतले ॥
भृत्योत्सर्जनगोपनोक्तिविगमे भूपोऽग्निकार्पासव– ।
द्भृत्यस्योपभृतेर्लये भवभवे भृत्योप्यपुण्यक्रियः ॥ १६४॥

अर्थ–राजा यदि अविश्वासी हो उसका सेवक यदि विश्वासी हो तो यह मंत्रतंत्रसे अपरिचित सेवक गारुडीने पकडे हुए सर्पके समान होता है। राजा यदि विश्वासी हो तो भरी हुई गाडी को बांधा हुआ बैल के समान हो जाता है। सेवकों को रक्षण करने का वचन देकर फिर यदि उन की रक्षा राजा नहीं करता है तो उस राजा की दशा वही होती है जैसी कि आग लगी रुईकी। वह राजा इस प्रकार के पापोंसे भवभवमें पापी होकर उत्पन्न होता है ॥ १६१ ॥

परद्रव्यापहारित्वाद्दरिद्रो भवति ध्रुवं ।
तस्माद्दाता परद्रव्यं न गृह्णाति कदाचन ॥ १६५ ॥

अर्थ—परद्रव्य को अपहरण करने से मनुष्य नियम से दरिद्री बनता है। इस लिए दाता को उचित है कि वह परद्रव्य को कभी ग्रहण न करें ॥ १६५ ॥

स्थापितागतवित्तघ्नं देवस्वाम्यर्थवंचनं ।
तेनेहामुत्र निःस्वःस्याद्ग्रंथः स्वार्थापहृत्सदा ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य देवद्रव्य और स्वामिद्रव्य को अपहरण करता है उस के पहिले के एवं आये हुए दोनों प्रकार के द्रव्य नष्ट होते हैं। एवं वह इस भव में एवं परभव में बहुपरिग्रही और दरिद्री हो जाता है। एवं उस का धन सदा दूसरोंसे अपहृत होता है ॥ १६६ ॥

चौर्यं दृष्टमिदं परैर्विकलता चित्ते भ्रमोऽक्ष्ण्यंधता ।
दैन्यं निःप्रभता मुखे विरसता निस्त्राणता पादयोः ॥

कंपो वर्ष्मणि दुःपरीषहजयः स्याद्गद्गदत्वं गळे ।
निःक्रोधो बुधता दया विनयता चित्रं मृदुत्वं शमः १६७

अर्थ—चोरी करना अत्यंत निकृष्ट कार्य है । यदि किसीने चोरी करते हुए देख लिया तो चोरका चित्त विकल हो जाता है, चित्तमें भ्रम उत्पन्न होजाता है । आंखो में अंधेरी आजाती है, दीनता धारण करनी पडती है, सारा शरीर प्रभाहीन होजाता है, मुख विरस हो जाता है, पैरोंमें निःशक्ति आजाती है, शरीर कंपने लग जाता है, अनेक प्रकारके कष्ट सहन करने पडते हैं, कंठ गद्गद होजाता है, क्रोध छोडना पडता है, बुद्धिमत्ता आजाती है, दया भी उत्पन्न होती है, विनयशीलभी बनना पडता है, मार्दव एवं शांति भी धारण करना पडता है, आश्चर्य है ॥ १६७ ॥

अनियतवृत्तं प्रथमे शिक्षककृतबाधने मुमुर्षुत्वं ।
चौर्यमपि चौर्यवर्जनमहो जना वर्जयेयुरिह तच्च ॥ १६८

अर्थ—चोरी करते समय चोरको बहुत अनियतवृत्ति करनी पडती है क्यों कि उसे यह डर होता है कि मुझे कोई देख न लेवें, यदि कहीं पकडा गया तो फिर राजकर्मचारियोंके द्वारा दिये गये दण्डसे उसे यह इच्छा होती है कि यदि मेरेको मरण आजाय तो अच्छा है । इस लिये सज्जन लोग ऐसी चोरी को छोडते हैं ॥१६८॥

[1]अर्थारामपदं सगुप्तिकुसुमं शांतिच्छदं संयम-।
स्कंधं जीवचयाश्रयं वृषलसच्छाखं समित्यंकुरं ॥
दृष्टिज्ञानफलं दयोधितमिदं सद्धर्मवृक्षं जनाः ।
सर्वे निर्धृसितं दहंति मुनयस्तेनाग्निना मूढवत् ॥ १६९॥

१ विपर्यविरतिमूलं संयमोद्दामशाखं ॥
यमदमशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यं ॥
विबुधजनशकुंतैः सेवितं धर्मवृक्षं ॥
दहति मुनिरपीह स्तेनवीन्हानलेन ॥

अर्थ—यह जिनधर्म एक महान् वृक्षके समान है, विषयविरति ही उस वृक्षकी जड है, गुप्तित्रय उस का पुष्प है, शांतिरूपी पत्ते हैं, संयमरूपी स्कंध है, धर्मरूपी शाखायें हैं। समिति ही उसका अंकुर है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही जिस का फल है। दयारूपी पानी से वृद्धिगत है, अनेक जीवों को आश्रय देने वाला है, यहांतक कि मोक्ष को भी प्रदान करनेवाला है, ऐसे धर्मरूपी महावृक्ष को अज्ञानी जन मुनि होकर भी चोरी रूपी अग्नि से जलाते हैं। खेद है ॥ १६९ ॥

मानहानिरपि वंचके सती ।
पत्युरर्थयुगहानिरापदा: (?) ॥
वंचको यदि पतिश्च तस्य य: ।
सर्वहानिरनिशं भवेत्प्रभो: ॥ १७० ॥

अर्थ—लोक में यदि स्त्री पति को धोका देकर मायाचार करती है उस अवस्था में पतिपत्नी दोनोंका अपमान होता है। एवं धनका नाश हो जाता है। यदि पति पत्नी को धोका देकर अनीतिमार्ग में प्रवृत्ति करता है उस अवस्था में उस की सर्वहानि हो जाती है ॥

परस्त्रीगुरुदेवार्थं वृध्द्यार्थं च सर्वदा ॥
न गृह्णीयान्न दद्याच्च सर्वनाशकरान्बुध: ॥ १७१ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि वह अपने वृद्धि के लिए परस्त्री को लेकर कभी दूसरोंको बेचने आदि कुकृत्य न करें। गुरुद्रव्य व देवद्रव्य को अपहरण कर व्याज आदि कमाने की कुचेष्टा नहीं करें। एवं स्वयं ऐसे द्रव्य न करें और न दूसरों को ऐसे द्रव्य देकर कुमार्ग की प्रवृत्ति करें। इस से उस का सर्वनाश होता है ॥

ध्वंसयति राजधर्मो वाह्यं द्रव्यं च सागसां सकलं।
दैवो धर्मो वाह्यद्रव्याण्यपि चांतरंगिकं पुण्यं ॥१७२॥

अर्थ—मनुष्यने इस बात का विचार करना चाहिए कि लोक में राजाके अपराधीके बाह्य ऐश्वर्य को राजा सर्व प्रकारसे नष्ट करता है। देवापराधीके बाह्य द्रव्य भी नष्ट होते हैं अंतरंग द्रव्य पुण्य भी नष्ट होता है ॥ १७२ ॥

देवस्वाम्यर्थहृज्जीवे तृष्णा वृद्धिम् सन्निजा।
स्यात्स्ववर्गेपु सा नित्या दरिद्रो जन्मजन्मनि ॥ १७३ ॥

अर्थ—जो जीव देवद्रव्य को अपहरण कर जाता है उस की तृष्णा सन्निपात रोगसे पीडित रोगीकी तृषाके समान बढती ही जाती है। एवं च परिग्रहोंमें उसकी लालसा स्थिर होती जाती है। इतना ही नहीं वह जन्मजन्म में दरिद्र ही होता जाता है ॥ १७३ ॥

[1]वाग्धारादत्तभूकन्यादेशग्रामधनादिकं ।
आदत्ते यो बलात्तस्य बहुहानिर्भवे भवे ॥ १७४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरों से वचनसे अथवा जलधारा छोडकर दी हुई भूमि, कन्या, देश, ग्राम, धन आदिको जबर्दस्तीसे छीन लेता हो उसको जन्मजन्ममें हानि उठानी पडती है। इसलिये परद्रव्यको कभी अपहरण करना उचित नहीं है ॥ १७४ ॥

प्रसह्य चार्थानतिपीड्य यः सतां।
समाहरत्यौप्यत एव तस्य से ॥
अल्पक्रयान्निष्ठुरकोऽथवा सदा।
कुर्वंति रायस्त्रिविधस्य च क्षयं ॥ १७५ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सामर्थ्यसे, बलात्कारसे अथवा बहुत कष्ट देकर सज्जनोंका धन अपहरण करता हो, एवं अधिक कीमतके पदा-

---

१ वाग्दत्तं च मनोदत्तं धारादत्तं न दीयते ।
नरकान्न निवर्तते यावच्चंद्रदिवाकरौ ॥

थोंको कम कीमत में खरीदता हो तथा दूसरोंके प्रति सदा निष्ठुर व्यवहार करता हो उस व्यक्तिके भूत भविष्यत् वर्तमान ऐसे तीनों प्रकार के धन नष्ट होते हैं ॥ १७५ ॥

दशांशबंधादतिशुद्धितो मिषात् ।
धनं स सर्वं लभते नृपार्पितं ॥
नृपारिचोराग्न्यधमर्णविस्मृतै- ।
र्धनेन दग्धेन धराटवीं क्षयेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो अपना कोष बढानेके निमित्तसे प्रजासे दशांश कर लेंगे ऐसा नियम करके भी उनसे सर्वधन लेता है. तथा शत्रु रूप राजाका, चोरका, कर्जा जिसने लिया है तथा जो विस्मृतिसे धनको छोड गये हैं ऐसे लोगों का धन ग्रहण करता है. वह राजा अग्निसे, जली हुई भूमी के समान नष्ट होगा. इस श्लोकका अर्थ हमारे समझमें ठीक नहीं आया है । अतः अभिप्राय लिखा है ॥ १७६ ॥

बहाशार्जितवित्तस्य सर्वस्व क्लिश्यते मनः ।
निक्षेपार्थहरस्यैवामुत्रिकार्थहरस्य वा ॥ १७७ ॥

अर्थ—बहुत लोभी होकर जो धन कमाता है उसके मनको इस कार्यसे बहुत दुःख उत्पन्न होता है अथवा ऐसा पुरुष सबके द्वारा पीडित किया जाता है । जिससे उसका मन खिन्न होता है । जैसे कोई धनिक किसी का धन अपने पास रखता है तथा मांगनेपर उस को देता नहीं उस समय वह उसको बहुत कष्ट देता है क्यों कि वह धनिक उस दीनके आगेके जीवनकोही बिगाड देता है । इस श्लोकका केवल अभिप्रायमात्र लिखा है ॥ १७७ ॥

यत्पीडितं वत्समिवात्मपति गृहीत्वा ।
व्याहृय शीघ्रमरये वितरेत्कुतंत्रम् ॥

सीतेव रावणगृहात्तिगमान्यगेहा- ।
हंतुं स्मरत्यनयलब्धधनं नितांत ॥ १७८ ॥

अर्थ—जो धन अन्याय व बलात्कारसे अपहरण किया गया हो वह अपने स्वामीको अनेक प्रकारके कुतंत्रसे शीघ्र. पकडकर शत्रुके हाथमें दे देता है । जिस प्रकार बहुत कष्ट पाया हुआ सेवक स्वामी से चिढकर उसे शत्रुके हाथमें दे देता हो । एवं जिस प्रकार सती सीता रावणके घरसे अन्य घर होनेसे छोडकर जाना चाहती थी इसी प्रकार अन्यायोपार्जित धन दूसरेके पास जरूर चला जायगा । उससे कभी सुख नही मिल सकता ॥ १७८ ॥

यो बहाधार्जितार्थस्सन् कुर्वन्स बहुधा वृषं ।
दोषी वांछन्निव स्वास्थ्यं भुक्त्वैवापथ्यमौषधम् ॥१७९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अत्यंत लोभसे न्यायान्याय, योग्यायोग्य विचार न करके बहुत धनको कमाता हो एवं उस पापके उपशम के लिये अनेक धर्मकार्य करता हो सचमुचमें वह रोगीके समान है जो वात, पित्त, कफके विकारसे पीडित हो, स्वास्थ्यकी इच्छासे औषधिका सेवन भी करता हो साथमें अपथ्य भी करता हो ॥ १७९ ॥

सत्पुरुषोऽर्जयति धनं यत् सकलजनेष्टसाधुवृद्धयैव स्यात्
तस्य धनस्य न हानिर्नोनुपहतधर्मबलसुगुप्तस्यैव ॥१८०

अर्थ—सज्जनलोग न्यायसे जिस धनका उपार्जन करते हैं वह धन संपूर्ण इष्ट जन व साधु संतोकी वृद्धिके लिये कारण होता है । एवं धर्मकार्यमें उसका विनियोग होता है । उस धन की हानि कभी नहीं होती, उसे कोई अपहरण भी नहीं करता, एवं धर्म कार्यों की रक्षा उससे होती है अत एव धर्मबल भी उसकी रक्षा करता है ॥ १८० ॥

देवाय संकल्प्य निजं धनं यो ।
दत्ते न तस्मै खलु तस्य दोषः ॥
करोति राज्ञा च मिथो विवादां-।
स्तेजोऽपधर्मात्मजलाभनाशान् ॥ १८१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने धनको देवकार्यमें संकल्प करके फिर उसे उस कार्य के लिये नहीं देता हो एवं अपने घरखर्च के लिये उपयोग में लेता हो उसे तीव्र पापबंध होता है। उस पापसे उसे राजा के साथ बंधुवोंके साथ व अन्यमित्रोंके साथ विवाद होता है। लोक सब उसे निंदाकी दृष्टिसे देखते हैं, इतनाही नहीं उसका तेज मंद होता है। द्रव्यका नाश होता है, धर्मकी हानि होती है, संततिका लाभ नहीं हो पाता है॥ १८१ ॥

धर्मद्रव्यं दुरितहरणं यन्निकायाश्रितं चे-।
दुत्पद्यंते नृपकुलहरास्तत्र जीवाश्च दुष्टाः ॥
शून्ये यत्रावनिपतिगृहे चित्तनेत्राभिरम्ये ।
निर्धूतोयद्विभवसुजना संविशंतीव भूताः ॥ १८२ ॥

अर्थ—पापनाश करनेके लिये समर्थ धर्मद्रव्यको अपहरण कर जो कोई अपने घरमें लेजाकर रखता हो या उसे अपने घर काम में लेता हो उसके घरमें दुष्ट संतान उत्पन्न होती हैं। वे धर्म व कुल संस्कारको नष्ट करनेवाले होते हैं। जिसप्रकार अनेक विभावों से युक्त सुंदर राजमहल भी यदि शून्य हो जाय तो उस में भूत प्रेतादिक प्रवेश करते हैं इसीप्रकार धर्मकर्मसे शून्य ऐसे घरमें दुष्ट जीव प्रवेश करते हैं॥ १८२ ॥

चेतःक्लेशं कृत्वैवान्नादिद्रव्यमाहरत्यपि यः ।
तस्य सुकृतव्ययःस्याद्व्रतभंगोऽपि च ततोऽप्यवृद्धिश्च ॥१८३

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके मनको दुःख पहुंचाकर उनके अन्नादिक द्रव्योंको अपहरण करता हो एवं उससे स्वयं सुखका अनुभव कर रहा हो उसके पुण्यका नाश होता है। एवं सर्व संपत्तियों में प्रधान व्रतरूपी संपत्ति नष्ट हो जाती है, इतनाही नहीं पापकी वृद्धि होती है। इसलिये परधनको अपहरण करना उचित नहीं है॥१८३॥

अन्यौकःकृतभुक्तयो नृपतयो दत्त्वैव भुक्तिव्ययं।
ज्ञात्वा द्विगुणाधिकं धनपटं गच्छंति विद्वन्यदा॥
तद्वद्धार्मिक एव शुद्धसुकृतं वांछन्व्रते शुद्धधी-।
र्दातान्यालयभुक्तिभावप्रतिदिनं दद्यात्तदर्थं मुदा॥१८४

अर्थ—जिस प्रकार राजा किसी दूसरे घरमें भोजन करके आता है तो उस घरवालेको भोजनका मूल्य एवं दुगुने तिगुने धन वस्त्र आदि देकर चला जाता है इसी प्रकार विद्वान श्रावक धार्मिक व दाता हो तो उसे पुण्यप्राप्तिकी यदि इच्छा है तो दूसरोंके घर में भोजन करे तो उसके बदले में कुछ न कुछ जरूर देवें॥१८४॥

कर्त्रायत्तं कर्तृहस्तेन वित्तं योषायत्तं योषितः पाणिनैव।
ग्राह्यं पुण्यं चात्महस्तेन पापं स्वेनैव स्युर्वंचका दस्यवश्च॥

अर्थ—घरके मालिक स्वयं व उसकी आज्ञासे दिये गये धनको ग्रहण करना चाहिये। घरमें यदि मालिक न हो तो मालिकिन स्वयं हो उसके हाथसे दिये गये धन वा उसकी आज्ञासे दिये गये धनको ग्रहण करना चाहिये उसमें पुण्य होता है। ऐसा न होकर सेवकोंके हाथसे गृहीत वा स्वयं अपने हाथसे गृहीत धन पापका कारण होता है। इस प्रकार स्वयं ग्रहण करनेवाले वंचक व चोर कहलाते हैं॥

शिथिले जिनगेहे सति सधना जैना उदासते तेषाम्।
गृहधनतेजोमानप्राणादिकहानिराशु स्यात्॥१८६॥

अर्थ—जिनमंदिरके जीर्ण होनेपर उसे देखनेपर भी धनवान जैन उस से उपेक्षा करते हों, उसके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करते हों तो उनका घर, धन, तेज, मान इतनाही नहीं प्राणादिका भी शीघ्र नाश होता है ॥ १८६ ॥

लेखयति यत्र यो ना सविकारांस्तस्य जिनमुनींद्रप्रतिमान् ।
नश्येद्धनमायुर्गृहमपि सह मूलं च वीक्ष्य हृष्टस्यापि ॥ १८७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य जिनेंद्र व मुनीद्रोंके चित्रको [प्रतिमा] सविकार निर्माण कराता हो उसका धन, आयु, घर इत्यादि समूल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं उन सविकार प्रतिमाओंको देखकर जो प्रसन्न होते हैं उनका भी धन आयु, घर इत्यादि समूल नष्ट होते हैं ॥ १८७ ॥

राजा पुरा रौरवहारिणः स-।
दीर्घायुरारोग्यसुखाग्निवृद्धाः ॥
सर्वे नृणां रौरवकारिणोऽद्य ।
ध्वस्तायुरारोग्यसुखाग्नयः स्युः ॥ १८८ ॥

अर्थ— पूर्वकालमें राजा प्रजावोंके दुःखोंको दूर करनेमें सदा दत्त चित्त रहते थे इसलिये वे दीर्घायुषी, आरोग्यवान्, सुखी व स्वस्थ होते थे। पंचमकालके राजा प्रजावोंको हरतरह दुःख देनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझते हैं अतएव वे अल्पायु, रोगी, दुःखी व अस्वस्थ होते हैं। प्रजावोंके हितनिरत रहना यह राजाका कर्तव्य है ॥ १८८ ॥

यत्रास्थाने सदा हासो भण्डोक्तिर्बहुगर्हवाक् ।
धर्मनिंदा भवेत्सर्वं समूलं च विनश्यति ॥ १८९ ॥

अर्थ—जिस राजाके आस्थानमें (दरबार) सदा काल हास्य,

भण्डवचन, परनिंदा, व धर्मनिंदा आदि दुष्कृत्य होते रहते हों उस राजाकी संपत्ति समूल नष्ट होजाती है ॥ १८९ ॥

> यत्राट्टहासो दुष्कर्म जिनधर्मस्य दूषणं ।
> साधुनिंदा भवेत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ॥ १९० ॥

अर्थ—जिस राजाके आस्थानमें सदाकाल अट्टहास होता रहता हो, दुष्कर्मका बाजार लग रहा हो, साधुओंकी निंदा होती रहती हो उस राजाकी संपत्ति नष्ट हो जाती है। राजा धार्मिक हो तभी उसका राज्यशासन अटल रह सकता है ॥ १९० ॥

> यत्रोत्कोचहरा भूपाः कायस्थाः पिशुना नराः ।
> विश्वस्तास्तैर्हतास्सर्वं सहमूलं विनश्यति ॥ १९१ ॥

अर्थ—जिस राजाके शासनमें लोग अल्पकार्यके लिए महत्वपूर्ण कार्योंको बिगाडनेके लिए तैयार होते हैं, इधर उधर चुगली करके परस्पर झगडा करानेमें आनंद मानते हैं, अधिकारीवर्ग रिश्वत लेकर कार्य करता है, विश्वस्त ऐसे सज्जन लोग जहां सताये जाते हैं ऐसा राज्य समूल नष्ट होता है ॥ १९१ ॥

> दृष्ट्वा न पश्यति बुधान्ब्रुवतः सदुक्तिं ।
> श्रुत्वा शृणोति स जडः कटु वाग्रहीव ॥
> ज्ञात्वा हिताहितजनाननिशं न वेत्ति ।
> लक्ष्मीमहाग्रहगृहीतजनो विभाति ॥ १९२ ॥

अर्थ—लक्ष्मीरूपी महाभूतसे गृहीत अज्ञानी व्यक्ति सज्जनोंको पहिले देखनेपर भी नहीं देखेके समान वर्ताव करते हैं, शास्त्रोंको सुननेपर भी अनसुनी कर देते हैं । अपने हित व अहितजनोंको जानकर भी नहीं जाननेके समान करते हैं, अनेक प्रकार भूतादि दुष्ट ग्रहोंसे गृहीत व्यक्तिके समान कटुवचनका उच्चारण करते हैं। इसलिये धनके मदसे मदोन्मत्त प्राणी ग्रहपीडितके समान ही हैं ॥१९२॥

नेक्षंते कलिसमयाश्रयाश्नराः किम् ।
बोधंते कनकसमाश्रयात्पुनः ॥
मन्यंते जनपसमाश्रयान्न किंचित् ।
कुर्वंति त्रिमदयुता इमे न किं तत् ॥ १९३ ॥

अर्थ—मनुष्य कलिकालके आश्रयसे ही किसीको देखना नहीं चाहता है, किसीको धन कनक मिलजाय तो वह मदोन्मत्त होजाता है, किसीको राज्यसत्ता व अधिकार मिलनेपर मदोन्मत्त होता है। इनमें किसीको एक साथ दूसरा कुछ भी मिले तो उनके अनर्थका कोई पार नहीं, ऐसी अवस्थामें कलिकाल, कनक, राज्याश्रय ये तीनों मद एकजगह मिल जाय तो फिर वे क्या नहीं करेंगे? सब कुछ अन्याय करनेको तैयार होंगे ॥ १९३ ॥

विघ्नः सद्यः फलति कृतिनामेव पुंसा कृतोऽयं ।
नीचस्पृष्टिः फलति कृतिनां सद्य एव द्विजानाम् ॥
क्ष्वेडः सद्यः फलति सुखिनां पन्नगस्येव नोऽस्त- ।
स्तस्माद्विघ्नं सुकृतिपुरुषो नैव कुर्यात्कदापि ॥१९४॥

अर्थ—जिसप्रकार दुष्ट सर्पके काटनेसे उसी समय विषोद्रेक होकर प्राणको अपाय पहुंचता है उसीप्रकार सत्पुरुषोंके मार्गमें विघ्न करनेसे उसका फल तत्क्षण मिलता है, नीचलोगोंके स्पर्शन ब्राम्हणोंको उसी समय फल देता है। इसलिये सज्जनोंको उचित है कि वे कभी सन्मार्गमें विघ्न नहीं करें ॥ १९४ ॥

आयुर्हंति रुजां करोति रिपुभिश्चोरैर्मृतिं न्यक्कृतिम् ।
कारागारनिवेशनं निगलदुर्बंधं सदा तद्धनं ॥
सर्वार्थापहृतिं ततो विहरणं लोकेऽपि भिक्षाटनं ।
दैन्योक्तिं विनोति त्वपःस्थितिमहो चित्रं कृतागःफलं॥१९५

अर्थ—बहुत आश्चर्यकी बात है, राजद्रोह धर्मद्रोहकरके अर्जित

पापोंसे प्राणियोंका बडा अहित होता है। राजाके द्वारा प्राणदण्डको प्राप्त होते हैं, अगर कदाचित् प्राणनाश न भी हुआ तो अनेक प्रकारके रोग कष्ट देते हैं। चोर या शत्रुओंके द्वारा मरण होता है। अनेक प्रकारसे तिरस्कार प्राप्त होता है। जेल जाना पडता है, वहां बेडी पडती है, अनेक प्रकारके कष्ट मिलते हैं, उसके धनको दूसरे लोग लूटके लेजाते हैं, वह भीख मांगने लगता है। दूसरोंके सामने दीनता व कातरता को धारण करता है। विशेष क्या ! उसका भारी अधःपतन होता है। यह सब उस धर्मापराधकृत पापका फल है॥ १९५॥

सप्तार्चिर्दहतीव सर्वमनिशं हंत्यर्कतेजो रसं।
क्ष्वेडो जीवितमामयः सुखयुगं देवर्षिराजादिषु॥
दम्पत्योः कुरुते विरोधमलयं सद्बंधुभृत्यादिषु।
प्रत्यूहः कृतकार्यलाभसमयेष्विष्टाश्रिहंतुं क्षमः॥ १९६॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मकार्योंमें, देवकार्योंमें व राजकार्योंमें विघ्न करता हो उसका अधःपतन होता है। जिस प्रकार अग्नि सर्व पदार्थोंको जलाता है उसी प्रकार यह पाप उसके सर्व कार्योंको नाश करता है। जिस प्रकार सूर्यका तेज पानीको सुखा देता है उसी प्रकार उसका भी तेज नष्ट होता है। विषसे जिस प्रकार प्राणघात होता है, रोगसे जिस प्रकार सुखका नाश होता है उसी प्रकार इस अंतरायकृत पापसे उसको सुख मिलता नहीं। इतना ही नहीं उस पापके कारणसे देवर्षि, राजा, राज्याधिकारी, बंधु, भृत्य व यहांतक की परस्पर दंपतियोंमें अविनाशी विरोध उत्पन्न होता है। उसके लिए जिस जिस कार्यमें भी लाभ होनेकी संभावना हो उसे यह अंतरायकृत पाप रोकता है॥१९६॥

कारुण्यांबु विशोषयन्नविमलज्ञानं समाच्छादयन्।
श्रद्धानं च विनाशयन्नविरतं चारित्रमुद्वेगयन्॥

नेक्षंते कलिसमयाश्रयात्नराः किम् ।
बोधंते कनकसमाश्रयात्पुनः ॥
मन्यंते जनपसमाश्रयान्न किंचित् ।
कुर्वंति त्रिमद्युता इमे न किं तत् ॥ १९३ ॥

अर्थ—मनुष्य कलिकालके आश्रयसे ही किसीको देखना नहीं चाहता है, किसीको धन कनक मिलजाय तो वह मदोन्मत्त होजाता है, किसीको राज्यसत्ता व अधिकार मिलनेपर मदोन्मत्त होता है। इनमें किसीको एक साथ दूसरा कुछ भी मिले तो उनके अनर्थका कोई पार नहीं, ऐसी अवस्थामें कलिकाल, कनक, राज्याश्रय ये तीनों मद एकजगह मिल जाय तो फिर वे क्या नहीं करेंगे ? सब कुछ अन्याय करनेको तैयार होंगे ॥ १९३ ॥

विघ्नः सद्यः फलति कृतिनामेव पुंसा कृतोऽयं ।
नीचस्पृष्टिः फलति कृतिनां सद्य एव द्विजानाम् ॥
क्ष्वेडः सद्यः फलति सुखिनां पन्नगस्येव नोऽस्त- ।
स्तस्माद्विघ्नं सुकृतिपुरुषो नैव कुर्यात्कदापि ॥१९४॥

अर्थ—जिसप्रकार दुष्ट सर्पके काटनेसे उसी समय विषोद्रेक होकर प्राणको अपाय पहुंचता है उसीप्रकार सत्पुरुषोंके मार्गमें विघ्न करनेसे उसका फल तत्क्षण मिलता है, नीचलोगोंके स्पर्शन ब्राम्हणोंको उसी समय फल देता है। इसलिये सज्जनोंको उचित है कि वे कभी सन्मार्गमें विघ्न नहीं करें ॥ १९४ ॥

आयुर्हंति रुजां करोति रिपुभिश्चोरैर्भृतिं न्यक्कृतिम् ।
कारागारनिवेशनं निगलदुर्बंधं सदा तद्धनं ॥
सर्वार्थापहृतिं ततो विहरणं लोकेऽपि भिक्षाटनं ।
दैन्योक्तिं विनतिं त्वधःस्थितिमहो चित्रं कृतागःफलं॥१९५

अर्थ—बहुत आश्चर्यकी बात है, राजद्रोह धर्मद्रोहकरके अर्जित

पापोंसे प्राणियोंका बड़ा अहित होता है। राजाके द्वारा प्राणदण्डको प्राप्त होते हैं, अगर कदाचित् प्राणनाश न भी हुआ तो अनेक प्रकारके रोग कष्ट देते हैं। चोर या शत्रुओंके द्वारा मरण होता है। अनेक प्रकारसे तिरस्कार प्राप्त होता है। जेल जाना पड़ता है, वहां बेड़ी पड़ती है, अनेक प्रकारके कष्ट मिलते हैं, उसके धनको दूसरे लोग लूटके लेजाते हैं, वह भीख मांगने लगता है। दूसरोंके सामने दीनता व कातरता को धारण करता है। विशेष क्या ! उसका भारी अधःपतन होता है। यह सब उस धर्मापराधकृत पापका फल है॥ १९५॥

सप्तार्चिर्दहतीव सर्वमनिशं हंस्यर्कतेजो रसं।
क्ष्वेडो जीवितमामयः सुखयुगं देवर्षिराजादिषु॥
दम्पत्योः कुरुते विरोधमक्षयं सद्बंधुभृत्यादिषु।
प्रत्यूहः कृतकार्यलाभसमयेप्विष्टाविहंतुं समः॥ १९६॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मकार्योमें, देवकार्योमें व राजकार्योमें विघ्न करता हो उसका अधःपतन होता है। जिस प्रकार अग्नि सर्व पदार्थोंको जलाता है उसी प्रकार यह पाप उसके सर्व कार्योंको नाश करता है। जिस प्रकार सूर्यका तेज पानीको सुखा देता है उसी प्रकार उसका भी तेज नष्ट होता है। विषसे जिस प्रकार प्राणघात होता है, रोगसे जिस प्रकार सुखका नाश होता है उसी प्रकार इस अंतरायकृत पापसे उसको सुख मिलता नहीं। इतना ही नहीं उस पापके कारणसे देवर्षि, राजा, राज्याधिकारी, बंधु, भृत्य व यहांतक की परस्पर दंपतियोंमें अविनाशी विरोध उत्पन्न होता है। उसके लिए जिस जिस कार्यमें भी लाभ होनेकी संभावना हो उसे यह अंतरायकृत पाप रोकता है॥१९६॥

कारुण्यांबु विशोषयन्प्रविमलज्ञानं समाच्छादयन्।
श्रद्धानं च विनाशयन्नविरतं चारित्रमुल्लंघयन्॥

आदेयं प्रविमोचयन्गुणगणानुन्मूलयन्ग्राहयन् ।
सोऽयं दुष्कृतराड्विभाति विमले शुभे सदोदासयन् ॥

अर्थ——यह पापरूपी राजा क्षारजलको गरम करके सुखानेवाले नीचोंके समान करुणारूपी जलको जलाता है, मेघ सूर्यको, करण्ड रत्नको व घडा दीपकको जिस प्रकार आच्छादित करता हो वह निर्मल ज्ञानको आच्छादित करता है । विश्वासभ्रष्ट करनेवाले जार पुरुषके समान, स्वामिभृत्य–विश्वासको नष्ट करनेवाले दुर्जनोंके समान, देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले रागके समान, कपडेकी सिलाई को छुडानेवाले धोबीके समान श्रद्धानभ्रष्ट करता है । अपने वंशगत धर्मपुण्यको नष्ट करानेवाली वेश्याके समान चारित्रसे भ्रष्ट करता है । गर्भकलंक करने वाले भूतोंके समान, शिशुहत्या करनेवाली विधवाओंके समान आगे प्राप्यपुण्यको नष्ट करता है, अच्छे डोरोंको काटनेवाले चूहोंके समान, शुद्ध तपोगुणको नष्ट करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान गुणों को नष्ट करता है, हेयमें उपादेय व उपादेयमें हेयबुद्धि उत्पन्न करता है । निर्मल पुण्यलाभ में सदा विघ्न करता है । इसलिये देव, राज, धर्मकार्यमें कभी विघ्न नहीं करना चाहिये ॥ १९७ ॥

विघ्नान्वितस्य नृपतेर्विषयो बलं च ।
ग्रंथा विनश्यति यथा कुजनस्य संगात् ॥
शास्त्रं सुबुद्धिरमला च विवेकिता च ।
कर्पूरमिश्रतिलजस्य भवेज्जनोऽयम् ॥ १९८ ॥

अर्थ— जैसे दुर्जनोंके संगतिसे शास्त्रज्ञान, सुबुद्धि, विवेक आदि सद्गुण नष्ट होते हैं उसी प्रकार, देवधर्म–कार्यमें विघ्न करनेवाले राजाके आश्रयमें रहनेवाले देश व प्रजायें नष्ट होती हैं, वह स्वयं कर्पूरमिश्रित तेलको पीनेवालेके समान अपना अहित कर लेता है ॥ १९८ ॥

६८१२

सततमभयदानान्निर्भयो निर्जितारि- ।
त्रिभुवनजननेत्रेन्दीवरानंदचंद्रः ॥
स्वजनसुरमहीजः कामिनीनां मनोजः ।
स भवति परमश्रीकामिनीकांतरूपः ॥ १९९ ॥

अर्थ—सदाकाल अभयदान करनेसे मनुष्य निर्भय बनता है । सर्व शत्रुवोंको जीतनेवाला होता है, तीन लोकके मनुष्योंके नेत्ररूपी नीलकमलको हर्ष उत्पन्न करनेवाले चंद्रमाके समान बन जाता है, स्वबंधु व देवोंके द्वारा भी वह पूज्य व स्त्रियोंके लिये कामदेवके समान सुंदररूप बन जाता है । इतना ही नहीं वह इसी अभयदानके फलसे मुक्तिलक्ष्मीका पति बन जाता है ॥ १९९ ॥

दयांबुसिक्तामृतसूर्यतप्ता- ।
मचौर्यसद्दोहळशोभमानाम् ॥
सती सुरक्षावृतिकामकांक्षा ।
हिमाक्तिलक्ष्मीं लतिका वहंती ॥ २०० ॥

अर्थ—यह अभयदानरूप लता दयाजलसे सींची गई है, मरणका अभाव अर्थात् जीवनरूपी सूर्यसे प्रकाशित हो रही है, चोरी नहीं करना एतत्स्वरूप दोहदसे वह पुष्ट होगयी है, प्राणियोंका रक्षण करना यही इसकी वृति है-बाड है । तथा निस्पृहतारूपी ठंडे आलबाल की शोभा धारण करती है ॥ २०० ॥

शुद्धस्याभयदानस्याहारदानस्य यत्फलम् ॥
शबरः क्षत्रियो भूत्वा लोमदत्तेन चाब्रवीत् ॥ २०१ ॥

अर्थ—शुद्ध अभयदान व आहारदानके फलसे एक भिल्ल उसी जन्म में मरकर क्षत्रिय हुआ व लोमदत्त नामके व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष बोला । इसलिए अभयदान का फल अचिंत्य है ॥ २०१ ॥

भावो देश इवान्वयः पुरमिवावासः कृतोऽन्यैर्वपु– ।
र्माता श्रीरिव सा पिता जनपकात्पौराः प्रजा बांधवाः ॥
क्षेत्रं क्षेत्रमिवात्मजा इव सुसस्यौघाः कथं तत्र भोः ।
कां प्रीतिं कुरुते भवाग्निजकृतेः प्रीतिं कुटुंबी यथा ॥२०२॥

अर्थ—हे भव्य ! संसारके प्रति मोह बढाना उचित नहीं है । यह संसार देशके समान है । अपना कुल नगरके समान है । शरीर दूसरोंके द्वारा बनाया हुआ मकानके समान है, माता संपत्तिके समान व पिता राजाके समान है । बंधुजन पुरवासी प्रजावोंके समान हैं । क्षेत्र खेतके समान है व अपने पुत्र सस्यसमूहके समान हैं । ऐसी अवस्थामें इन संसारवृद्धिके कारणोंमें क्यों प्रीति करते हो अर्थात् उपर्युक्त सभी संसारमोहको वृद्धि करनेवाले हैं । उनमें मोह छोडना यह विवेकियोंका कर्तव्य है ॥ २०२ ॥

स्यात्पंचव्रतसालपंचकधृते देहेऽघराजावृते ।
दुर्भावाः खलु वृत्तयो रिपुनृपं दृष्ट्वा पतित्वा ततः ॥
भूयुस्ते शिथिलाः पतंति तरुणीमत्तेभदृक्स्पृष्टितो ।
नातः शुद्धिरसं व्रतं च न बलं साध्यस्त्वयार्यं ध्रुवं ॥२०३

अर्थ—पंचमहाव्रतरूपी पंच परकोटसे रक्षित इस शरीररूपी राज्यको जब पापराजा आकर घेरते हैं, तब मिथ्यात्व, दुराचरण आदि शत्रु राजावोंको देखकर एवं तरुणीरूपी मदोन्मत्त हाथीको देखने व स्पर्शसे यह सुरक्षित राज्यस्थित आत्मा अपने स्थानसे विचलित होता है एवं शिथिल होजाता है जब उसके अंतरंग शुद्धि नहीं रहती है और न व्रतमें शुद्धि रहती है और न कोई आत्मशक्ति रहती है। इसलिये हे भव्य ! हरसमय मिथ्यात्वादि दुर्भावोंसे अपनेको बचाये रखो ॥२०३॥

या विद्या फलदा तथैव चतुरा भाग्यं लभंते सदा ।
तत्रासक्तिरनूद्यमःसुपठनं तस्याःश्रुतिश्चिंतनम् ॥

येषां संति स एव सौख्यमुभयं तत्रैहिकामुत्रिकं ।
पंचैतानि न येषु ते भुवि पुरो दीना भवेयुर्ध्रुवम् ॥२०४॥

अर्थ—जो विद्या फलप्रद हैं या जिससे विद्वान् लोग भाग्यशाली बनते हैं उसी विद्यामें आसक्ति, लीनता, पठन पाठन, श्रुति व चिंतन करना उचित है अर्थात् स्वपरहित करनेवाली विद्यामें मनुष्यको आसक्त होना चाहिये, उसीमें लीन होना चाहिये उसी विद्याका रातदिन पठनपाठन करते रहना चाहिये और उसीका मनन करना चाहिये। जो इस प्रकार करते हैं उनको इहलोक–परलोक संबंधी सुख मिलते हैं। ये पांच बातें जिनमें नहीं हैं उनको कोई सुख नहीं मिलता है प्रत्युत वे आगे दरिद्री होते हैं ॥ २०४ ॥

स्थाने यैर्दलवाजिभिः स्वविषयैःपूर्णैर्नृपैर्दुर्गमै–।
र्सिंधुग्रामवनैस्सखेय वरणैःकुड्यैर्हितारक्षकैः ॥
द्वास्थैः प्राहरिकैर्व्ययागमकरैर्द्वीपैश्च तै रक्षितं ।
यत्तद्द्रव्यमिवातिकंटकयुतं पुण्यं महीवावतात् ॥ २०५॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने खजाने व राज्य जो बहुत आपत्ति पूर्ण है उनके रक्षाकेलिये अनेक प्रकारसे प्रयत्न करता है अर्थात् अपनी सेनासे युक्त होकर हत्ती, राज्य, आधीनस्थ राजा, दुर्गम नदी, ग्राम, वन, खाई; दीवाल, रक्षक हितैषी, नगरद्वार रक्षक, प्राहरिक, बडे२ दरवाजे, व बहुत धनका व्यय और प्राप्ति जिनसे होती है ऐसे द्वीप इन सबकी सहायता से राजा जिस प्रकार अपने खजाने की रक्षा करता है उसी प्रकार यह राजा अपने निर्मल पुण्य को भी इन सब की सहायतासे आपत्तियोंसे रक्षण करें ॥ २०५ ॥

अभयदानमभयंकरमायामुगतिदानचतुरं सुखधाम ।
विदितचारुयशःकुलगेहं सकलजीवनिलयं प्रवदंति ॥

अर्थ—सज्जनोत्तम पुरुष अभयदानको अभय उत्पन्न करनेवाला

हुआ ऐसा न समझना चाहिये। यह मैंने धर्मके लिए ही दिया, ऐसा सत्पुरुषोंको विचार करना चाहिये ॥ २०९ ॥

धर्मोपकारिभूपेन गृहीतं यत्सम धनं ॥
मयाद्य दत्तं तत्सर्वं ममावं नेति चिंतयेत् ॥ २१० ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंको सदा यह भावना करनी चाहिये कि मैंने आज धर्मोपकारी राजाको जो कुछ भी धन दिया है और जो उसने ग्रहण किया है, वह पापके लिए नहीं अपितु पुण्यार्जनके लिए दिया है ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २१० ॥

निजग्रामाधिपेनाद्य यावद्रव्यं समाहृतं ॥
तत्सर्वं दण्डवद्दत्तं मया जीव न चिंतयेः ॥ २११ ॥

अर्थ—मैंने आज अपने ग्रामाधिपके लिए जो दण्डके रूप में द्रव्य दिया है वह सब अन्यायके लिए नहीं दिया धर्मके लिए दिया है इसलिए उस विषय में मुझे चिंता नहीं करनी चाहिए ऐसा सत्पुरुष विचार करें ॥ २११ ॥

मतं समस्तैः ऋषिभिर्यदार्हतैः।
प्रभाप्तुरात्मावनदानशासनम् ॥
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥२१२॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २१२ ॥

इत्यभयदानविधिः

दानशालालक्षण.

प्रणम्य जिनं भक्त्या संसंश्रुत्य गुरोर्वचः ।
निर्दोषपुण्यदं दानशालालक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् जिनेंद्रको भावशुद्धिसे नमस्कार कर एवं मन वचन कायकी शुद्धिसे सद्गुरुवोंके उपदेश सुनकर, अब आगे निर्दोष व पुण्यप्रद दानशालाका स्वरूप कहेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

नवीन गृहसंस्कार

गोमयचूर्णविलिप्तं शुद्धं पुण्याहवाचनाहोमाभ्याम् ।
सिक्तगंधांबुनव्यं गेहं मुनिभोजनाय योग्यं स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—जो मकान पहिले चूना व गोबर से अच्छीतरह लिप्त हो, तदनंतर पुण्याहवाचना होम आदि संस्कारके द्वारा शुद्ध करके गंधोदक से सिक्त हो, ऐसा नवीन गृह मुनिभोजनके लिये योग्य है ॥ २ ॥

पुराणगृहसंस्कार

मत्ने सद्मनि सूतकीकासि कुदृक्शूद्राश्रयेऽप्यास चे– ।
द्रोवत्सैर्वासिकोपि गोमयपयःसंसिक्तभित्तिच्छदिः ॥
होमेनापि सुगंधतोयविमलं गोविट्पविभांगणं ।
तत्राईरपदसेवकः सुदगयं भुंजीत योगीश्वरः ॥३॥

अर्थ—सूतकी, चाण्डाल, मिथ्यादृष्टि व शूद्रोंका निवास जिसमें होगया हो ऐसे पुराने मकानमें भी विना शुद्ध किये व्रतिक व महाव्रतियोंको भोजन नहीं लेना चाहिये । सबके पहिले गोबरके पानीसे दीवाल वगैरको गीलाकर लीपना चाहिये । फिर पुण्याहवाचनापूर्वक होम करके निर्मल गंधोदकका सेचन करना चाहिये एवं बाहरके अंग-

१ वास्तुविधि, विमानशुद्धिः

णको भी गोबरसे पवित्र करना चाहिये। ऐसे घरमें अर्हत्परमेष्ठीके चरण-भक्त व सम्यग्दृष्टी मुनि भोजन करें ॥ ३ ॥

सर्वथा आहारवर्जनस्थान.

मिथ्यादृशां च मांसादां गेहे जैनाश्रये सति ।
नायात्तत्र नवे कृत्वा शुद्धेऽत्युर्व्रतिकादयः ॥ ४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि व मद्य, मांस, मधु के सेवकोंके द्वारा आश्रित घरमें कोई जैनी रहता हो तो उस घरमें जैनमुनि आहार नहीं ले सकते हैं। यदि उस घरको नवीन कर पूर्वोक्त प्रकारसे होम पुण्याह-वाचना आदि संस्कारोंके द्वारा शुद्ध करें तो व्रतिक उसमें आहार ले सकते हैं ॥ ४ ॥

मंगलगृह.

यत्यहं गोमयांभोभिः पूर्णसंसिक्तचत्वरं ।
सद्दृष्टिगोचरं योगिप्रवेशायातिमंगलं ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस घरके प्रांगण प्रतिनित्य गोमयके पानीसे सिंचित हुआ दृष्टिगोचर होता हो, वह घर मुनियोंके प्रवेशके लिये अत्यंत मंगल है ॥ ५ ॥

सम्यक्फलितसस्यौघं सुक्षेत्रं वीक्ष्य निस्तृणं ।
सर्वे शंसंति तं तच्च दातारं मुनयस्तथा ॥६॥

अर्थ—जिस खेतमें अच्छे फल व सस्य हो उस खेतको देखकर राहगीर लोग उस खेतकी व उस खेतके मालिककी प्रशंसा करते हैं, ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकारके मंगलगृह व उसके मालिक दाताको सज्जनलोग प्रशंसा करते हैं ॥ ६ ॥

यतिमुक्तिगृहं शस्तं सर्वसंकल्पवर्जितं ॥
यद्गृहं सर्वमखिलं रक्षेत्सर्वमंगलतः ॥७॥

अर्थ—जिस घरमें प्रवेश करनेसे मुनियोंके चित्तमें क्षोभ या अन्य

संकल्प न होता हो वह घर प्रशस्त है। उस घरके सर्व बरतनोंको एवं अन्य पाकोपकरणोंको बहुत प्रयत्नके साथ रक्षण करना चाहिये ॥७॥

अप्रशस्त गृह.

चण्डालसूतकीयुक्ते स्यान्न तत्रोचितं गुरोः ।
स्फुलिंगदग्धपटवद्राजयोग्यं न सर्वथा ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आगसे जला हुआ वस्त्र राजाके योग्य कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिसके घरमें चण्डाल व सूतकी रहते हों वहांपर भोजन करना गुरुवोंको कभी उचित नहीं है ॥ ८ ॥

गुरुवोंके आगमनकालमें सूतकियोंका कर्तव्य.

तिष्ठेच्चलं विनैकत्र प्रसूता स्त्रीव सूतकी ।
चण्डालो न विशेज्जैनगेहचत्वरमेकदा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रसूत स्त्री इधर उधर न जाकर एक जगह बैठती है उसी प्रकार सूतकियोंको भी मुनिचर्याके समय एक जगह बैठ जाना चाहिये। चण्डाल जैनियोंके मकानमें कभी प्रवेश न करें ॥९॥

गुरूणामागतौ तिष्ठेत् गोप्यस्थानेऽपि सूतकी ॥
तद्दृष्टिविषयी भूत्वा न तिष्ठेन्न नमेद्वदेत् ॥१०॥

अर्थ—अपने घरमें गुरुवोंके आनेपर सूतकी व रजस्वला स्त्री गुप्त स्थानमें जाकर बैठें और ऐसे स्थानमें न बैठें जहां उन गुरुवोंके दृष्टिगोचर हों। ऐसे समय में गुरुवोंको नमस्कार नहीं करना चाहिये और न बोलना चाहिये ॥ १० ॥

देवगुरुयोग्यसेव्ये पीते पीडाज्यदुग्धदधितक्रे ॥
प्रतिकौकासि वत्सो गौर्नश्यति न क्षरति दुग्धं चाग्रे ॥११

अर्थ—देव गुरुवोंकी सेवाके योग्य दूध, दही आदिको जो स्वयं खालेता है उसके गाय भैंस आदि मरजाते हैं, कदाचित् जीवें तो भी

दूध नहीं देते अर्थात् ऐसे द्रव्योंको हमें खाना उचित नहीं है ॥११॥

अशुचित्वं कुरुते यश्चीचकुले जन्म नीचमाहारं ॥
हिंसाद्यकृत्यवृत्तिस्ततो भवे दुर्गतिस्थितिर्भ्रमति ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य गुरुओंके भोजनस्थान को व देवोंके पूजन स्थानको अशुद्ध रखता है, वह आगामी भवमें जाकर नीच कुलमें जन्म लेता है, नीच आहार सेवन करनेवाला होता है, हिंसादि पंच पापोंमें रत होता है। इसी प्रकार नरकादिदुर्गतिमें भ्रमण करता रहता है ॥ १२ ॥

चाण्डालके लिए जैनगृहप्रवेशनिषेध

स चाण्डालेक्षणे स्वप्ने भूतमेनोऽथवा वदेत् ॥
तत्र गेहं गते सद्यः पुण्यश्रीर्विषभागिव ॥ १३ ॥

अर्थ—स्वप्नमें चण्डालको देखनेपर उसका फल भूतोंका संचार व अपने शौच की हानिको बतलाना चाहिये । चण्डालका स्पर्श हुआ तो ज्ञानहानि, उसके साथ भोजन करें तो मिथ्यात्वकी वृद्धि आदि फल होते हैं। इस प्रकार जिस चाण्डालका दर्शन, स्पर्शन आदि स्वप्नमें भी दूषित है, वह प्रत्यक्षमें यदि किसी जैनघरमें प्रवेश करें तो उस घर की पुण्यलक्ष्मी विषबाधासे पीडितके समान विना कहे भाग जाती है ॥ १३ ॥

चाण्डालादिस्पृष्टपाथःसेकात्सस्यं न नश्यति ॥
सूतकीस्पृष्टवाःसेकात्तत्प्रवेशाद्विनश्यति ॥ १४ ॥

अर्थ—चाण्डालोंके हाथसे स्पृष्ट जलके सेचनसे कोई वृक्ष वगैरह नाश नहीं होते हैं । सूतकी अर्थात् रजस्वला आदिके द्वारा स्पृष्ट होनेसे वह वृक्षादिक नाश होते हैं । परंतु जैनगृह प्रवेशके विषय में चाहे चाण्डाल हो चाहे स्त्री हो दोनोंकी समानता है। उनके द्वारा प्रविष्टगृह उनको (व्रतियोंको) आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥१४॥

ये वसंत्यशुचौ गेहे पात्रदानादिके कृते ॥
ग्रहादिभिस्सदा तेषामाधयो व्याधयः क्षयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो श्रावक पात्रदानादि सत्कार्यको करनेके लिए अशुचि गृहमें रहते हैं, उन लोगोंको सदाकाल भूतप्रेतादियोंसे एवं चोर, जार इत्यादि दुर्जनोंसे अनेक प्रकारके संकट उपस्थित किये जाते हैं, जिस कारणसे उनको सदा मानसिक चिंता व रोगबाधा बनी रहती है ॥१५॥

सूतकोच्छिष्टविण्मूत्रे नीचसंवेष्टिते स्थले ॥
कृते सत्पात्रदानेऽस्मिन्पुराधिव्याधयोऽधिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—सूतक, उच्छिष्ट, मल, मूत्र व चाण्डालादिके द्वारा स्पृष्ट स्थानमें जो सत्पात्रदान देता है उसे अधिक रोगादि बाधा उपस्थित होजाती है ॥ १६ ॥

क्षेत्रमादावसंस्कृत्य पश्चाद्बीजं वपन्निव ॥
पात्रं गेहमसंस्कृत्वा चान्नदानाल्लयं व्रजेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान योग्य समयमें खेतका संस्कार नहीं करके बीज बोवे तो उससे कोई उपयोग नहीं होता है उसी प्रकार अन्नदान देने योग्य क्षेत्र अर्थात् घरका संस्कार न करके यदि दान देते हैं तो उससे कोई फल नहीं होता है ॥ १७ ॥

संस्कृत्य क्षेत्रमेवादौ पश्चाद्बीजं वपन्निव ॥
गेहं पात्रं च संस्कृत्य कृतदानात्सुखी भवेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेतको पहिले गोबर आदिसे संस्कार करके पीछे बीज बोता है तो उस खेतमें सस्यवृद्धि वगैरह अच्छीतरह होकर फलकी प्राप्ति होती है जिससे किसान सुखी होता है उसी प्रकार दानशालाको होम पुण्याहवाचना आदिसे संस्कृत कर एवं उसमें रहनेवाले दानपात्रोंको भी शुद्ध कर उपलक्षणसे मन वचन कायको

भी शुद्धि कर दान देवें तो वह दाता सुखी होता है ॥ १८ ॥

स्नाता धौतशिरस्काः सुधौतदशनाः पुत्रादिलोकास्पृशो- ।
गोविट्पूतगृहेऽनिवेशितजने सत्यग्रभाण्डादिभिः ॥
पक्वैर्मृष्टभना बहुप्रयतना वाञ्जैश्चतुर्भिर्मुदा ।
स्वान्देवानिव पूजयंति बहुधोत्साहैर्मुनीन्धार्मिकाः ॥१९॥

अर्थ—धार्मिक जन प्रतिनित्य दंतधावन करके, आमस्तक स्नान करें। तदनंतर पुत्र आदि बिना स्नान किये लोगोंका स्पर्श न करें। अपने घरके अंगणको गोमयसे पवित्र करें एवं उसमें इतर अस्पृश्यादि लोगोंका प्रवेश नहीं होने देवें। और पूर्वोक्त प्रकार संस्कृत रसोई घरमें संस्कृत पात्रोंसे तैयार किये हुए भोजनको अनेक प्रकारके उत्साहसे मुनियोंको अर्पण करें। इतना ही नहीं, जिस प्रकार वह अपने देवोंकी उपासना व भक्ति करता है उसी प्रकार मुनियोंके प्रति भी भक्ति करें ॥ १९ ॥

साधुपादरजाकीर्णं शुचि यद्गेहमंगणं ॥
ग्रहाहिवन्हिकीटाद्याः प्रविशंति न तद्गृहम् ॥ २० ॥

अर्थ—साधुवोंके पादधूलसे जिस घरका अंगण पवित्र होगया हो, उस घरमें भूतपिशाचादि दुष्ट ग्रहोंका प्रवेश नहीं होता है, सर्पादिक विषैले जंतु वहां नहीं आते हैं एवं अग्नि, चोर आदिका उपद्रव नहीं होता है। और न घरमें कीडे आदि क्षुद्र जंतुवोंको ही बाधा होती है ॥ २० ॥

पुण्यपुत्राः प्रजायंते तत्र श्रीरेधते सदा ॥
द्रव्यं गृहागतं पुण्यं भूरि भूत्वा प्रवर्धते ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस घरमें मुनियोंका पदार्पण हुआ हो उसमें पुण्यपुत्र अर्थात् कुलकी कीर्ति बढानेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं। एवं उस घरमें

संपत्ति सदा बढती है। एवं उस घरमें आया हुआ द्रव्य व पुण्य अत्यधिक होकर बढता है ॥ २१ ॥

राजाद्यागमनोत्साहे गृहशोभां च कुर्वते ॥
सुपात्रागमने जैनाः स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ॥ २२ ॥

अर्थ—इहलोकमें हमारे रक्षक राजा आदिके आगमनके समय जिस प्रकार प्रजाजन अपने घरकी सजावट करते हैं, उसी प्रकार धार्मिक जन स्वर्गमोक्षको प्रदान करनेवाले सुपात्रोंके आगमनके समयमें अपने घरकी सजावट या शोभा करते हैं ॥ २२ ॥

महाय बंध्वागमने जनास्तदा ।
गृहांगणद्वारमतीव शोभनं ॥
धनक्षयायैव न कुर्वतेंहसे ।
बुधास्सुपात्रागमने न किंचिदाः ॥ २३ ॥

अर्थ—लोकमें विवाहादि कार्यमें जब बंधुओंका आगमन होता है उस समय सब लोग अपने घर, अंगण आदिको खूब सजाते हैं इतना ही नहीं, अपने शरीरको भी सजाते हैं। परंतु यह सब संसारवृद्धि के लिए कारण है एवं इनसे धनहानिके सिवाय कोई लाभ नहीं है। परंतु खेद है कि लोग अपने घरको सत्पात्रोंके आगमनके समय कुछ भी नहीं करते हैं ॥ २३ ॥

महाय बंध्वागमने जनास्सदा ।
गृहांगणद्वारमतीव शोभनम् ॥
वृषं श्रियं लब्धुमयं च सद्गतिं ।
बुधास्सुपात्रागमने द्विषामृते ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोग विवाहादि कार्योंके समय बंधुओंके आगमनमें घरके द्वारकी शोभा करते हैं, इस प्रकार सुपात्रोंके आगमनके समयमें धर्म, संपत्ति, आरोग्य व स्वर्गमोक्षादिकको प्राप्त करने के लिए नहीं करते हैं। खेद है ! ॥ २४ ॥

पापी स्त्रियां.

स्त्रियस्तु बंध्वागमने महोज्ज्वलाः ।
सुधौतवस्त्राः शुचयो महोत्सवाः ॥
भवंति पात्रागमने सकच्चरा ।
मलीमसांगा मलिनाशयास्सदा ॥ २५ ॥

अर्थ—बहुतसी स्त्रियां अपने घरमें बंधुओंके आगमनके वृत्तांत पाकर न्हा धोकर स्वच्छ हो जाती हैं एवं अच्छे २ कपडे, गहने पहनकर अपने घर में कोई उत्सव हो जैसे रहती हैं। परन्तु खेद है कि *पात्रोंके आगमनके समयमें खराब कपडे पहने रहती हैं । शरीरको ही* नहीं, मन को भी मैला कर लेती हैं ॥ २५ ॥

सर्वे सर्वाणि वित्तानि दीनेभ्यो ददते मह ॥
दातारो याचकास्संति ते ते तानि शुपाय न ॥ २६ ॥

अर्थ—लौकिककार्यों के लिए सर्वजन याचकोंके इच्छित द्रव्य को दानमें देते है, उस में दातार भी है याचक भी है। परंतु धर्म कार्योंके लिए दातार भी नहीं, याचक भी नहीं है। कदाचित् याचक भी हों तो दातार नहीं हैं ॥ २६ ॥

पुण्यवती स्त्रियां.

स्त्रियः कृतायाः सदया महोत्सवाः ॥
सुधौतवस्त्राः शुचयो महोज्ज्वलाः ॥
भवंति पात्रागमनेषु ते च ता ।
मनोवचःकायविशुद्धयश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—पुण्यवान् दयालु स्त्री पुरुष पात्रोंके आगमनमें सुंदर वस्त्र को पहननेवाली व महान उत्सववाली हो जाती हैं, इतना ही नहीं उन के मनवचन काय की शुद्धि होती है। यह उन का पूर्वपुण्य व भक्ति का फल है ॥ २७ ॥

दानशालाकी पवित्रता.

मुनिभुक्तिगृहेऽन्येषां भोजने यदि तत्फलं ॥
कुण्डेवद्याति तद्रक्षेद्गृहं स्वगृहवत्सदा ॥ २८ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार देने योग्य भोजनशाला में उनके आहारवेलाके पहिले किसीको भोजन नहीं कराना चाहिये, यदि करावें तो दानका फल धान्यके भूसाके समान व्यर्थ जाता है। इसलिये उस घरको अपने घर (की) के समान रक्षण करना चाहिये ॥ २८ ॥

यस्यादिभुक्त्यगारेस्मिन् कृतान्यैर्भुक्तिरेव चेत् ॥
यावद्दानं कृतं तावन्नष्टं भिन्नतटाकवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार दान देने योग्य दानशालामें यदि उनको आहार देनेके पहिले किसीने भोजन किया तो उस दातारने जितना दान दिया हो वह सब व्यर्थ जाता है, जिसप्रकार तालावके फूटनेपर पानी चला जाता हो ॥ २९ ॥

यस्यादिभुक्त्यगारे विण्मूत्रलिप्तशिशौ स्थिते ।
रोगः पुण्यवतो मृत्युरपुण्यस्य शिशोर्भवेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—मुनियोंको दान देने योग्य पवित्र दानशालामें मलमूत्रसे लिप्त यदि बालक हो तो उस बालकका अनिष्ट होता है। यदि वह बालक पुण्यवान् हो तो रोगी होता है, यदि पुण्यहीन हो तो मरण प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

यस्यादिभुक्त्यगारे विण्मूत्रवासस्थितिर्यदि ॥
रोगी भवेच्छिशोस्तस्यां सत्पुत्रोऽपि न जायते ॥ ३१ ॥

अर्थ—पात्रदान देनेयोग्य दानशालामें यदि मलमूत्रसे युक्त कपडा वगैरह हो तो बालक रोगी हो जाता है, इतना ही नहीं उस माताके गर्भमें फिर कुलवर्धक सत्पुत्रोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३१ ॥

शिश्वादोले स्थिते पात्रचित्ते विण्मूत्रसंस्मृतिः ॥
स्यात्तयैव तयोरंतरायः पुण्यश्रियोर्लयः ॥ ३२ ॥

अर्थ—दानशालामें या बाहर बच्चोंको सुलानेका झूला हो तो पात्रोंको उसे देखकर मल, मूत्रोंका स्मरण आजाता है, जो कि आहारमें अंतरायका कारण है। आहारमें अंतराय होनेसे दाता व पात्र दोनोंकी पुण्यलक्ष्मी नष्ट होजाती है ॥ ३२ ॥

तृणावृतेऽत्र सस्यानि वर्द्धंते किं फलंति किं ?
नीचोच्छिष्टेऽङ्गणे गेहे पुण्यायुःश्रीतुजस्तथा ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बहुतसे घास फूस वगैरहसे युक्त खेतमें सस्यकी वृद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार मल, मूत्र, उच्छिष्टादिसे युक्त अंगण, पाकगृह वगैरह जहां हो उस घरमें संपत्ति व संतानोंकी वृद्धि नहीं होती और न पुण्य व आयुकी वृद्धि होती है ॥ ३३ ॥

मिथ्यादृङ्नीचविण्मूत्रोच्छिष्टमिश्रेऽङ्गणे गृहे ॥
क्लिश्यते श्रीःसपत्नीव क्षीयते दैन्यमेधते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस घरमें मिथ्यादृष्टि व नीचोंका संसर्ग हो, मलमूत्र, उच्छिष्ट आदिसे युक्त अंगण हो, उस घरमें संपत्ति सपत्नके समान खिन्न होती हैं, एवं नाशको पाती है। दीनता बढती जाती है ॥ ३४ ॥

बहु व्ययंति पुत्राय कन्यादाने कुलर्द्धये ॥
भिन्नगेहं न कुर्वंति मुनिभक्त्यै वृषर्द्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—संसारमें अपने पुत्रोंके लिए, कन्यादानके लिए, और भी संसारवर्द्धन कार्यके लिए बहुतसे द्रव्यका व्यय करते हैं। परंतु जिससे धर्मवृद्धि होती है ऐसे मुनिदानके लिए सर्वदोषरहित भिन्न घरका निर्माण नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥

क्षेत्रे सर्वाणि धान्यानि वपंतः कृषिका इव ।
जैनाः पृथग्गृहेष्वन्नदानं कुरुत सर्वदा ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग गोबर आदिसे संस्कृत भिन्न खेतोंमें भिन्न २ धान्यको बोते हैं, उसी प्रकार होम विधानादिसे संस्कृत दानशालामें ही जैन आहारदान देवें। यहां आहारदानके लिए पृथक् दानशालाके निर्माण का यही अर्थ है कि वह शाला अच्छी तरह संस्कृत होना चाहिये। मलमूत्र उच्छिष्ट आदिका संसर्ग नहीं होना चाहिए एवं खास बात यह है कि उसमें मिथ्यादृष्टि भोजन नहीं करें, सम्यग्दृष्टि श्रावक ही भोजन करें, ऐसे घरमें ही मुनियोंको दान देना उचित है। ॥ ३६ ॥

मतं समस्तैर्ऋषिभिर्यथार्हतैः।
प्रभासुरात्मावनदानशासनं ॥
मुदे सतां पुण्य धनं समर्जितुं।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ ३७ ॥

इति दानशालाविधिः।

पात्रसेवाविधिः ।

प्रणम्य जिनपादाब्जयुगं त्रैलोक्यमंगलं ॥
वक्ष्ये जिनमुनींद्रादिपात्रसेवात्मकं विधिं ॥ १ ॥

अर्थ—तीन लोकके लिये मंगलस्वरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रभगवंतके चरणकमलको नमस्कार कर जिनमुनींद्र आदि पात्रोंकी सेवाविधि इस प्रकरणमें कहेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा आचार्यपरमेष्ठी करते हैं ॥ १ ॥

दानविधि.

नवोपचारकरणं यन्मुनेरादरेण तं ॥
संतस्सद्विधिमाख्यांति धान्यार्जनविधिर्यथा ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आहारदानके लिए साधनभूत धान्यादिकोंके प्राप्ति के लिए अनेक प्रकारकी विधि करनी पडती है अथवा खेतमें धान्यकी उत्पत्तिके लिए अनेक प्रकारकी क्रिया करनी पडती है। उसी प्रकार पात्रको आदरके साथ नव प्रकारसे उपचार करना उसे सज्जन लोग सद्विधि कहते हैं ॥ २ ॥

दानक्रम.

देशकालागमविधिं द्रव्यं पात्रक्रमो यथा ।
दानं देयं तथा दात्रा क्षेत्रे कृष्यधिपो यथा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेती करते समय देश, काल, आगम, विधि आदि जानकर बीजको बोता है, उसी प्रकार योग्य देश, उचित कालमें, आगमोक्त विधिको ध्यानमें रखकर संस्कृत द्रव्यको उत्तम पात्र को दान देवें। सचमुचमें वही उत्तम दाता है ॥ ३ ॥

देशगुण.

देशप्रवृत्तिसंक्रुद्धदोषोपशमकारणम् ॥
दोषरोगहराहारो देयस्तद्देशवेदिभिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जांगल, अनूप, साधारण आदि देशके अनुसार प्रवृत्ति करना वात, पित्त, कफ आदि दोषोंके उपशमके लिए कारण है। इसलिए दातावोंको उचित है कि वे देशोंके भेदको जानकर वात, पित्त, कफ आदिक दोषोंको एवं तदुत्पन्न रोगोंको दूर करनेवाले आहार दानमें देवें ॥ ४ ॥

कालगुण.

कालसंक्रुद्धदोषोत्थरोगोपशमकारणम् ॥
कालदोषहराहारो देयस्तत्कालवेदिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—शीत, उष्ण और वर्षाकालके अनुसार आहारप्रवृत्ति रखें तो वातपित्तादिसे उत्पन्न रोग उपशांत होते हैं। इसलिए उत्तम दातावों को उचित है कि वे कालक्रमको जानकर दोषहर आहारको दानमें देवें॥५॥

उत्तमपात्रदान कालक्रम.

कंगुचणजीरहलकुलमेथीशाल्यादिवपनसमयस्त्वेकः ॥
उत्तमपात्रे क्षेत्रे दातॄणामन्नदानविधिरेकः स्यात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चना, जीरा, कुलथी, मेथी, धान आदिको बोनेका समय एक ही हुआ करता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रोंकी आहारविधि भी एक ही है। और एक ही काल है ॥ ६ ॥

मध्यमपात्रदान कालक्रम.

गोधूमवल्लतुवरी जोनलतिलमुख्यवपनसमयौ च द्वौ ।
मध्यमपात्रे क्षेत्रे दातॄणामन्नदानसमयौ स्याताम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार गेहूं, पावटा, तूअर, ज्वार, तिल, आदि धान्योंको बोनेके समय दो हैं, इसी प्रकार मध्यम पात्रोंको आहार दान देनेके समय दो हैं ॥ ७ ॥

शास्त्रक्रम.

शास्त्रक्रममनुल्लंघ्य संप्रवर्तेत धार्मिकः ॥
धर्मे दाने च भुक्तौ च स क्रमःसन्मुदक् बुधः ॥ ८ ॥

अर्थ—धार्मिक सज्जनोंको उचित है कि वे धर्म, दान व भोजनमें एवं लौकिक कार्यमें शास्त्रक्रमको उल्लंघन न कर प्रवृत्ति करें। शास्त्रक्रमसे प्रवृत्ति करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि है ॥ ८ ॥

विधि गुणक्रम.

यः सर्वकालदेशेषु यद्यदास्थिरय वर्तनं ॥
वर्तते तदनुक्रम्य हेयं हित्वात्र सर्वथा ॥ ९ ॥
हातुं न शक्यं यत्कर्म न वर्ज्यं योगदोषवत् ।
सद्भक्तिरकषायः स्यात् सुकृतिर्नैव दोषभाक् ॥ १० ॥

अर्थ—जिनधर्मभक्त, मंदकषायी, धार्मिक सज्जनको उचित है कि वे सर्व देश व कालमें जो धर्मकेलिये अनुकूल है, देश व कालके लिये अनुकूल है उसे अनुकरण कर वर्तन करें। जो बात हेय हो उसे जरूर छोडे, और जो कार्य मन वचन कायके दोषके समान छोडनेको अशक्य हो उसे न छोडें, परंतु यह ध्यानमें रहें कि वह धर्मके साधन हो, जिस प्रकार भक्तिके लिये अष्टद्रव्य, आत्मसिद्धिके लिये देह, देहरक्षणकेलिये आहार, गमनकेलिये वाहन, धान्यकेलिये खेत, धर्मवृद्धिके लिये दोषाच्छादन आदि बातें निंद्य नहीं हैं, उसी प्रकार धर्मसाधन भी ग्रहण करें, सर्वथा छोड नहीं सके तो धार्मिक जनोंकेलिये दोषास्पद नहीं है, प्रत्युत उससे पुण्यबंध होता है ॥ ९ ॥ १० ॥

द्रव्य लक्षण.

पादगुदशौचशेषं तादाकं साधुपेयमंभः किं वा ।
क्षुद्रकगुडशर्करादि च वर्णानां संकरोऽस्ति कर्णाटादौ ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पानीमें पाद, गुद, शौच आदिकी शुद्धि मनुष्य करते हों, वह पानी साधुवोंको पीने योग्य कभी हो सकता है क्या ? नीच जातिके लोगोंके द्वारा बनाए हुए गुड, शक्कर, दूध, दही आदि साधुवोंको आहारमें देने योग्य है क्या ? कभी नहीं ! कर्णाटादि देशमें

जिस प्रकार वर्णसंकर स्पष्ट दोष पाया जाता है। उन समस्त दोषोंसे रहित द्रव्यको ही दानमें देना चाहिए ॥ ११ ॥

स्पष्ट-दोष.

विद्यायत्तकुलातिमानवृथताभृत्यादिकं चेटिका ।
वेश्या हंति परांगना त्रिभुवनज्ञानाशयक्षोभणं ॥
कुर्यात्स्त्रीबलजीवितार्थविषयग्रंथादिवस्तुक्षयं ।
परसंगात्परजन्मनीह नरके पातं भवेदंजसा ॥ १२ ॥

अर्थ—नीचोंके संसर्गसे मनुष्यको विद्या, बुद्धि, कुल आदिका मद, दासत्व, वृत्तिक्षय, संपत्ति, शक्ति, जीवन, भोग व परिग्रह आदिका क्षय होता है। दूसरोंको उससे कष्ट पहुंचता है। इतना ही नहीं परजन्ममें वह नरकमें जाता है ॥ १२ ॥

पात्र.

राजानः पालयंतीव निजधर्माश्रितं बलं ॥
निजधर्माश्रितान्सर्वान् दययावंति धार्मिकाः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने आश्रित सैन्यको हर तरहसे रक्षण करते हैं, उसी प्रकार धार्मिक सज्जनोंको उचित है कि वे अपने आश्रित पात्रोंको दयाबुद्धिसे रक्षण करें ॥ १३ ॥

नवधा भक्ति.

प्रतिग्रहोच्चासनपाद्यपूजाः ।
प्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ॥
विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः ।
कार्या मुनीनां गृहमेधिभिश्च ॥ १४ ॥

अर्थ—पडिगाहना, उच्च आसन देना, पादप्रक्षालन, पूजा, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, तथा आहारशुद्धि इस प्रकार उत्तम पात्रों का नव प्रकारसे गृहस्थ सत्कार करें ॥ १४ ॥

प्रतिग्रह.

न दैन्यविध्वंसिनिधिद्रुधेनुका ।
यथा ददामो वयमित्युशंति ये ॥
इदं सुपात्रं सुकृतागतं न मे ।
त्यजामि नान्यस्य ददाम्यहं तथा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्यकी दरिद्रताका नाश करनेवाली कोई निधि, कल्पवृक्ष व कामधेनु के मिलनेपर हृष्ट होकर यह कहते हैं कि अब हम इसे किसीको नहीं देंगे, उसी प्रकार धार्मिक सज्जन अपने पुण्यसे अपने द्वारमें आये हुए पात्रोंको देखकर हर्षित होते हैं, और कहते हैं कि मैं अब इसे नहीं छोडूंगा और न दूसरोंके यहां जाने दूंगा। इस भक्तिविशेषसे जो आदरके साथ पात्रको अपने द्वारपर स्वागत किया जाता है उसीका नाम प्रतिग्रहण है ॥१५॥

उच्चासन.

गत्वाभ्युत्थाय संवीक्ष्य सत्पात्रं गृहमेधिना ॥
दत्तमुच्चासनं तस्मै सूक्तासनमुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—धार्मिक गृहस्थ पात्रोंके आगमन को दूरसे देखकर भक्तिसे उठता है। फिर उनका प्रतिग्रहण कर उन्हे विराजनेको उच्च आसन देता है, यह दूसरा उपचार है ॥ १६ ॥

पाद्यपूजा.

मुनिपादांबुजद्वंद्वक्षालनं पाद्यमीरितं ॥
मुनिपादार्चनं यच्च सा पूजेत्यभिधीयते ॥ १७ ॥

अर्थ—उच्चासन देनेके बाद मुनीश्वरोंके पादप्रक्षालन करनेको पाद्य कहते हैं। और उनकी पादपूजा करनेको पूजा कहते हैं ॥१७॥

प्रणामादिचतुष्टय.

पंचांगः प्रणतिः प्रणाम इति वाक्कायाद्यैर्यैरकृतं ।
स्तोत्रं सेवनमुत्तमं स्मरणमित्यार्या ब्रुवंतीह ते ॥

साधुप्रत्तवचःशरीरहृदयाशेषप्रसादं विधा-।
शुद्धिस्त्वाहृतिशुद्धिमेव विमलां तेभ्यो लभंते श्रियः ॥१८॥

अर्थ—पूजा करनेके बाद पंचांगप्रणाम करें। एवं मन वचन कायकी शुद्धिसे मुनिजनोंका स्तोत्र व स्मरण करें। साधुवोंको देनेवाले आहारदानमें मन-वचन-कायकी शुद्धि प्रकट करें। एवं आहार शुद्धिको प्रकट करें। इस प्रकार नवविध उपचार शुद्धहृदय [निष्कपटभाव] से जो करते हैं उनको सर्व प्रकारकी संपत्ति प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

आहारदोष.

बीजफलकंदमूलं कुण्डनशंबूकमस्थिनखरोमास्रं ॥
जंत्वजिनपूयमांसं भवंति दोषाश्चतुर्दशाहारे ॥ १९ ॥

अर्थ—अभक्ष्य बीज, फल, कंद, मूल, भूसा, शंख, हड्डी, नाखून, रोम, रक्त, द्वींद्रियादिक प्राणी, चर्म, पूव, मांस ये चौदह आहारमें त्याज्य हैं, दोष हैं ॥ १९ ॥

आहार शुद्धि.

दातृगृहसंस्कृताहृतिममलां गृह्णन्ति योगिनो मत्वा ॥
रजकसुधौतं वस्त्रं सीतकमिव योग्यपुरुषसेव्यं स्यात् ॥

अर्थ—जिस प्रकार रजस्वला स्त्रीके द्वारा पहने हुए वस्त्र यदि धोबी अच्छी तरह धोकर लाता है तो उत्तम पुरुषोंके द्वारा सेव्य माना जाता है, उसी प्रकार अनेक संस्कारोंसे पवित्र दाता के घर में योगिगण आहार ग्रहण करते हैं अर्थात् आहार ग्रहण करनेकेलिये गृहसंस्कार की ही नहीं संस्कृत आहारकी भी जरूरत है ॥ २० ॥

सेवाफल.

लक्ष्मीं त्रिवर्गसंपत्तिं धियं भूतिं सरस्वतीम् ॥
शरीरसौष्ठवं मेधां लभंतेऽल्पप्रयासतः ॥ २१ ॥

अर्थ—गुरुसेवा करनेके अल्प श्रमसे यह मनुष्य धर्मक्रियाकलाप

कारण संपत्ति, जिनधर्म प्रभावनाके साधन धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग संपत्ति, परमागमज्ञायकबुद्धि, जिनधर्माराधक भव्योंके पोषण के लिए ऐश्वर्य, जिनवाणी, देहसौंदर्य, एकपाठादिक कुशाग्रबुद्धि आदिको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

मोक्षफल.

एतैरप्युपचारैर्ये तर्पयंति तपोभृतां ॥
सुखं स्वर्गस्य मोक्षस्य लभंते ते क्रमेण च ॥ २२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त नव प्रकारकी भक्तियोंसे युक्त होकर जो तपोनिधि मुनियोंको आहार देते हैं वे स्वर्गादिक सुखको प्राप्त करते हैं । इतना ही नहीं क्रमसे वे मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं ॥ २२ ॥

मूढा नाथपरार्थलाभमनसः स्वार्थव्ययं कुर्वते ।
सर्वे स्वामिन एव पर्वसु सदा सेवाजनेभ्योऽपि च ॥
नीत्या तद्वदयं जनो न कुरुते व्यर्थव्ययं पापदं ।
पूर्वोपार्जितपुण्यपापसुखतोऽप्यामुत्रिकार्थं मनाक् ॥२३॥

अर्थ—आज भी अज्ञानी किसान लोग मालिकोंसे हम लोगोंको कुछ लाभ हो इस इच्छासे उनको अनेक प्रकारकी भेट ले जाकर देते हैं । पर्व-दिनोंमें अपने स्वामियोंके पास यहांतक कि अपने स्वामिके सेवकोंके पास भी जाकर उनको अनेक भेट वगैरह अर्पण कर उनका आदर करते हैं । सचमुच में उनको अज्ञानी नहीं कहना चाहिये । क्यों कि ऐसा करनेसे उनके स्वामी भी समयपर उनको उपकार करते हैं । इसलिये यह उनका कर्तव्य है । इसी प्रकार मोक्षपुरुषार्थ को जो प्राप्त करना चाहते हैं वे भी अपने द्रव्यके कुछ अंशको व्यय करके श्रीभगवान् जिनेंद्रकी उपासना आदि करें । पर्वदिनोंमे विशेषतया भगवान् जिनेंद्र एवं उनके सेवक यक्षयक्षियोंकी आराधना कर तथा अनेक प्रकारसे धर्मप्रभावना

कर अपने द्रव्यका सदुपयोग करें। परंतु खेद है कि कितने ही लोग पूर्वोपार्जित पुण्यसे प्राप्त द्रव्यके होनेपर भी ऐसे शुभकार्यमें उसका व्यय नहीं करते। परंतु पापोपार्जनमें सहायक ऐसे दुराचार, मुकदमेबाजी आदिमें व्यर्थ व्यय करते हैं ॥ २३ ॥

क्षेत्रादिसर्ववस्तूनां संस्कारं कुर्वते जनाः ।
तत्तदर्थं न कुर्वंति सत्फलप्राप्तिहेतवे ॥ २४ ॥

अर्थ—धान्यादिककी उत्पत्तिकेलिये खेत आदिका संस्कार मनुष्य करते हैं। धनप्राप्तिकेलिये दुकान आदिका संस्कार करते हैं। परंतु खेद है कि सबका मूलबीज जो पुण्यधन है जिसके फलमें सर्व संपत्तिकी प्राप्ति है, उसके संस्कारके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते ॥२४॥

आनंत्याद्यानुबंधि प्रथितममृदु निस्सारमुग्रत्कलौघं ।
दृष्टिघ्नादभ्रपांस्वस्तमितमुदकसंयोगतो शुष्टितो वा ॥
शुष्यत्संशोषविध्यग्निजमलभवसस्यानि सर्वाणि नित्यं ।
क्षेत्रं संस्कृत्य पात्रं फलमिव लभते कार्षिको धार्मिकस्तं ॥ २५ ॥

अर्थ—जैसे कृषकलोग क्षेत्रका अच्छी तरहसे संस्कार करते हैं अनंतर उसमें धान्य बोते हैं इससे धान्य उगकर अच्छा फललाभ उनको होता है। उसी तरह पात्रको आहारदान देनेवाला दाता भी क्षेत्रके समान है। वह भी प्रथम अपने को दान देने योग्य बनायेगा तभी पात्रदानसे उसको फललाभ होगा, अन्यथा नहीं। पात्रको आहार देनेवाला दाता प्रथमतः सम्यग्दर्शनके घातक ऐसे अनंतानुबंधि कषाय को अपने हृदयसे नष्ट कर देता है, तब उसके हृदयमें जो पूर्वकालमें मिथ्यात्वरूपी धान्य उगा था वह शुष्क होकर नष्ट होता है। नष्ट होनेसे वह दाता अपनेको व्रतादिकसे संस्कृत करता है अर्थात् संस्कृतक्षेत्रके समान वह जब अपनेको सम्यग्दर्शनव्रतादिकसे संस्कृत करता है, तब सत्पात्रको आहारदान देकर

स्वर्गमोक्षादिकफलको प्राप्त कर सकता है। जैसे खेतमें जो तृण, या अयोग्य धान्य ऊगा था वह नेत्रकी दर्शनशक्तिको विघात करनेवाली ऐसी आंधी के चलनेसे, खूब धूल आकाशमें उड़ जाती है और उसके साथ तृणादिक भी टूट फटकर उड़ जाते हैं। अथवा जलवृष्टि न होनेसे तृणादिक शुष्क होजाते हैं और तदनंतर किसान लोग उसको निकालकर फेंक देते हैं और कठिन क्षेत्रको हलके द्वारा धान्य बोनेके योग्य बनाते हैं। तब उसमें उनको फललाभ होता है। अभिप्राय यह है कि, मिथ्यात्वका त्याग करके सम्यग्दर्शन और व्रतादिक धारण करनेसे दाता सत्पात्रको आहारदान देनेके लायक हो जाता है ॥ २५ ॥

मतं समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतैः।
प्रभासुरात्मावनदानशासनम् ॥
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥२६॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २६ ॥

इति पात्रसेवाविधिः।

द्रव्यलक्षण.

प्रणम्य परमात्मानं चंद्रप्रभजिनेश्वरं ।
पात्रभुक्त्युचिताशेषद्रव्यलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—परमात्मा श्रीचंद्रप्रभस्वामीको नमस्कार कर पात्रोंके भोजनके योग्य सर्व द्रव्योंका लक्षण इस प्रकरणमें कहेंगे ऐसी आचार्यकी प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

द्रव्यलक्षण.

क्षुधातृषादोषरुजादयः शमं ।
प्रयांति यैस्सत्परिणामहेतुभिः ॥
लसत्तपःस्वाध्ययनादिवृद्धिकै- ।
र्द्रव्याणि तान्येव वदंति साधवः ॥

अर्थ—जिन आहारोंसे क्षुधा तृषादिक दोष, एवं वातपित्तादिक विकारोंका उपशमन होकर शुभ परिणाम उत्पन्न होता हो, जिनसे साधुवोंका चित्त तप, स्वाध्याय, ध्यान आदिमें बढता हो उन्होंको सज्जन जन द्रव्य कहते हैं ॥ २ ॥

द्रव्यगुण.

गोक्षवत्रस्पृष्टमभस्तिमितमनलदग्धं पलालं वरण्ड- ।
क्लिन्नं यज्जंतुदग्धावटगतमिह निस्सारकं पूतिगंधि ॥
त्यक्त्वा संपक्वसस्योच्चयचितमतुषं कोमलं शुभ्रबीजं ।
शुद्धं त्यक्त्वाकामिथं कृषिक इव वपेत्क्षेत्ररम्यं सुवर्णं ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेतमें बीज बोते समय इन बातोंका ख्याल रखता है कि बोनेका बीज गायका खाया न हो, पानीसे भीगा न हो, अग्निसे जला न हो, भूसा न हो, गीला हुआ न हो, कीडा लगा न हो, छेद से युक्त न हो, निस्सार न हो, दुर्गंधी न हो,

और उत्तम सत्य उत्पन्न होनेके लिए योग्य हो, कोमल हो, शुद्ध हो, अन्नसहित हो, नेत्रको सुंदर दिखता हो, एवं अच्छे वर्णसे युक्त हो। उसी प्रकार साधुओंके लिए देनेके आहारमें भी उपर्युक्त सभी बातोंका ख्याल रखें। उस प्रकार के योग्य द्रव्यको दानमें देनेवाला ही प्रशस्त दाता है ॥ ३ ॥

अनुचितद्रव्य

सर्वद्रव्यमनाणकं त्वनुचितं वस्त्रादि भुक्तोज्झितं ।
तांबूलीदलपूगबालफलगर्भाभिभमूनादिकं ॥
सर्वं पर्युषितं त्वभक्ष्यघृतवा:विलनं च पात्राय नो।
दद्यात्सर्वमिदं सदा प्रवितरेदुच्छिष्टाय फेलाभुजे ॥ ४ ॥

अर्थ—भोजनकालमें अनुचित समस्त द्रव्य, उपभोग कर छोडा गया वस्त्रादिक, तथा तांबूल, सुपारी, कच्चा नारियल, फल आदि बनाकर बहुत दिन होनेसे बिगडा हुआ द्रव्य, बहुत दिनका घृत आदि पात्रोंको आहारमें न देना चाहिए। जो पदार्थ उच्छिष्ट खानेवाला सेवकके लिए देनेयोग्य हैं उन पदार्थोंको पात्रदानमें देना कभी योग्य हो सकता है ? नहीं ॥ ४ ॥

निषिद्धद्रव्य

विद्धं विवर्णं विरसं विगंधं — । मसात्म्यमक्लिन्नमपक्वमन्नं ॥
स्विन्नं सकंरूक्षमतीव पक्वं । नेत्राप्रियं यन्मुनये न दद्यात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो द्रव्य भीगा गया हो, वर्णविकृत हुआ हो, विरस हुआ हो, दुर्गंधसहित हो, शरीरप्रकृतिके लिये अनुकूल न हो, अत्यंत रूक्ष हो, पका न हो, पसीजा हो, अत्यंत पका हो, आंखों को अच्छा नहीं दिखता हो, ऐसे पदार्थोंको पात्रदानमें नहीं देना चाहिये॥५॥

पर्युषित.

दधिसर्पिःपयोभक्ष्यमायं पर्युषितं मतं।
गंधवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विगर्हितं ॥ ६ ॥

अर्थ—गंध, वर्ण, और रससे भ्रष्ट दही, घी दूध व अन्य पक्वान्न पर्युषित कहलाते हैं। ऐसे अन्य द्रव्य भी निंदित है ॥ ६ ॥

ग्रामानीतं चापणक्रीतमन्नं- ।
चान्योद्दिष्टं देवयक्षादिसंज्ञम् ॥
मिथ्यादृष्टिस्पृष्टमुच्छिष्टमेत-
न्नीचाख्यातं योगिने नैव दद्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो आहार दूसरे गामसे लाया हुआ हो, बाजार (होटल) से खरीदकर लाया हुआ हो, दूसरोंके (मिथ्यादृष्टि) उद्देश्यसे बनाया गया हो, गृहदेवता, यक्षदेवता भूतादिकोंको अर्पणके लिये बनाया गया हो, मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा छूया हुआ हो, उच्छिष्ट हो, नीचोंके लिये बनाया गया हो, ऐसे आहारको योगियोंको कभी नहीं देना चाहिये ॥ ७ ॥

पुनरुष्णीकृतं सर्वं । सर्वं धान्यं विरूढकं ॥
दशरात्रोषितं कंसे न दद्यान्मुनये घृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—फिरसे गरम किया हुआ आहारद्रव्य, अंकुर आया हुआ सर्व धान्य, एवं कांसेके पात्रमें रखा हुआ दस दिनका घृत यह मुनियों को आहारदानमें देनेके लिये निषिद्ध है ॥ ८ ॥

कारण.

एतदाहारभुक्त्यैव चेतोऽस्वास्थ्यं ततो गदाः ।
तपोभंगस्ततो दातुश्चांतरायो महान्भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकारके सदोष आहारोंके भक्षणसे चित्तमें अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है। एवं अनेक रोगादिक उत्पन्न होते हैं। और तपश्चर्यामें विघ्न उपस्थित होता है, इतना ही नहीं, दाताको महान् अंतराय कर्मका बंध होता है ॥ ९ ॥

---

१ पुनरुष्णीकृतं सर्वं । क्षीराहारोदकादिकं ।
सर्वरुग्जननहेतुःस्या- । द्विषवज्जीवितापहं ॥

निषिद्धाहारदत्तफल.

स्वेशपुत्रादिभुक्तान्नशेषं दत्ते तपोभृते ।
अपुत्रा स्यात्सपुत्रा चेत्ते स्युर्जीवन्मृताः सुताः ॥ १० ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार देनेके पहिले अपने पति, पुत्र, भाई बंधु आदिको भोजन कराकर फिर बचा हुआ आहार यदि मुनियोंको आहारदानमें देवें तो उस स्त्रीको अत्यधिक पाप लगता है जिसके फलसे वह अपुत्रा होती है। कदाचित् पहिलेसे उसको पुत्र हो तो वे जीवन्मृत होते हैं अर्थात् पागल, मूर्ख, बधिर, अंधा, मूक वगैरह होते हैं ॥ १० ॥

अव्रतिकदत्ताहारफल.

अव्रतिकदत्तभुक्तिः सव्रतभंगं च पुण्यभंगं च ।
दास्या दत्ता कुर्याद्दातुः पुण्यस्य सद्व्रतेर्भंगं ॥ ११ ॥

अर्थ—दर्शनचारित्रसे रहित अव्रतिके द्वारा दिया हुआ आहार व्रतभंग और पुण्यभंगके लिये कारण है। एवं दासीके द्वारा दिलाया हुआ आहार भी दाताके पुण्य व सद्व्रतीका भंग करता है अर्थात् इससे पापसंचय होता है ॥ ११ ॥

निषिद्धाहार.

जीवेनांगेन कायेना– शुचिना वर्तनेन च ।
भवेदधमया चेद्धा स्पृष्टमन्नं विगर्हितं ॥ १२ ॥

अर्थ—हिंसकप्राणियोंको स्पर्श कर दिया हुआ आहार, अस्पृश्यादिकोंकी छायासे स्पृष्ट होकर दिया हुआ आहार, नीचकार्य कर अपवित्र दशामें दिया हुआ आहार, और नीच दासीके द्वारा स्पृष्ट आहार मुनियोंको दानमें देनेके लिये निषिद्ध है ॥ १२॥

दासिपक्व आहार.

सारंभकं विषमलेऽर्के स्वर्णादौयोजयन्निव ।
दास्या दापायितुर्दानं दोषायैव प्रजायते ॥ १३ ॥

अर्थ—दूधमें खटाई, अन्नमें विष, सोनेमें तांबा वगैरहके मिलाना जिसप्रकार दोषपूर्ण है, उसीप्रकार दासीके हाथसे दिलाया हुआ आहार दाताके लिये दोषकारक ही है ॥ १३ ॥

नीचभांडपक्वाहार

दत्तं संकल्प्य नीचानां यैर्भाण्डैः पक्वमोदनम् ।
तैर्भाण्डैः पक्वमशनं न देयं यतये बुधैः ॥ १४॥

अर्थ—जिन बरतनोंमें चाण्डाल आदि नीच जातियोंको संकल्प करके भोजन पकाया जाता है उनमें पकाया हुआ अन्न मुनियोंको बुद्धिमानोंद्वारा नहीं देना चाहिये अर्थात् नीचोंके लिये भोजन पकानेके बरतनमें मुनियों के लिये आहार देने योग्य भोजन नहीं पकाना चाहिये ॥ १४ ॥

अव्रतिक पक्वाहार

अव्रतिकपक्वमन्नं यो दत्ते तस्य पुण्यधनहानिः स्यात् ।
संस्कृतशालिक्षेत्रे क्षुधाभिजननस्य बीजवपनं वा ॥१५॥

अर्थ—अव्रतीके द्वारा पकाया हुआ अन्न जो दान देता है उसके पुण्य व धनका नाश होता है। जिसप्रकार धानके खेतको संस्कार कर उसमें राई बोवे तो कोई उपयोग नहीं है ॥ १५ ॥

सव्रताव्रत मिश्रण

सव्रताव्रतयोर्मिश्रे गंधागंधविमिश्रवत् ।
नीचोत्तमविमिश्रे स्यात् तप्ताज्यजलमिश्रवत् ॥ १६॥

अर्थ—भोजनादिकमें अव्रती और व्रतियोंके मिश्र होनेपर सुगंध दुर्गंधके मिश्रके समान हो जाता है। नीच और उत्तम पुरुषोंका मिश्रण तपे हुए घीमें पानीके मिश्रणके समान होता है ॥ १६ ॥

कुलीननीचयोर्मिश्रे भुक्त्याद्यैः कुलनाशनम् ।
यथा स्याद्यतिनां भुक्तौ मत्वा दोषान्विशोधयेत् ॥१७॥

अर्थ—भोजनादिक-कार्यमें कुलीन और नीचोंका मिश्रण कुल-नाशके लिये कारण होता है। इसीप्रकार मुनियोंके आहारमें इन बातोंकी दोष मानकर उनका परिहार करना चाहिये ॥ १७ ॥

लोहाग्न्योः कनकायसोर्विषसिताजंबालकस्तूरिका-।
ज्योतिःसूर्यतमोरसायनपयोमध्वाज्ययोगाद्यथा ॥
दुष्टः स्यात्खलसंगतोऽपि सुजनः सत्संगतो दुर्जनो।
यो द्वीपायनवच्च पार्श्वमुनिवत्सो वृषध्वंसने ॥ १८ ॥

अर्थ—लोहके साथ अग्नीका संसर्ग होनेपर अग्नीका कुछ नहीं बिगडता है, लोहेको ठोके पडते हैं, सोना और लोहेको मिलानेपर लोहेका कुछ नहीं बिगडता है, सोना खराब होता है। विष और शक्करको मिलानेपर विषका कुछ नहीं होता है, शक्कर खराब होती है, कीचड और कस्तूरीको मिलानेपर कीचडका कुछ नहीं होता है कस्तूरी बिगड जाती है। सूर्यके साथ केतु, चंद्रके साथ राहु के ग्रहण होनेसे सूर्य चंद्र ही कांतिविहीन होते हैं, उन ग्रहोंका कुछ नहीं बिगडता है, रसायन और पानी के संसर्गमें रसायन विकृत होता है पानीका कुछ नहीं होता, मधु और घीके संसर्गसे घी ही खराब होता है, मधुका कुछ नहीं होती। इसी प्रकार दुष्टोंके संसर्गसे सज्जनोंका धर्मनाश होता है। दुष्टोंका कुछ नहीं बिगडता है। जिस प्रकार कि द्वीपायन और पार्श्वमुनिका संसर्ग धर्मनाशके लिये कारण हुआ है ॥ १८ ॥

यद्दासीहस्तपक्वान्नं सती दद्ये न चामलं।
शूद्रेण जातो ब्राह्मण्यां स्याच्चाण्डालो यथा सुतः ॥१९॥

अर्थ—दासीके हाथसे पका हुआ आहार यदि कुलस्त्री दान देवें तो वह योग्य नहीं है। जिस प्रकार ब्राह्मण स्त्रीमें शूद्रसे उत्पन्न संतान चाण्डालके समान है ॥ १९ ॥

गृहिणीहस्तपक्वान्ने दास्या दत्ते न दोषदं ।
धाऽया हि रक्षिते राजपुत्रे धात्रीसुतो न च ॥ २० ॥

अर्थ—पत्नीके द्वारा पकाया हुआ आहार यदि दासी देवें तो वह उतना दोषकर नहीं है। जिसप्रकार कि धाईके द्वारा पाला गया राजपुत्र धाईका पुत्र नहीं है राजपुत्र ही है ॥ २० ॥

प्रशस्तदान.

गेहभाण्डार्थयोगांगसंशुध्या दीयतेऽत्र यत् ।
तदेव दानं कल्याणं मंगलं भवनाशनम् ॥ २१ ॥

अर्थ—घर, बरतन, अन्नवस्त्रादिक, मन वचन काय संबंधी क्रिया, शरीरावयव इन सब बातोंकी शुद्धिसे जो दान दिया जाता है वही दान कल्याण करनेवाला है। मंगल है और संसारनाशके लिये कारण है ॥ २१ ॥

हितं मितं पक्वमवीक्षणप्रियं सुगंधि जिह्वाप्रियहृद्यमन्नम् ।
अनंधकारे सुवितानरम्ये-ऽप्यधूमगेहे मुनये च दद्यात् ॥

अर्थ—जीवजंतु आदि पतनका भय जहां न हो ऐसे सूर्यके प्रकाशयुक्त, अंधकाररहित एवं धूमरहित प्रशस्त घरमें मुनियोंके शरीरको हित, मित, योग्य रीतिसे पका हुआ, देखनेमें भी अच्छा, सुगंध, स्वादिष्ट मनोहर आहार गृहस्थ मुनियोंको दानमें देवें। कुशल गृहस्थ स्वयं इन बातोंका ख्याल रखें ॥ २२ ॥

कृषीवलकृतक्रियाभिरभिवर्द्धते या कृतिः ।
स्तथैव सुकृतं प्रजागुरुरयोन्नृपः सैनिकं ॥
सधार्मिककृतैर्गुणैर्नवविधोपचारैर्गुरौ ।
धृपश्च सुकृतं प्रजागुरुरयोन्नृपः सैनिकं ॥ २३ ॥

अर्थ—किसान खेतकी वृद्धिके लिये जिन २ क्रियावोंको करता

है उनसे कृषिकी वृद्धि होती है, उससे प्रजाओंके लिये उपयोग होता है। राजा उन धान्योंसे प्रजा व सैनिकोंका पालन करता है। इसी प्रकार धार्मिक सज्जन धर्मवृद्धिके लिये जिन नवविध उपचारों-सहित दानादिक क्रिया करते हैं उससे धर्मकी वृद्धि होती है। और उस धर्मसे गुरुजन, प्रजा, राजा, सैनिक आदि सबको सुख मिलता है॥ २३॥

मतं समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतैः।
प्रभासुरात्मावनदानशासनम्॥
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत्॥२४॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें॥ २४॥

इति द्रव्यशोधनविधिः

अर्थ— परीषहको जीतनेमें समर्थ, कर्मोंके नाश करनेमें दक्ष, व ज्ञानध्यान और तपमें लीन उत्तमपात्र कहलाते हैं ॥ ८ ॥

प्रशांतमनसः सौम्याः प्रशांतकरणक्रियाः
प्रशांतारिमहामोहास्ते पात्रं दातुरुत्तमं ॥ ९ ॥

अर्थ— शांतचित्तवाले, सौम्यस्वभाववाले, मनवचनकायकी सरलवृत्ति रखनेवाले, मोहसे रहित साधुजन उत्तमपात्र कहलाते हैं ॥ ९ ॥

धृतिभावनया युक्तास्सत्वभावनया श्रुताः ।
तत्वार्थाहितचित्तत्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमं ॥ १० ॥

अर्थ—धैर्य और सात्विक भावनावोंसे युक्त, तत्वोंके मननमें जिन्होंने अपना चित्त लगाया है, वे उत्तम पात्र कहलाते हैं ॥१०॥

परीषहजये शूराः शूरा इंद्रियनिग्रहे ।
कपायविजये शूरास्ते पात्रं दातुरुत्तमं ॥ ११ ॥

अर्थ—परीषहजय, इंद्रियनिग्रह, और कषायोंको जीतनेमें जो शूर हैं वे उत्तमपात्र कहलाते हैं ॥ ११ ॥

विमलज्ञानसंपन्ना वर्द्धते साधवोऽनिशं ।
फलंति नित्यमम्लाना ध्रुवांबुभूरुहाः यथा ॥ १२ ॥

अर्थ— निर्मल ज्ञानसे युक्त उपर्युक्त प्रकारके गुणोंसे युक्त साधु नित्य अपने गुणोंकर वृद्धिको प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार कि यथेष्ट जलस्थानमें रहा हुआ वृक्ष नित्यफल देता है ॥ १२ ॥

एकाकी विहारनिषेध.

यो मध्ये यतिनां जितस्मरकषायाणां प्रशांतात्मनां ।
तस्मात्ते मदनादयश्च सकला दोषाः प्रयांति क्षयं ॥
एकाकी सहसा युवा विहरति स्वांगेच्छया यः सुखी ।
ते तं घ्नंति गिरंति साधुपदवीं प्रोद्दासयंति ध्रुवं ॥ १३॥

अर्थ—जो साधु कामक्रोधादिक कषायोंको जीतनेवाले शांत प्रकृतिके साधुवोंके मध्यमें सदा रहते है, उन साधुवोंके कामक्रोधादिक सर्व दोष नष्ट होते हैं। ऐसा न कर जो जवान साधु अपने शरीरके सुखसे, स्वेच्छाचार पूर्वक एकाकी विहार करता है उसे वे दोषदूषित करते हैं। साधुपदसे गिराते हैं। और नियमसे साधुपदसे उदासीनता भी उत्पन्न करते हैं॥ १३॥

गुरुसेवा.

भीतः प्रीतियुतः स युक्तिकुशलः सेवानुरागी गुणी ।
धर्मोद्योगपरो विदन्पतितनूरक्षाक्रियादक्षिणः ॥
स्वस्वाम्याश्रयजप्रसादमहिमा शिष्यः स भृत्यो यथा ।
स्वस्वाम्याप्तविभूतितुल्यविभवं प्राप्नोति नित्यं गुरोः॥१४॥×

अर्थ—जिस प्रकार भयभीत, प्रीतीसे युक्त, युक्तिमें कुशल, सेवाकार्यमें अनुरक्त, गुणवान्, न्यायपूर्ण उद्योग करनेवाला, स्वामिके शरीररक्षामें तत्पर, ऐसे स्वामिभक्त सेवकके प्रति संतुष्ट होकर स्वामी उस सेवकको अनेक ऐश्वर्य देता है उसी प्रकार उपर्युक्त सभी विशेषणोंसे युक्त होकर जो सच्चे हृदयसे गुरुसेवा करनेवाले शिष्यके प्रति गुरु भी प्रसन्न होकर अपने आश्रित शिष्यको प्रसादके रूपमें अनेक गुणोंको देते हैं ॥१४॥

गुरुके प्रति कर्तव्य.

माग्रे तिष्ठ गुरोर्गुरोश्च चरमे गायन्हसन्मा पठे-
र्ग्रंथं कामविकारिणं त्वधकरं मिथ्योपदिष्टं सदा ।
रागद्वेषनिमित्तमात्मविभवच्छेदोचितं मा वद ।
ब्रूहि ब्रूहि हितं मितं स्थितिकरं पूतं सभापूजितम् ॥१५॥

× भूरिरिपुर्ना नृपति श्रित्वा परिभूय तान्विहाय पुनरस्त ।
विहरंस्तं सघस्ते घ्नंति तथा विकलचरितशिष्य दोषाः ॥

अर्थ—हे शिष्य ! गुरुके आगे मत बैठो, और गुरुके पीछे बैठो, गुरुके सामने ग्रंथोंको गाते हुए हसते हुए मत पढो । कामविकारको उत्पन्न करनेवाले, पापकर, मिथ्या उपदेशकारक, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले, आत्मकल्याणमें बाधक ग्रंथोंका उपदेश नहीं देना । सर्व प्राणियोंको हितकारक, परिमित, सभाजनोंको उल्लसनीय व आदरणीय वचनोंको बोलो । यही विनीत शिष्यका धर्म है ॥ १५ ॥

जीतिस्वामिसमार्यपावनवचो ब्रूहि स्वमाह्वानके ।
मा संतिष्ठ गुरोर्गुरोरुपरि मोस्तुल्यासनेऽग्रासने ॥
मा मा मातृमुखस्वमेव सततं नीचो यथा वर्तते ।
पत्यौ मास्य पुरः स्वपः शुचिकटे पादद्वयाधःस्थले ॥१६॥

अर्थ—हे शिष्य ! गुरुजी के आह्वान करनेपर जी, स्वामी, आर्य आदि पवित्र वचनोंका उच्चारण करो । गुरूके ऊपर समान आसनपर या अग्रासनपर मत बैठो, जंभाई वगैरेह मत निकालो । नीच सेवक जिस प्रकार स्वामीके सामने सोता है, उस प्रकार गुरुके सामने सोवो मत, सोना हो तो शुद्ध चटाईपर उनके पैरके नीचे सोवो । यह शिष्य का धर्म है ॥ १६ ॥

स्त्रीसंभाषणमात्मदूषणकरं बालाननोद्वीक्षणं ।
तासामेव कटाक्षवीक्षणमिदं चित्तस्य वैकल्यकृत् ॥
शय्यांगांबरसंस्पृशादनुपमब्रह्मव्रतोच्छेदनं ।
ज्ञात्वा दोषमिमं स्वसाधुनिकटे संस्थीयतां निश्चलं ॥१७॥

अर्थ—हे शिष्य ! जवान स्त्रियोंके साथ मीठी २ बात करना यह आत्माको दूषित करनेके लिये कारण होगा । उन जवान स्त्रियोंके मुखको उत्सुकतासे देखना, और उनका कटाक्षवीक्षण यह चित्तमें चंचलता उत्पन्न करेगा । उनके शयन, [बिस्तर] शरीर व वस्त्रके स्पर्शन होनेसे उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य व्रतका भंग होगा । इन सब दोषोंको

अच्छी तरह विचार कर अपने गुरुके पासमें निश्चल चित्तसे रहो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है ॥ १७ ॥

स्यात्पंचव्रतसालपंचकवृते देहेऽघराजावृते ।
दुर्भावाः खलवृत्तयो रिपुनृपं दृष्ट्वा पतित्वा ततः ॥
भ्रूयुस्ते शिथिलाः पतंति तरुणीमत्तेभदृक्पृष्टितो ।
नान्तःशुद्धिरसंश्रुतिश्च न बलं साध्यस्त्वयायं ध्रुवं ॥१८॥

अर्थ—हे वत्स ! अभी पंचमहाव्रतरूपी मजबूत परकोटेको देखकर पापराज दुर्भावरूपी सैन्योंके साथ तुमसे युद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं, वह शक्तिहीन होगया है । परंतु ध्यान रहे, जब स्त्रीरूपी मदोन्मत्त हाथिनीकी दृष्टि इन परकोटोंपर लग जाय तो ये एकदम शिथिल होकर पड जायेंगे । फिर अंतरंगशुद्धि का रक्षण, व्रत व बल आदि कोई भी बात तुमसे साध्य नहीं हो सकेगी, यह निश्चित है ॥ १८ ॥

उच्चैरध्ययनं सगानपठनं मुंचेद्बुधो हास्यतां ।
स्त्र्यावासस्थितिमंगवीक्षणसहालापांगसंस्पर्शनं ॥
स्त्रीभिस्तत्सुतलालनं बहुपुरो आपापतिमस्तुतिं ।
होरामंत्रनिमित्तभेषजचितद्रव्यांगसंपोषणं ॥ १९ ॥

अर्थ—गुरुके सामने चिल्लाकर पढना, गाकर पढना यह उचित नहीं है । एवं स्त्रियोंके आवासमें रहना, उनके सुंदर अंगोंको देखना, उनके साथ संभाषण व अंगस्पर्शन करना, उन स्त्रियोंके पुत्रोंको खिलाना, स्त्रियोंकी प्रशंसा करना, ज्योतिष, मंत्र, औषधि इत्यादि द्रव्य के साधनोंसे उनका पोषण करना यह सब बुद्धिमान् मुनियोंके द्वारा वर्ज्य है ॥ १९ ॥

स्त्रीशय्यायां न स्वपेत्तां स्पृशेन्ना-
प्यी याञ्चानां सा स्मरोद्दीप्तिकर्त्री ।

तद्योगिन्या योगिनश्चैकवासे
न स्थातव्यं वाचनीयं सदा नं ॥ २० ॥

अर्थ—साधुवोंको उचित है कि वे स्त्रियोंकी शय्यामें कभी सोवे नहीं और उसे स्पर्शन भी न करें । घोडीके साथ घोडेको बांधे तो उस घोडेको कामोद्दीपन होता है उसी प्रकार एकांतमें (एक जगह) अर्जिकाके साथ मुनि कभी न रहे न कोई पठन-पाठन करें ॥ २० ॥

आर्यिकावोंके साथ मुनियोंका निवास निषेध.

सहार्यिकाभिर्मुनिभिः स्वाध्यायोऽथ जपस्तवः ।
न कर्तव्योऽत्र कर्तव्ये व्रतभंगो भवेत्तदा ॥ २१ ॥

अर्थ—आर्यिकावोंके साथ मुनिगण स्वाध्याय, स्तोत्र, जप वगैरह कुछ भी नहीं करें । यदि इसकी पर्वाह न कर जो कोई करेंगे उन दोनोंका व्रतभंग होता है ॥ २१ ॥

एकाकी विहारसे दोष.

जाराः स्त्रीश्चुरिणो बलाद्धनवतो भूमिं ससस्यां नृपा ।
गावोरींञ्जनपाःशशांश्च शुनका व्याघ्रा मृगान्दर्दुरान् ॥
सर्पा गाश्च तरक्षवो भुवि यथा क्रामंति बालान्मुनी-
नप्येकान्मदनादयो विहरतः क्रोधादिदोषा इमे ॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें यह देखा जाता है एकाकी विहरण करनेवाली पतिव्रताको जारलोग अपहरण करते हैं, धनवानोंके धनको बलात्कारसे चोर चुराते हैं, दुष्टमृग गायोंको खा डालते हैं, सस्य-सहित भूमिको राजा ले लेता है । शत्रुवोंको कुत्ता काटता है, शशोंको शिकारी मारता है । मृगोंको व्याघ्र खा डालता है, मेंढकोंको सर्प निगलता है, इस प्रकार सर्वत्र आक्रमण देखा जाता है । उसी प्रकार

अनुभवशून्य बालमुनि या आर्जिका एकाकी होकर विहरण करें तो काम क्रोधादिक विकार उनको चारों तरफसे आक्रमण करते हैं ॥२२॥

अभिमाननिषेध.

राजानुग्रहतो भृत्यो जनान्व्यथकृत्य नश्यति ।
यथा जडात्मा शिष्योऽपि गुर्वनुग्रहमात्रतः ॥२३॥

अर्थ—राजाके अनुग्रहको प्राप्त करनेवाला सेवक अभिमानी होकर लोगोंको पीडा देनेसे जिस प्रकार अपना नाश करता है, उसी प्रकार अज्ञानी शिष्य गुरुके अनुग्रहसे मदोन्मत्त होकर अपने आत्माका पतन कर लेता है ॥ २३ ॥

दीक्षोद्देश्य.

दीक्षां गृह्णन्ति मनुजाः स्वकर्महरणाय च ।
स्वपुण्यवृद्धये केचित् केचित्संसृतिमुक्तये ॥२४॥

अर्थ—संसारमें कोई मनुष्य अपने कर्मोंको नाश करनेके लिए दीक्षा लेते हैं। कोई अपने पुण्यकी वृद्धिके लिए दीक्षा लेते हैं। कोई संसारसे छूटनेके लिए दीक्षा लेते हैं ॥ २४ ॥

विश्वजीवानुकंपावान् धर्मप्रद्योतकारकः ।
यथा श्रीगौतमस्वामी केचिदात्मविशुद्धये ॥२५॥

अर्थ—संसारके समस्त जीवोंके प्रति अनुकंपा रखनेवाले, धर्मकी प्रभावना करनेवाले श्रीगौतमस्वामीने जिस प्रकार आत्मशुद्धिके लिए दीक्षा ली है वैसे भी कोई २ दीक्षा लेते हैं ॥ २५ ॥

कश्चित्स्वकुलनाशाय दुष्कृतोपार्जनाय वा ।
बंधुवर्गविनाशाय द्वीपायनमुनिर्यथा ॥२६॥

अर्थ—कोई २ द्वीपायन मुनिके समान अपने कुलके नाशके लिए,

पापोंके उपार्जनके लिए एवं बंधुवर्गोका संहार करनेके लिए दीक्षा लेते हैं ॥ २६ ॥

कश्चिदात्मविनाशाय निजधर्मैकहानये ।
दुष्टमिथ्याग्रहग्रस्तः पार्श्वनामामुनिर्यथा ॥२७॥

अर्थ—कोई २ पार्श्वमुनि के समान अपने नाशके लिये, अपने धर्मके नाशकेलिये, दुष्ट मिथ्यात्वरूपी भूतके वशीभूत होकर दीक्षा लेता है ॥ २७ ॥

कश्चिदुच्चासनासक्तः कषायानच्छमानसः ।
काष्ठांगार इवाभाति प्रध्वस्तनिजवल्लभः ॥२८॥

अर्थ—कोई २ काष्ठांगारके समान उच्च आसनों (पद) के लोलुपी होकर, कषायकलुषित चित्तसे, अपने स्वामीके नाश करनेकी भावनासे दीक्षा लेता है ॥ २८ ॥

देहक्लेशसहाः केचित्परोत्कर्षासहिष्णवः ।
नाशयंति जनान्धर्मं भूपा भूत्वाग्रजन्मनि ॥२९॥

अर्थ—कोई २ देहके क्लेशको सहन करनेवाले हैं और कोई दूसरोंके उत्कर्षको सहन करनेवाले नहीं हैं । वे आगेके जन्ममें राजा होकर प्रजा व धर्मको नाश करते हैं ॥ २९ ॥

तपांसि धृत्वा कायेन हृद्वाग्भ्यां घ्नंति तानि च ।
वोत्खातयंतः शाल्यानि मुक्त्वा श्वेतार्जुनानि च ॥३०॥

अर्थ—कोई २ कायसे तप धारण कर वचन और मनसे उसका नाश करते हैं । वे उसीके समान मूर्ख हैं जो खेतमें व्यर्थके घासोंको काटना छोडकर सस्योंको ही काटकर नाश करता है ॥ ३० ॥

अन्योन्यमत्सराः केचिन्मुनयो मुनिदूषकाः ॥
स्वामिदत्तार्थं भुंजाना इव स्वस्वामिदूषकाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि एक दूसरेके प्रति मत्सरयुक्त होकर परस्पर एक दूसरेकी निंदा किया करते हैं जिस प्रकार कि स्वामीके दिये हुए धनको खाते हुए भी नीच सेवक अपने स्वामीकी निंदा करते हैं ॥३१

केचिद्विरागिणो भूत्वा निंबानीवातिरागिणः ।
कुलालामत्रनिक्षिप्तशिखिवत्कामविह्वलाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि विरागी होते (कहलाते) हुए भी निंब फलके समान अत्यंत रागी होते हैं। कुंभकारके मटकोंको पक्व करनेवाली अग्निके समान कामपीडित रहते हैं ॥ ३२ ॥

लब्ध्वा राज्यमवंतीव भूपा बंधून्बलानि च ।
धृत्वा दीक्षां धनं लब्ध्वा केचिद्बान्धवपोषकाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा राज्यप्राप्ति करके अपने बंधुगण और सैन्यका रक्षण करते हैं। उसी प्रकार कोई मुनि दीक्षा धारण कर धन कमाते हैं और बांधवोंका पोषण करते हैं ॥ ३३ ॥

स्वामिद्रोहान्निजं देशं मुक्त्वारिविषयं गताः ।
स्वामिद्रोहधराः केचिदशक्ता निरयं गताः ॥३४॥

अर्थ—स्वामिद्रोहके कारण जो अपने देशको छोडकर शत्रु-राज्यमें जावें तो वहां पीडित होते हैं, इसी प्रकार कितने ही अपने स्वामी व गुरूकी निंदा करनेसे नरक गये हैं ॥ ३४ ॥

निन्दन्ति निंदयंत्येव सद्गोत्रान्साधुपुंगवान् ।
जिनरूपधराः केचित् वायुभूत्यादयो यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—कोई २ वायुभूति आदि मुनियोंके समान मुनि होते हुए भी उत्तम कुलगोत्रमें उत्पन्न साधुवोंको स्वयं निंदा करते हैं और दूसरोंसे निंदा कराते हैं ॥ ३५ ॥

मायया केचिदेवात्र देहसंस्कारकारकाः ।
आत्मघातकदुर्भावा वैदिकब्राह्मणा इव ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि वैदिक ब्राह्मणोंके समान मायाचारसे देह-संस्कारोंको करते हैं और आत्मघात करनेवाले दुर्विचारोंको सदा मनमें लाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

व्यवहृत्यान्यदेशेषु नष्ट्वा स्वार्जितं धनं ।
ये नरास्ते यथा केचित्स्वकायक्लेशतत्पराः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य परदेश में व्यापार कर कमाये हुए धनको खोकर आता है, उसी प्रकार कोई २ मुनि व्यर्थ कायक्लेश कर जन्म खोते हैं ॥ ३७ ॥

केचिदूषरतिक्षेत्रे नित्याश्रितकृषिक्रियाः ।
अलब्धधान्या वर्तंते यथास्युर्निष्फलक्रियाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—कोई २ मूर्ख किसान जो कि सदा ऊसर भूमिमें ही कृषि करता रहता है परन्तु धान्यको पाता नहीं है। उसी प्रकार कोई २ मुनि अन्यथारूप क्रियाओंको करनेसे यथार्थ फलको पाते नहीं ॥३८॥

सर्वारंभपरिभ्रष्टाः केचित्स्वोदरपूर्तये ।
केचित्स्वर्गसुखायैव केचिदैहिकभूतये ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त आरंभोंसे भ्रष्ट होकर कोई २ मुनि अपने उदर पोषण के लिये दीक्षा लेते हैं। कोई स्वर्गसुखकी प्राप्तिके लिये और कोई ऐहिक संपत्तिकी प्राप्तिके लिये दीक्षा लेते हैं ॥ ३९ ॥

दत्ते स स्याद्यथा दीक्षां यो मुनिर्बहिरात्मनः ।
काष्टांगारस्थापितश्रीर्जीवंधरपिता यथा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मुनि ऐसे बहिरात्माओंको बिना विचार किये ही दीक्षा दे देते हैं, वह उसी प्रकार की दीक्षा है जैसे काष्टांगारको सत्यंधर राजाने राज्यश्री देदी ॥ ४० ॥

दीक्षा के लिए अयोग्य पुरुष.

लोभिक्रोधिविरोधिनिर्दयजल्पन् मायाविनां मानिनां ।
केवल्यागमधर्मसंघविबुधावर्णानुवादात्मनाम् ॥
मुंचाम्यो वदतां स्वधर्ममपलं सद्धर्मविध्वंसिनां ।
चित्तक्लेशकृतां सतां च गुरुभिर्देया न दीक्षा क्वचित् ॥४१

अर्थ—जो लोभी हो, क्रोधी हो, धर्मविरोधी हो, निर्दयतासे दूसरोंको गाली देता हो, मायावी व मानी हो, केवली, आगम, धर्म, संघ और देव इनपर मिथ्या दोषारोपण करता हो, " मौका आनेपर मैं निर्मल धर्म छोड दूंगा " ऐसा कहता हो, सद्धर्मका नाशक हो, सज्जनोंके चित्तमें क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो उसे गुरुजन दीक्षा कभी नहीं देवें ॥ ४१ ॥

स्त्रीणां भक्तिर्न च निजपतौ सेवकानां च देवे ।
भक्तानां सा न च गुरुजने सा न शिष्याधिकानां ॥
तास्ते ते वा विमलसुकृताच्छिन्नकाचस्यधारां (?) ।
यांतीवायोंभुवमिह सदा दुर्गतिं तद्भ्रमेयुः ॥४२॥

अर्थ—लोकमें जिन स्त्रियोंकी भक्ति अपने पतिपर, सेवकोंकी भक्ति स्वामीपर, भक्तोंकी देवोंपर, शिष्योंकी गुरुजनोंमें यदि नहीं रहती है तो उनका जन्म व्यर्थ है। उनका पुण्यनाश होता है एवं वे नरकादि दुर्गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ४२ ॥

सक्रियं केवलं नष्टं नष्टं वासोऽक्रियं यथा ।
सक्रियः पापवान् नष्टः पुमानप्यक्रियस्तथा ॥४३॥

अर्थ—हमेशा ओढना वगैरह कार्यमें लाया गया कंबल नष्ट होता है। तथा उपयोगमें नहीं लाया गया कपडा नष्ट होता है। उसी तरह अयोग्य आचरण करनेवाला अर्थात्-पापक्रिया करनेवाला पुरुष नष्ट

होता है। तथा क्रिया नहीं करनेवाला अर्थात् पुण्यप्राप्ति नहीं करनेवाला आलसी आदमी भी नष्ट होता है अर्थात् संसारमें भ्रमण करता है।

देहे जिनगृहे गेहे पत्तने गगने भुवि।
उद्भवंति यथोत्पाता धर्ममार्गे तथा जडाः॥ ४४॥

अर्थ—देह, जिनमंदिर, घर, नगर, आकाश व भूमिमें जिस प्रकार उत्पात—अशुभ चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्ममार्गमें अज्ञानियोंकी उत्पत्ति होती है॥ ४४॥

तपोभंगं कृतं सर्वं यदैस्तद्बहिरात्मभिः।
मिथ्यर्धिधर्मनाशाभ्यां मधुपिंगलपार्श्ववत्॥ ४५॥

अर्थ—बहिरात्मा मधुपिंगल, पार्श्वमुनिके समान मिथ्याऋद्धिको प्राप्त कर धर्मनाश करनेवाले एवं अपने सर्व तपको भंग करनेवाले बहिरात्मा मुनि भी होते हैं॥ ४५॥

पुण्यं पुण्यवतां वृष्टिर्वर्षत्यतिपापिनः।
सा न स्पृशति वृष्टिः स्याद्वृतिश्च सदृशी तयोः॥४६॥

अर्थ—पुण्यवानोंको ही पुण्यकी वृष्टि होती है। अतिपापियोंको यह पुण्य वृष्टि स्पर्श नहीं करती। एवंच व्रत व सम्यग्दर्शन भी उन पापियोंको स्पर्श नहीं करते॥ ४६॥

सिताजुर्नादीनि च शालिसस्यैः
सवृद्धिमायांति यथा तथैव।
कृतानि सर्वाणि तपांसि भव्यै-
रभंगवृत्तीनि भवंत्यभव्यैः॥ ४७॥

अर्थ—जिस प्रकार खेतमें सस्योंके साथ अनेक घास भी पैदा होकर बढते हैं उसी प्रकार भव्योंके द्वारा अभंगवृत्तिसे किये जानेवाले तप अभव्योंके लिए भी वृद्धिके लिए होते हैं॥ ४७॥

यद्वीः स्त्रियोपि गृण्हन्ति भूपालतनया यथा
सुखानुभवनासक्ता अज्ञातोभयरक्षणाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—सुखानुभवमें तल्लीन होनेवाले राजपुत्र मातृकुल तथा पितृकुल की शुद्धि रहित ऐसी भी स्त्रियां उपभोगनेके लिये अन्तःपुरमें रखते हैं। उसी तरह कितनेक पुरुष जिनदीक्षा हितकर है, और पारिव्राजक दीक्षा अहित कर ऐसा विचार न कर भावितुलकी आज्ञा से कोई भी दीक्षा धारण करते हैं। यह उनका अविवेक योग्य नहीं है ॥ ४८ ॥

यथोदानोऽनिलः क्रुद्धो भोज्यद्रव्याणि यस्तथा।
उद्गारयति दुष्कर्म पुण्यकर्म निवारयेत् ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि उदान वात कुपित हो जाय तो भोजन द्रव्यको वमन कराता है उसी प्रकार पापकर्म पुण्यकर्मके फलको भोगने नहीं देता है ॥ ४९ ॥

कृतपुण्योदयात्पूर्वं दोषाः प्रादुर्भवंत्यरं ।
उप्तबीजोदयात्सर्वा उद्भवंत्यखिलाः कलाः ॥ ५० ॥

अर्थ—पुण्यके फलके उदय आनेके पहिले अनेक दोष प्रकट होते हैं। जैसे कि बोये हुए बीज उगनेके पहिले अन्य तृण सस्यादि उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

मंदाग्नेर्गुरुभोजनेन विगलत्तेजा अनल्पागसा।
स्वल्पायुर्विषभोजनाद्धतघना नष्टाधिकाराद्यथा ॥
निर्भाग्या नृपसेवया धृतधनाः स्वस्वाम्युदासीनतः।
कुद्राय्या गुरुदीक्षयैव कतिचिन्नाशं गता दुर्गतिं ॥ ५१ ॥

अर्थ—मंदाग्निको धारण करनेवाले कितने ही लोग गरिष्ट भोजन करके कांतिरहित होते हैं। महत्पाप करनेसे स्वल्पायु होते हैं। असमयमरणमें विषके भोजन करनेसे नष्ट होते

होता है। तथा क्रियां नहीं करनेवाला अर्थात् पुण्यप्राप्ति नहीं करनेवाला अलसी आदमी भी नष्ट होता है अर्थात् संसारमें भ्रमण करता है।

देहे जिनगृहे गेहे पत्तने गगने भुवि।
उद्भवंति यथोत्पाता धर्ममार्गे तथा जडाः॥ ४४॥

अर्थ—देह, जिनमंदिर, घर, नगर, आकाश व भूमिमें जिस प्रकार उत्पात—अशुभ चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्ममार्गमें अज्ञानियोंकी उत्पत्ति होती है॥ ४४॥

तपोभंगं कृतं सर्वं यथैस्तद्बहिरात्मभिः।
मिथ्यर्धिधर्मनाशाभ्यां मधुपिंगलपार्श्ववत्॥ ४५॥

अर्थ—बहिरात्मा मधुपिंगल, पार्श्वमुनिके समान मिथ्याऋद्धिको प्राप्त कर धर्मनाश करनेवाले एवं अपने सर्व तपको भंग करनेवाले बहिरात्मा मुनि भी होते हैं॥ ४५॥

पुण्यं पुण्यवतां वृष्टिर्वर्षयत्यतिपापिनः।
सा न स्पृशति वृष्टिः स्याद्वृतिश्च सदृशी तयोः॥४६॥

अर्थ—पुण्यवानोंको ही पुण्यकी वृष्टि होती है। अतिपापियोंको यह पुण्य वृष्टि स्पर्श नहीं करती। एवंच व्रत व सम्यग्दर्शन भी उन पापियोंको स्पर्श नहीं करते॥ ४६॥

सितार्जुनादीनि च शालिसस्यैः
प्रवृद्धिमायांति यथा तथैव।
कृतानि सर्वाणि तपांसि भव्यै—
रभंगवृत्तीनि भवंत्यभव्यैः॥ ४७॥

अर्थ—जिस प्रकार खेतमें सस्योंके साथ अनेक घास भी पैदा होकर बढते हैं उसी प्रकार भव्योंके द्वारा अभंगवृत्तिसे किये जानेवाले तप अभव्योंके लिए भी वृद्धिके लिए होते हैं॥ ४७॥

यहीः स्त्रियोपि गृण्हन्ति भूपालतनया यथा
सुखानुभवनासक्ता अज्ञातोभयलक्षणाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—सुखानुभवमें तल्लीन होनेवाले राजपुत्र मातृकुल तथा पितृकुल की शुद्धि रहित ऐसी भी स्त्रियां उपभोगनेके लिये अन्तःपुरमें रखते हैं। उसी तरह कितनेक पुरुष जिनदीक्षा हितकर है, और पारिव्राजक दीक्षा अहित कर ऐसा विचार न कर भाविसुखकी आशा से कोई भी दीक्षा धारण करते हैं। यह उनका अविवेक योग्य नहीं है ॥ ४८ ॥

यथोदानोऽनिलः क्रुद्धो भोज्यद्रव्याणि यस्तथा।
उद्गारयति दुष्कर्म पुण्यकर्म निवारयेत् ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि उदान वात कुपित हो जाय तो भोजन द्रव्यको वमन कराता है उसी प्रकार पापकर्म पुण्यकर्मके फलको भोगने नहीं देता है ॥ ४९ ॥

कृतपुण्योदयात्पूर्वं दोषाः प्रादुर्भवंत्यरं।
उप्तबीजोदयात्सर्वा उद्भवंत्यखिलाः कलाः ॥ ५० ॥

अर्थ—पुण्यके फलके उदय आनेके पहिले अनेक दोष प्रकट होते हैं। जैसे कि बोये हुए बीज उगनेके पहिले अन्य तृण इत्यादि उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

मंदाग्नेर्गुरुभोजनेन विगलत्तेजा अनल्पागसा।
स्वल्पायुर्विषभोजनाद्धृतधना नष्टाधिकाराद्यथा ॥
निर्भाग्या नृपसेवया धृतधनाः स्वस्वाम्युदासीनतः।
क्रुद्धाद्या गुरुदीक्षयैव कतिचिन्नाशं गता दुर्गतिं ॥ ५१ ॥

अर्थ—मंदाग्निको धारण करनेवाले कितने ही लोग गरिष्ट भोजन करके कांतिरहित होते हैं। महत्पाप करनेसे स्वल्पायु होते हैं। आसन्नमरणमात्र विषके भोजन करनेसे नष्ट होते

हैं। दरिद्री लोग नष्ट देशाधिपत्यसे, भाग्यहीनलोग राजाकी सेवासे, आजीविकाप्राप्त लोग अपने स्वामीकी उदासीनतासे, नष्ट होगये और दुर्गतिको गये। उसी प्रकार पार्श्वमुनिके समान कितने ही, पापसे पीडित दिगंबर दीक्षा लेनेके बाद भी दुर्गतिको गये। अर्थात् भाग्यहीन व पापी पुरुषोंको अच्छा आश्रय भी नाशके लिये ही हुआ करता है ॥ ५१ ॥

विभावसंयुतैर्मिथ्यादर्शनादिमुनीश्वरैः ।
बभूवुर्धार्मिकैर्धर्महानिः स्यादविचारकैः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनादि विभावोंसे युक्त धार्मिक कहलानेवाले अविचारी मुनियोंसे कितने ही बार धर्मकी हानि हुई व होगी ॥५२॥

वैद्यान्विद्विषतां रुजामधिकता न स्याद्गुणो भेषजैः ।
स्वस्वामिद्विषतां न जीवितमघाधिक्यं च साधुद्विषाम् ॥
स्वानीकद्विषतां च धावति रमा राज्यं च यद्विषां ।
लाभस्तैर्न जलं विना फलति नो भक्तिं विना नो गुणः ५३

अर्थ—जो वैद्योंके साथ द्वेष रखते हैं ऐसे रोगी पुरुषोंके रोग बढेंगे ही। चाहे जितने औषध लेनेपर भी गुण नहीं होगा। अर्थात् उनके रोग नष्ट नहीं होंगे। जो अपने मालिक के साथ द्वेष रखते हैं वे मूर्ख लोग अपनी उपजीविकाका नाश करते हैं। उसी तरह जो दुष्ट लोग साधुओंका द्वेष करते हैं उनको तीव्र पातकोंका नियम से बंध होता है। जो अपने सैन्यसे द्वेष करते हैं ऐसे राजाओंकी लक्ष्मी और राज्य नष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि जो जिस हितकार वस्तुका द्वेष करता है उससे उसका फायदा नहीं होगा हानि ही होगी। जलके विना वृक्ष न बढेगा न फल देगा। उसी प्रकार यदि हम साधुके गुणोंमें भक्ति न करेंगे तो हमारा कल्याण नहीं होगा ऐसा समझकर उनकी उपासना हमेशा करनी चाहिये। ऐसा इस श्लोकका अभिप्राय है ॥५३॥

भोजं भोजं येप्युपालब्धुकामा ।
दायं दायं दातृभिः सानुतापाः ॥
तद्दोषैः स्याद्दानपुण्यादिनाशो ।
जिह्वालौल्यं स्वान्यलाभं निहंति ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो साधु भोजन करते २ श्रावककी निंदा करते हैं तथा दाता उसकी पूर्ति करते २ संतप्त होता हो तो इन दोषोंसे दान पुण्यका नाश होता है। यह साधु भी जिह्वालोलुपतासे अपने अन्य लाभोंको खो लेता है ॥ ५४ ॥

सत्कर्पूरालवालप्रसृतमृगमदासिक्तकैर्मांबुपूर ।
क्षेत्रोत्पन्नाशेषकंदद्रुमतृणलतिकाः प्राग्गुणान्न त्यजंति ॥
दुर्भावैर्दुष्कषायैः कृतनुतिजपसम्यक्तपोवृद्धयो या ।
दुर्भावान्दुष्कषायान्प्रकटतरफलान्वर्धयन्ति स्फुटं ताः॥५५

अर्थ—यदि खेतको कपूरका बांध बनावें और कस्तूरिका व गुलाब-जलसे उसे छिडके तो भी उसमें उत्पन्न होनेवाले कंद, सस्य व लतायें अपने पूर्व गुणोंको कभी नहीं छोड सकते। उसी प्रकार अच्छे साधुवोंके संसर्गमें रहनेपर भी जो दुर्भाव व दुष्कषायसे जप, स्तोत्र, ध्यान आदि करते हैं उनके ये भाव कभी छूट नहीं सकते अपितु दुर्भाव व कषायोंको बढाते रहते हैं ॥ ५५ ॥

मातृभ्यस्तवध्वः प्रविमलचरिताः स्तूयमानास्सतीभिः ।
स्वाचार्येभ्यस्तशिष्याः प्रविमलचरिताः स्तूयमाना मुनींद्रैः ॥
स्युः पितृभ्यस्तपुत्राः प्रकटितमतयो धीरवीरा रमेशाः ।
स्वस्वाम्यभ्यस्तभृत्याः प्रकटितमतयो धीरवीरा रमेशाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—सासूके उपदेशको ठीक २ मनन करनेवाली सती निर्मल चारित्रवाली होती है। उसे स्वयं पतिव्रता स्त्रियां प्रशंसा करती हैं।

आचार्यके उपदेशके अभ्यास करनेवाले शिष्यका भी आचार पवित्र होजाता है। उसकी भी मुनिगण प्रशंसा करते हैं। पिताके उपदेश का अभ्यास करनेवाला पुत्र बुद्धिमान् होकर धीर वीर व लक्ष्मीसंपन्न होता है एवं अपने स्वामीके उपदेशको अभ्यास करनेवाला सेवक भी बुद्धिमान् होकर धीर, वीर व लक्ष्मीसंपन्न होता है ॥ ५६ ॥

मुस्ताकंदानंतमूलानि वर्षा–
काले भूमिं व्याप्नुवंतीव वृद्धौ ।
ग्रीष्मे लीनानीव केषां दृशोऽस्मिन्
काले काले संलयस्युद्भवंति ॥ ५७ ॥

अर्थ—मुस्ताकंद जो अनंतकाय है, वर्षाकालमें पैदा होते हैं और ग्रीष्मकालमें नष्ट होते हैं, इसी प्रकार कोई सम्यग्दृष्टियोंके परिणाम पुराणश्रवण, मुनिदर्शन, देवदर्शन आदि समयमें तो श्रद्धायुक्त रहते हैं। और अन्य क्रोधादिक उत्पत्तिके समयमें वैसे परिणाम विलय हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

शिग्रोःकंद इवाक्षयोऽवनिगतो वर्षाबुनोत्पद्यते ।
निर्वृष्टिर्न च हानिरंघ्रिवपुषोरीपद्धविर्वा भवेत् ॥
बाह्यांगस्य हतिर्न मूलविलयो मूलक्षयं मा कृथाः ।
सद्दृष्टेर्जिननाथसेव्यहृदयक्षोभं सदा मा कुरु ॥ ५८ ॥

अर्थ—परंतु शिग्रुकंद वर्षाकालमें भी उत्पन्न होता है और वर्षा नहीं रहनेपर उसे कोई हानि भी नहीं होती। अन्य समयमें भी वह नष्ट नहीं होता। कदाचित् गाय वगैरह उसे खा डाले तो भी जमीनसे बाहर निकला है उतने भागको ही खा सकती हैं। अंदर से मूलोच्छेदन नहीं हो सकता है। अंदर अंकुर बना ही रहता है। इसी प्रकार बाह्य शरीरकी कुछ बाधा होनेपर भी अंतरंग सम्यग्दर्शन को मूलसे उच्छेदन नहीं होने देना चाहिए एवं जिनेंद्रभगवंतकी

सेनारूप रहनेवाले चतुःसंघके हृदयको कभी क्षुब्ध नहीं करना चाहिए ॥ ५८ ॥

यावज्जीवावधिस्तावत् कृतकर्मविशेषतः ।
यथा पूगस्सुफलदस्तथा कश्चित्सुदृक्पुमान् ॥ ५९ ॥

अर्थ—कोई २ सुपारीके पेडके समान जबतक जीवन धारण करेगा तबतक अपने पूर्वपुण्यके उदयसे सम्यग्दृष्टि भी बना रहता है ॥ ५९ ॥

बहुक्रियो भूरिफलोऽल्पक्रियोऽल्पफलप्रदः ।
निष्क्रिये सति निश्शेषसस्यवृक्षाः क्षयन्त्यरं ॥ ६० ॥

अर्थ—खेतमें किसान यदि बहुतसी कृषिक्रिया करता है तो बहुत फल उसे मिलते हैं । यदि अल्पक्रिया करता है तो अल्प फल ही मिलते हैं । बिलकुल क्रियारहित होनेपर सर्व सस्यवृक्ष नष्ट होते हैं । इसी तरह मनुष्य भी बहु क्रियावाला हो तो उसे बहुफल मिलते हैं । अल्प क्रियावान् हो तो अल्पफल व निष्क्रिय हो तो न कुछ फल मिलता है ॥ ६० ॥

धुर्वविभूसद्वीजः कालोचितकृतक्रियः ।
शोधितांकुरदोषोऽपि वीक्षमाणाखिलप्रभः ॥ ६१ ॥
रक्षकाणां ददातीव धृतसत्फलगुच्छकः ।
यथा द्रुमो दाक्षिणात्यो भाति कश्चित्सुदृक् तथा ॥ ६२॥

अर्थ—जिस प्रकार खूब पानीके स्थानमें बोया हुआ, कालोचित संस्कारोंसे युक्त, अंकुरदोषोंसे रहित नारियलका वृक्ष फलगुच्छोंसे युक्त होकर रक्षकोंके आंखोंको आनंद उत्पन्न करता है उसी प्रकार कोई २ निर्दोष सम्यग्दृष्टि देखनेवालोंको आनंद उत्पन्न करते हैं ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

प्राग्गर्भैकांकुरा पश्चात् तत्र स्युर्बहवोऽङ्कुराः ।
तथैका रुचिराद्या सा जानीयाद्बहुधापरा ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार केलेका अंकुर पहिले एक रहनेपर भी उससे बादमें अनेक वृक्ष होते हैं, उसी प्रकार पहिले गुरूपदेश आदि निमित्तसे श्रद्धान होता है तदनंतर चारित्रादिक होते हैं ॥ ६३ ॥

रंभाकंदो जलाभावात् स्वयमेव विनश्यति ।
यथा तथैव केषां दृक् क्रोधादेव स्वयं क्षयेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्मीमें जलके अभाव होनेसे केलेका कंद अपने आप नष्ट होता है, इसी प्रकार क्रोधादिक कषायरूपी उष्णतासे किसी २ का सम्यग्दर्शन अपने आप नष्ट होता है ॥६४॥

मूलरंभादलच्छेदादग्रोद्भवफलक्षयः
व्यवहारदृगंगस्य नाशे फलहतिस्तथा ॥ ६५ ॥

अर्थ—केलेके वृक्षके मूल पत्तेको काटनेसे आगे उत्पन्न होनेवाले फलका नाश होता है, उसी प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शनके नाश होनेसे पारमार्थिक सम्यग्दर्शनरूपी फल नहीं मिल सकता है ॥ ६५ ॥

पुनरुत्पन्नतत्पत्रच्छेदात्फलहतिर्न वा ।
परमार्थदृगंगस्य हानिर्न फलहानये ॥ ६६ ॥

अर्थ—उसके पुनः उत्पन्न पत्तोंको काटनेसे जिस प्रकार फलके लिए कोई हानि नहीं है, उसी प्रकार परमार्थ सम्यग्दर्शनको न कोई हानि होती है और न उसके फलकी हानि होती है ॥ ६६ ॥

अधोमुखान्येव फलानि जातौ
तस्याः पुनश्चोर्ध्वमुखानि च स्युः ।
यथा सुदृक्पूर्वमयानुपायो– (?)
प्यशेषकर्माणि निहंति पश्चात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—ये केलेके फल उत्पन्न होनेके समयमें अधोमुखी होते हैं व बादमें ऊर्ध्वमुखी होते हैं उसी प्रकार कोई २ सम्यग्दृष्टियोंको पुण्य कमानेका कोई साधन नहीं रहनेपर भी बादमें वह अष्टकर्मोंको नाश करते हैं ॥ ६७ ॥

स्वयं फलानि पक्वानि तस्याः परिणतौ यथा ।
तथा च गौतमस्वामी भवेत्कश्चित्सुदृक्पुमान् ॥ ६८ ॥

अर्थ—समय आनेपर केलेके फल जिस प्रकार अपने आप पकते हैं उसी प्रकार कोई २ समय आनेपर गौतमस्वामीके समान सम्यग्दृष्टि बनते हैं ॥ ६८ ॥

रंभाफलगुलुंछेऽस्मिन्नल्पान्यूर्ध्वमुखानि च ।
बहून्यधः पतंतीव केचिज्जीवा व्रजंत्यधे ॥ ६९ ॥

अर्थ—केलेके गुच्छमें जिस प्रकार कुछ केले तो ऊर्ध्वमुख और बहुतसे अधोमुखवाले होते हैं, इसी प्रकार बहुत संख्यामें सुदृष्टि सम्यग्दर्शनसे च्युत होते हैं ॥ ६९ ॥

पाटल्यंघ्रिपु यत्र यत्र बहवो भंगा भवंत्यंकुरा ।
जायंते यदि तत्र तत्र बहलास्ते स्युर्महापादपाः ॥
केषां दृक्च यथा तथैव बहुधा विघ्नान्विता चेत्तदा ।
सा दृक् नित्यसुखं ददात्यलमसंख्यातात्मिका स्याद्ध्रुवं ॥७०॥

अर्थ—जिस प्रकार पाटलीवृक्षमें किसी कारणसे भंग हो जाय, जहां २ भंग है वहां अंकुरोत्पादन होकर बहुतसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार किसी २ सम्यग्दृष्टिको यदि उनके भावोंको बिगाडनेवाले अनेक विघ्न उपस्थित हो जाय तो वह सम्यग्दर्शन उसके भावोंके भेदसे असंख्यात प्रकारसे विभक्त होता है ॥ ७० ॥

सर्वागम्यशिलोच्चयोत्थतरवः संवृद्धिभाजो यथा ॥
निर्भंगा बहुनिर्झराद्र्चरणाः शुद्धाशया निर्मदाः ॥

निश्शंकादिगुणान्विताससकरुणा निर्घर्षनिर्मत्सराः ।
निर्दोषोत्तमदृष्टिनिर्मलजना मोक्षं श्रयंति ध्रुवं ॥ ७१ ॥

अर्थ—पर्वतपर उत्पन्न वृक्ष मनुष्याद्यगम्यरूप से बढता है, उसी प्रकार भंगरहित, अनेक झरनोंसे गीले हुए हैं मूल जिनके ऐसे वृक्षोंके समान सच्चरित्रवाले, निश्शंकादि गुणोंसे युक्त, करुणासहित, घर्षणा व मत्सर भावनाओंसे रहित, निर्दोषसम्यग्दृष्टि नियमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ७१ ॥

दुर्गजेषु कुजेष्वग्नौ जातेऽन्योन्यप्रघर्षणात् ॥
दग्धास्त इव दग्धुं क्रोधवह्निर्दहेद्ध्रुवम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—पहाडके वृक्षोंके समूहमें उत्पन्न वृक्ष, वृक्षोंके परस्पर घर्षणसे उत्पन्न अग्निसे जिस प्रकार जल जाता है इसी प्रकार क्रोधाग्नि से सुदृष्टिका सम्यग्दर्शन नियमसे जलता है ॥ ७२ ॥

क्रोधोऽग्निः सुकृतं समिद्दृगशनं सर्पिर्दया दुष्पयः ।
शाला कुण्डवपुः कषायनिचयास्सामाजिका दुर्वचः ॥
मंत्रो होतृजना विभावनिकरास्तद्यज्ञकर्ताधरा— ।
मिथ्यात्वं नृपतिः फलं बहुविधं तत्स्यान्निगोदाप्तये ॥७३॥

अर्थ—यह संसार एक महायज्ञ के समान है । क्रोध अग्नि है । पुण्य समिधा है । सम्यग्दर्शन अन्नाहुति है । दया आज्याहुति है । यह पंचमकाल यज्ञशाला है । यह शरीर यज्ञकुण्ड है । कषायवर्ग यज्ञकर्ममें भाग लेनेवाले सामाजिक हैं । दुष्टवचन मंत्र है । विभाव परिणाम आहुति देनेवाले हैं या याज्ञिक पुरोहित है । धर्मराज मिथ्यात्व उस यज्ञके कर्ता राजा है । उस यज्ञका फल बहुत प्रकारसे मिलता है । निगोदको प्राप्त होनेके लिये भी वह साधन है ॥७३॥

क्रोधस्त्वाभवजो भवक्षणशमः कोपस्तयोः क्रोधतः ।
सद्धर्मा मधुपिंगलेन निहतस्तत्क्षितक्रोधेक्ष ते ॥

ध्नंत्यद्यापि पुरोऽपि तत्फलमहो जैनेष्विदं वर्तते ॥
क्रोधो हंति दृशं चितं सचरितं कोपो न हंता त्रयं ॥७४॥

अर्थ—भवांतरसे या दीर्घकालसे आये हुए कोपको क्रोध कहते हैं। और उत्पन्न हुए क्षणमें ही नाश होनेवालेको कोप कहते हैं। इनमेंसे क्रोधके कारणसे मधुपिंगल नामक मुनीश्वरने सद्धर्मका नाश किया एवं उसके अनुयायियोंने भी धर्मध्वंस किया। आज भी मधुपिंगलके अनुयायी धर्मनाशके लिए उतारू रहते हैं। यह सब क्रोध का फल है। जिन जैनियोंमें यह क्रोध रहता है उनका दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय नष्ट होता है और कोप रत्नत्रय का नाशक नहीं है ॥ ७४ ॥

सर्वक्लेशकरो यथोद्भवति ये जैनास्त इच्छाकृतिं ।
भीत्वा वाह स एतदुत्तमशमं कुर्वंत्यकं ते पुरा ॥
क्रुद्धे तस्य सहायिनोऽत्र सकलाः क्रूरा भवंति ध्रुवं ।
ग्रैष्मेयाग्निमवेक्ष्य कक्षमखिलाः प्लोष्यंति शैले यथा ॥

अर्थ—पूर्वकालमें यदि किसीको वह दुःखकर क्रोध उत्पन्न होता था तो बाकीके जैनी पापके भयसे उसी समय उस क्रोधीके हृदयमें संतोष हो और वह क्षमा धारण करें इस प्रकारके उपाय करते थे। किसीको भी एक दूसरेका अहित होनेमें आनंद नहीं होता था। परंतु आज कलके जैनी यदि किसीको क्रोध आवें तो उसे और भी क्रूर बननेके लिये सहायक बनते हैं। जिस प्रकार कि ग्रीष्म कालमें यदि पर्वत में कोई अग्नि लगे तो सब हिंसातुर होकर उसमें जंगलके जंगलको जलाते हैं ॥ ७५ ॥

क्रोधोऽश्वत्थवदग्निकृत्पवनवत् पित्तापहृत्पुण्यहृत् ।
नित्यं धूमकृदग्निवद्दुरितकृन्मिथ्याग्रहाकृष्टिकृत् ॥

मंत्रीवाशुचिराब्धिवाडव इव श्रीदृग्गिरेर्वज्रवत् ।
वृत्तध्यानदवाग्निरुल्लसति दुष्कर्माटवीमेघवत् ॥७६॥

अर्थ—जिस प्रकार अश्वत्थकी लकडीमें आग जल्दी लग जाती है इसी प्रकार क्रोध भी जल्दी कुपित होजाता है । वायु जिस प्रकार चित्तको नष्ट करता है उसी प्रकार क्रोध पुण्यको नष्ट करता है । नित्य धूंवा उत्पन्न करनेवाले अग्निके समान सदा पापको उत्पन्न करता है । मिथ्यात्व भूतके द्वारा आक्रष्ट मंत्रीके समान मिथ्यात्वको उत्पन्न करता है, समुद्रके बीचमें रहनेवाला वडवाग्निके समान है, दर्शनरूपी पर्वतको तोडनेके लिए वज्रके समान है । चारित्र व ध्यानको जलानेके लिए दवाग्निके समान है । दुष्कर्मरूपी जंगलकी वृद्धिके लिए बरसातके समान है ॥ ७६ ॥

चित्रं क्रोधहुताशनो तनुरयं निश्शेषलोकाशया- ।
नाविश्याविचलो जवादथ भवन्नेकोऽप्यनेकात्मकः ॥
पीत्वा धर्मघृतं जिनार्जितमिदं पुष्णाति दर्पः सतां ।
चेतःक्लेशकरस्ततोऽभवदयं लोकोऽप्यपुण्यक्रियः ॥७७॥

अर्थ—यह आश्चर्यकी बात है कि यह क्रोधरूपी अग्निकण संपूर्ण लोकमें प्राणियोंके मनमें प्रविष्ट होकर यह एक होनेपर भी अनेक विकाररूप होजाता है । तथा धर्मात्माओंके द्वारा कमाये हुए पुण्य घृतको पीकर और ज्यादा प्रज्वलित होता है और उन सज्जनोंके चित्तमें संक्लेश बढाता है । ऐसा जब संक्लेश बढता है तो लोकमें भी अन्याय, पाप आदि पापक्रियायें बढती हैं ॥ ७७ ॥

क्रुध्यत्पात्रं क्षुधितं यदातिकुपितं संस्थाप्य कुर्वंति ये ।
ज्ञानक्षांतितपोजपाननुदिनं तस्यैव संतुष्टये ॥
क्षांत्यंशश्च तपःक्षुधाभवदहो ज्ञानं स्तवोऽप्यामिषम् ।
तेषां क्रोधसमन्वितांचिततपःक्लेशाय पापाय च ॥७८॥

अर्थ— क्रोधरूपी व्याघ्र जब क्षुधित व अत्यंत कुपित होजाता है तब उस व्याघ्रके काममें मुनियोंका कमाया हुआ ज्ञान, क्षमा, तप, जप आदि आजाते हैं। क्रोधी मुनि इन बातोंकी कमाई उस व्याघ्रकी पुष्टिके लिये ही करते हैं। क्षमा पानी है। तप उसके लिये भूख है। ज्ञान व स्तुति यह मांस है। विशेष क्या? क्रोधी मुनियोंका तप क्लेश व पापकेलिये होता है॥ ७८॥

क्रोधोऽङ्गेष्वपि कंपनं हृदि दृशो रागं मनोविभ्रमं।
सत्पुण्यामलसर्वनीतिपदवीनिष्णातबुद्धिक्षयं॥
तृष्णावृद्धिमधैर्यतामपघने पित्तज्वरात्युष्णतां।
निंदामिंद्रियतापमेष न च भो कांतो विपत्तिं सदा॥७९॥

अर्थ–क्रोध शरीरमें व हृदयमें कंप उत्पन्न करता है, आंखोंको लाल करता है, मनमें विभ्रम होता है। शुभ पुण्यको कमानेमें व सर्वनीति मार्ग व अधिकारमें कुशल व्यक्तिकी बुद्धिको भी क्षीण करता है। लोभकी वृद्धि करता है। अधैर्यको बढाता है। जिस प्रकार कि गर्मियोंके दिनमें पित्तज्वर अत्यंत दाह उत्पन्न करता है। लोकमें क्रोधीकी निंदा होती है। इंद्रियोंके विषयमें संताप रहता है। अनेक प्रकार की विपत्ति को उत्पन्न करता है। इसलिए बुद्धिमानोंको यह क्रोध सदा वर्ज्य है॥ ७९॥

दृष्ट्वैकालयसंभवं हुतवहं मूढा हरंति क्षणात्।
प्रज्ञा दुष्कृतभीरवोऽपि सहसा ग्रामं दहंति स्फुट॥
दोषं कालभवं सुदुर्द्धरमिमं संतु समर्थाश्च के।
सर्वे कालजदोषजालपतिताः कुर्वंति किं मंगलं॥८०॥

अर्थ—कोई अज्ञानी किसी घरमें अग्निको देखकर उसे अपहरण करते हैं, तो बुद्धिमान् पापभीरु होनेपर भी क्रोधसे बदला लेनेके लिए उस ग्रामको ही जला डालते हैं। यह अत्यंत कठिन कालदोष है।

इसमें असली क्षमा करनेवालोंका मिलना बहुत कठिन है। सबके सब जो कालदोषके जालमें फंसे हुए हैं उनका मंगल कैसे हो सकता है या वे क्या शुभ कर सकते हैं ? ॥ ८० ॥

क्रोधः स्वर्गगतिं हंति कुरुते नारकीं गतिं ।
सुदृग्बंधुविभूत्यायुरभिमानादिकं क्षयेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—क्रोधकषाय मनुष्य को स्वर्ग नहीं जाने देता है, नरक गतिका बंध सरलतया करता है। वह सम्यग्दर्शन, बंधु, ऐश्वर्य, आयु, अभिमान आदिका सर्व नाश करता है ॥ ८१ ॥

स्त्रीविडंबनमाह

भूकांतप्रियधीरवीरनृपते धर्मार्जितश्रीपते ।
सम्यग्धर्मगुणच्युतः क्षपयति प्राणान्न चित्रं शरः ॥
स्त्रीपुण्याप्यहमेव भीरुरबला धीरा दयालुश्च मे ।
सम्यग्धर्मगुणान्वितोक्षिकणयस्त्वामेव चाकर्षति ॥८२॥

अर्थ—उत्तम धनुष्यकी डोरीसे छूटा हुआ बाण प्राणोंको नष्ट करता है इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, वैसे उत्तम क्षमादिधर्म और निःशंकादि गुणोंसे रहित ऐसा स्त्रीका रागद्वेष उत्पन्न करनेवाला कटाक्ष प्राणोंको हरता है। हे पृथ्वीपति, प्रिय धीर वीर राजन् ! तुम अपने मनमें निश्चित समझो। वेश्या और व्यभिचारिणी स्त्रियोंके कटाक्ष पुरुषको धर्म और गुणोंसे भ्रष्ट करके प्राणरहित करते हैं। परंतु जो स्त्री धीर दयालु, अधर्म भीरु और पवित्र विचारवाली है उसके नेत्रकटाक्ष उत्तम धर्म और गुणोंसे युक्त होनेसे धर्माचरणसे संपत्तिको प्राप्त करनेवाले हे राजन् ! तुमको वे आकर्षण करते हैं। अर्थात् हे राजन् ! पवित्र साध्वी आर्यिका वगैरह व्रतिक स्त्रियां प्रसन्न नेत्रोंसे आपको देखती हैं। उनके नेत्रोंमें कामविकार तिलमात्र भी रहता नहीं

है। और ऐसे पवित्र नेत्रोंसे देखनेपर हे राजन् ! तुम्हारा हित ही होता है ॥ ८२ ॥

षट्त्रिंशद्गुणवत्प्रफुल्लवदनाम्भोजेक्षणाद्योषितां ।
पंकेजोपमसप्तविंशतिगुणोरोजद्वयप्रेक्षणात् ॥
कामाल्लोपमयोगिचित्तलयकृत्तौर्यसंदर्शनात् ।
पूर्वोपार्जितपुण्यसंततिरहो निर्मूलमुन्मूलितः ॥ ८३ ॥

अर्थ—छत्तीस गुणोंसे युक्त ऐसे प्रसन्न मुखकमलवाली स्त्रीको चावसे देखनेसे, सत्ताईस गुणोंसे युक्त कमलसदृश दो स्तनोंको देखनेसे स्त्रियोंकी कामालसदृश योंहे योगिजन के चित्तको विकृत कर देती है, तब आश्चर्य है कि पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मका समूह एकदम निर्मूल नष्ट होता है ॥ ८३ ॥

स्त्रीरूपालोकवह्निव्यन्तरनिहिततनुं मत्तयाविष्टचित्तं ।
लावण्यांभोनिमग्नं वचनभुजंगदष्टं लसन्मोहपाशैः ॥
बद्धांगं दुर्विकारस्मरणरचितसूच्योघविद्धाखिलांगं ।
लोकं कामाग्निदग्धं रिपुरिव भुवने पीडयत्यन्वहं स्त्री ॥

अर्थ—जो स्त्रीरूपरूपी अग्निके मध्यमें अपने शरीर को रख चुका है और मत्त स्त्रीके विषयमें अपने चित्तमें सदा विचार करता रहता है, सुंदरतारूपी समुद्रके बीचमें डूबा है, स्त्रियोंके वचनरूपी सर्पसे काटा गया है, मोहरूपी पाशसे बांधा गया है, और अनेक प्रकार के दुर्विकारोंके स्मरणसे जिसे सारे शरीरमें सूईके समूहसे चुभनेके समान वेदना होती है, वह कामरूपी अग्निसे दग्ध है। यह स्त्री मनुष्य को शत्रुओंके समान दुःख देती है ॥ ८४ ॥

क्ष्वेडं हंत्यहिमं यथाशु गरुडध्याने विषापात्मन- ।
श्चितापं हरतीव पञ्चकर्णाध्यानं सुपुण्यं हरेत् ॥

चंद्रालोकनतोऽब्धिवच्च ललनालोकात्समुज्जृंभते ।
पापाब्धिः सुकृतं यथा गजसुतो नश्येत्स सिंहेक्षणात् ॥८५

अर्थ—जिस प्रकार गरुड-मंत्रका ध्यान सर्पके विषको नष्ट करता है, आत्मध्यान पापको नष्ट करता है उसी प्रकार तरुणीध्यान पुण्य का नाश करता है। चन्द्रमाको देखनेसे जिस प्रकार समुद्र उमड आता है, उसी प्रकार स्त्रियोंको देखनेसे पापसमुद्र उमड आता है। जिस प्रकार सिंहको देखकर हाथीका बच्चा शक्तिविहीन होजाता है उसी प्रकार स्त्रियोंको देखनेसे सुकृत नष्ट होता है ॥ ८५ ॥

स्वर्गोऽधःपातुकः स्वःस्थितसुखिविबुधान्नारको दुःखिजीवा—।
नूर्ध्वं लोकं स मर्त्यो भ्रमयति नरकं स्वर्गलोकं दिवाभाः ॥
कांताः स्वाधःप्रदेशस्थितिकृतिचतुराः स्वाश्रितानां जनानां ।
स्याल्लोकाधःस्थितित्वं दधति सुधवरं दुर्गतिर्योषिताभ्यः ॥८६॥

अर्थ—स्त्रियोंका संसर्ग मनुष्यको स्वर्गसे भी नीचे गिरानेवाला है। और उनके संसर्गसे दूर रहनेवाले नारकी भी कालांतरमें ऊपर आते हैं। पुरुषोंसे नीचे रहनेवाली स्त्रियां हरतरहसे पुरुषोंकी दशा नीच करनेके लिये समर्थ हैं। जो स्त्रियोंके पाशमें पड गये हैं वे अवश्य लोकके नीचे अपनी जगह कायम करते हैं। उनको अनेक नरकादि दुर्गति होती है ॥ ८६ ॥

कारांगं सुदृगंधकृत्त्रिवलयः शूली च वेणी कशा ।
चापो भ्रूः कणयाः कटाक्षवलनाः क्ष्वेडो मृदूक्तिः कुचौ—
पुण्यापातनकंदुकौ पदहतिर्दूपीविपाखाहतिः ॥
हासेनारिं सुतान्प्रकंपति वनिता नीतिस्त्वमोघा भवेत् ॥८७॥

अर्थ—स्त्रियोंका शरीर बंदीखानेके समान है। उनके सुंदर नेत्र मनुष्यको अंधा बनानेवाले हैं। तीन वलय हिंसाके स्थान हैं। वेणी

चाबुक है। भू बाण है। कटाक्ष भालेके समान है। मृदुवचन विष है। दोनों स्तन पुण्यको गिरानेवाले गेंद हैं। उनकी सुंदर चाल दूषित विषका अस्त्र है। वे मंदहास्य से सबको वशमें कर लेती हैं। स्त्रियोंकी नीति अमोघ है। उसे कौन पहिचान सकता है? ॥ ८७ ॥

दुर्गत्याविष्टजीवाः स्वकृतसकलदुःकर्मरूपं प्रपंचं।
जानंतो शेषकर्मप्रभवफलभुजः सर्वनिर्वेगभाजः ॥
तत्कर्म क्षीयतेऽत्रो युवतिजनवशाद्वर्धते कर्म सर्वं।
स्त्रीसंपर्काद्दूरं दुर्गतिरपि यमिना योषितो दूरवर्ज्याः ॥८८॥

अर्थ—जो जीव अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें भ्रमण करते हुए अपने किए हुए कर्मोंके सर्व विषयको जानते हुए व उसके फलको अनुभव करते हुए वैराग्यको प्राप्त होजाते हैं, दिगंबर दीक्षा आदि लेते हैं, फिर भी यदि वे स्त्रियोंके फंदेमें पड जाते हैं तो उनका वह शुभकर्म नष्ट होकर पापको वृद्धि होती है। स्त्रियोंके संसर्गसे नरक भी कई गुने अच्छा है। इसलिए आत्मकल्याणेच्छु संयमियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको कोसों दूर छोडे, तभी उनका हित हो सकता है ॥ ८८ ॥

मध्यमपात्र.

साणुव्रताः शुद्धदृशोऽकषायिणः।
स्वस्त्रीप्रहृष्टाः सदयाः शुभाशयाः ॥
साधुप्रियाः जैनजनोपकारिण—।
स्ते साधुभिर्मध्यमपात्रमीरिते ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो अणुव्रतोंसे युक्त हैं, शुद्धसम्यग्दृष्टि हैं, मंद कषायी हैं, स्वस्त्रीसंतुष्ट हैं, दयासहित हैं, शुभ भावोंकर युक्त हैं, गुरुजनोंमें

संतुष्टो यः स्वदारेषु पंचाणुव्रतपालकः।
सम्यग्दृष्टिर्गुरौ भक्तः स पात्रं मध्यमं भवेत् ॥

प्रेम रखनेवाले हैं, जैनियोंको उपकार करनेवाले हैं उनको साधुगण मध्यम पात्र कहते हैं ॥ ८९ ॥

जिनमुनिपदाब्जभृंगा मुनिवचनसुधांबुपानसंतुष्टाः ।
जैनानुकूलवृत्तास्ते पात्रं मध्यमं ब्रुवंत्यार्याः ॥ ९० ॥

अर्थ—जिनमुनियोंके चरणरूपी कमलके लिये जो भ्रमरके समान हैं, मुनियोंके वचनरूपी अमृतको पीकर जो संतुष्ट होते हैं, जिनेंद्रके उपदेशके अविरुद्ध आचरण रखनेवाले हैं, उनको सज्जन लोग मध्यम पात्र कहते हैं ॥ ९० ॥

दोषप्रकोपशमना इव भिषजे जैनदोषपिधानाः ।
जैनगुणोज्ज्वलकरणास्ते पात्रं मध्यमं ब्रुवंत्यार्याः ॥९१॥

अर्थ—जिस प्रकार औषधि वातपित्तादिक दोषोंको शमन कर शरीरमें गुणोंकी वृद्धि करती है, उसी प्रकार जो जिनधर्म भक्तोंके दोषोंको ढकनेवाले हैं और उनके गुणका उद्योत करनेवाले हैं उनको सज्जन लोग मध्यम पात्र कहते हैं ॥ ९१ ॥

दृष्ट्वा दोषिणमातुरं भुवि भिषग्दोषः कृतोऽयं त्वया ।
मा भैर्षीर्द्रुतमामयस्त्यजति ते ह्युक्त्वारुषग्द्विषन् ॥
दत्वैवौषधमर्थमिष्टमखिलोपायैर्दयालुर्गदम् ।
दोषं मोचयतीह वर्तितजनाः पात्रं तथा मध्यमं ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई दयालु वैद्य अपने पास आये हुए दोषी रोगीको देखकर यह कहकर क्रोधित नहीं होता है कि तुमने अमुक दोष किया और न उसके ऊपर द्वेष करता है, प्रत्युत यह कहकर उसे आश्वासन देता है कि तुम घबराओ मत, यह रोग शीघ्र दूर हो जायगा। तदनंतर योग्य औषध व उचित उपायोंद्वारा इस रोगकी चिकित्सा करता है। इसी प्रकार कोई दोषी सज्जनोंके पास आवे तो

उसके प्रति क्रोधित होकर तुमने अमुक दोष किया है, ऐसा कहकर फटकारना नहीं चाहिये और न उसके प्रति द्वेष करना चाहिये। प्रत्युत उसके लिए उचित द्रव्यादिक देकर और संतोषसे उसके अंतरंग और बहिरंग दोषको दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे लोगों को मध्यमपात्र कहा है ॥ ९२ ॥

सद्धर्मोद्धरणक्रियातिचतुरा योगींद्रविद्वज्जना।
भूपा धार्मिकसद्विवेकिसुजना यत्रागतास्तद्वचः॥
श्रुत्वागत्य विनम्य साधुविनयं कृत्वा क्षणे चिन्वते।
बुद्धिश्रीसुकृतानि ये बुधजना भव्यास्त एवोत्तमाः॥९३॥

अर्थ— सर्व कल्याणकारक जिनधर्मके उद्धार करनेमें जो चतुर हैं ऐसे योगींद्र, विद्वान्, राजा, धार्मिक, भेदविज्ञानी सज्जन आदि जहां आवे उस समय उनके वचनको सुनते ही अपने स्थानसे उठकर उन के पास जाकर जो उन्हें नमस्कार करते हैं और विनय सेवा आदि कर बुद्धि, संपत्ति, पुण्य आदि कमाते हैं वे ही उत्तम विद्वान् हैं और वे ही भव्य हैं ॥ ९३ ॥

एते यत्र वसंति तच्च विमलं तीर्थं स पुण्यापगा-।
पूरोत्पत्तिकुलाचलोघतिमिरध्वंस्यर्कपूर्वाचलः॥
पूतं पुण्यकरं भयापहरणं व्याध्यादिनिर्णाशनं।
सर्वे जैनजनाश्च तत्तदखिलास्तान्भावयेयुस्सदा॥९४॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकारके मुनींद्र जहांपर वास करते हैं वह निर्मल तीर्थ है। वह पुण्यरूपी नदीके उत्पन्न होनेके लिये कुलाचल पर्वत है, पापरूपी अंधकार नाश करनेवाले सूर्यकी उत्पत्तिकेलिये उदयाचलके समान हैं, पवित्र है, पुण्यकर है, सर्वभयको दूर करनेवाला है। आधिव्याधि को नाश करनेवाले हैं। इसलिये सर्व धर्मभक्त वैसे मुनींद्रोंकी उपासना व भावना करते हैं॥ ९४

जघन्य पात्र.

पंचाणुव्रतरहितं सप्तव्यसनप्रवृत्तिकरणं चतुरं ।
मुनयो वदंति पात्रं ललितांगमिव द्युगामिनं सुदृशं ॥९५

अर्थ—जो पंचाणुव्रतसे रहित है, सप्तव्यसनमें प्रवृत्ति करनेमें चतुर है, परंतु सम्यग्दृष्टि है ऐसे ललितांगके समान स्वर्गजानेवाले मनुष्योंको मुनिवर जघन्यपात्र कहते हैं ॥ ९५ ॥

धर्मकदीक्षाभजनी वादी नैमित्तिकी तपस्वी च ।
पंचैते मुनिवृषभा जिनशासनदीपकाः प्रशस्ताश्च ॥९६॥

अर्थ—जिनधर्मी मुनीको धर्मक अथवा समयिक कहते हैं। निरतिचार महाव्रतोंको पालन करनेवाले आचार्य मुनिको दीक्षाभजनी कहते हैं। वादित्वगुणसे धर्मकी प्रभावना करनेवाले मुनिको वादी कहते है। ज्योतिःशास्त्र, मंत्रशास्त्र व निमित्तशास्त्रको जाननेवाले मुनियोंको नैमित्तिक कहते है। मूलोत्तर गुणोंको धारण करनेवाले वृद्ध मुनीश्वरको तपस्वी कहते हैं। ये पांच प्रकारके श्रेष्ठ मुनीश्वर जिनशासनकी प्रभावना करनेवाले और प्रशंसनीय मुनि माने जाते हैं ॥९६॥

भार्यां मातरमंतरेण तरुणीगेहं व्रती नो विशे-।
दाविष्टे सति योषिता जगति भो निंदा भवेदन्यथा ॥
साकं हासविवादनर्मधनदानादानभाषादिका-।
न्दृष्ट्वा निंदति सव्रतं स विबुधोऽन्यस्त्रीगृहं नो विशेत् ॥

अर्थ—जो शीलवान् पुरुष है वह अपनी पत्नी या माता जिस घरमें हो उसे छोडकर अन्य किसी घरमें कोई परस्त्री अकेली हो उस में कभी प्रवेश न करें। ऐसा प्रवेश करनेपर लोकमें उसकी निंदा होती है। और परस्त्रियोंके साथ हास्य, विवाद, धनका लेनदेन, बोलना आदि भी नहीं करना चाहिये। इसे भी देखकर लोग उसकी

निंदा करते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष पर-स्त्रियोंके घर क्यों प्रवेश करेगा ? ॥ ९७ ॥

ईदृग्दोषमनारतं न कुरुते निर्दोषदृग्वान्स यः ।
पुण्यात्मा नमितानीनोऽपि तरुणीवाचोऽप्यशृण्वन्क्षमी ॥
विद्वान्स्वर्गसुखादिदं व्रतमिदं निर्दोषमेधावति ।
पात्रं मध्यममित्युशंति मुनयस्तं कर्मविध्वंसिनः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह उपर्युक्त प्रकारके परस्त्रीजनित दोषोंको कभी नहीं करता है। उसे परस्त्रियोंके मुखको देखना भी पसंद नहीं है और न उनके वचन सुननेमें सहन होता है। वे सच-मुचमें बुद्धिमान् है, पुण्यात्मा हैं। ऐसे लोग स्वर्गादि संपत्तिको देने-वाले व्रतोंको निर्दोषरूपसे पालन करते हैं। उनको सर्वकर्मको नष्ट करनेवाले जिन मुनींद्र मध्यम पात्रके नामसे कहते हैं। अर्थात् गृहस्थों के सर्वव्रतोंको निरतिचार पालन करानेके लिए शील बहुत प्रबल साधन है ॥ ९८ ॥

धर्मं वर्द्धयति क्षमां रचयति क्रोधं विवादं नृणां ।
शक्त्या वा वचसा नयेन मृदुना यस्तंभयत्यन्वहं ॥
धर्मच्छिद्रमुपावृणोति सकलं संघं मुदा रक्षति ।
पात्रं मध्यममाहुरुत्तमजनास्तं मर्त्यमुद्यद्दृशम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो जिनधर्मकी प्रभावनाको बढाता है, क्षमा धारण करता है, क्रोध व विवादको अपनी शक्तिके द्वारा मिष्टवचनसे और चतुर नीतिसे रोक देता है। सदा धर्मके दोषको ढकनेके लिए उद्यत रहता है, सर्व जैनसंघकी संतोषसे रक्षा करता है, उस सम्यग्दृष्टिको मध्यम पात्र ऐसा उत्तम ऋषिगण कहते हैं ॥ ९९ ॥

जघन्यपात्र

निर्दोषसुदृशं पुंसां सर्वजीवहितैषिणं ॥
पश्यंत मातृवज्जैनं जघन्यं पात्रमुत्तमाः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो निर्दोष सम्यग्दृष्टि है, माताके समान सर्व जीवोंका हित चाहनेवाला है, ऐसे जैनको उत्तम ऋषिगण जघन्य पात्र कहते हैं ॥ १०० ॥

दृष्ट्वा जिनं गुरून् जैनान्संतुष्टः स्तौति नौति यः ॥
तमद्विषंतं भवस्यैव जघन्यं पात्रमीरितं ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो जिनेंद्र, गुरुयोंको तथा जैनबंधुओंको देखकर उनके प्रति द्वेष न करते हुए संतोषसे भक्तिसे उनकी स्तुति करता है व नमन करता है उसे जघन्य पात्र कहा है ॥ १०१ ॥

अपात्र वर्णन.

देवगुरुधर्मधार्मिकशास्त्रव्रतविद्बुधदूषकास्तद्वाचः ॥
ये श्रृण्वंति दयंते सततं सप्तुष्टांत्यपात्रमिति विबुधाः ॥१०२॥

अर्थ—जो जिनदेव, जिनमुनि, धार्मिक, शास्त्र, जिनोपदिष्टव्रत, विद्वान् आदिका दूषण करते हैं, उनको एवं जो उनके वचनोंको बहुत संतोष से सुनते हैं व उन दूषकोंको अन्न वस्त्रादिक देकर पोषण करते हैं उनको अपात्र कहते हैं ॥ १०२ ॥

तपोधनं वक्रमिंत सुवृत्तं कषायिणं दुर्गतिगामिनं च ॥
वदंत्यपात्रं मुनयोऽघवृद्धिं करोति यस्तं मनसैव पार्श्वे ॥१०३॥

अर्थ—जो मुनीश्वर पार्श्वमुनिके समान जानबूझकर अपने चारित्रको मलिन करते हैं, अत्यंत कषायी हैं, नरकादि दुर्गतिको जानेवाले हैं, पापकी वृद्धि करते हैं उन्हें मुनिगण अपात्र कहते हैं ॥ १०३ ॥

धर्मापकारिणो धर्मद्वेषिणो धार्मिकद्विषः ॥
कुतर्किणोपि येऽन्योन्यमपात्रं ते विदुर्बुधाः ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मकार्यमें विघ्न डालनेवाले हैं। धर्मद्रोही है, व धार्मिकमनुष्योंके साथ द्वेष रखते हैं व परस्परमें कुतर्क करते हैं उनको अपात्र कहते हैं ॥ १०४ ॥

दूषकाणां विशुद्धिर्न श्रोतृणामेव शोधनं ॥
व्याघ्रध्वनिश्रुतिर्भव्यमृगाणामिव भीतिदा ॥ १०५ ॥

अर्थ—निंदा करनेवालोंकी शुद्धि या सुधारणा किसी तरह भी नहीं होसकती। केवल सुननेवाले अपने कानका शोधन करसकते हैं अर्थात् हम निंदायुक्त वचनोंको नहीं सुनेंगे ऐसी प्रतिज्ञा सुननेवाले कर सकते हैं। जंगलमें रहनेवाले साधुजीवोंके लिये व्याघ्रके शद्वको सुननेकेलिये भी भय लगता है इसी प्रकार भव्यरूपी मृगोंको दुष्टजन रूपी व्याघ्रोंका वचन भी भय उत्पन्न करते हैं ॥ १०५ ॥

कुपात्र वर्णन.

धर्मे यस्यानुरागो न न शृणोति गुरोर्वचः ॥
परं अतीव वर्तेत तं कुपात्रं विदुर्बुधाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यको धर्ममें अनुराग नहीं और न गुरुओंके वचनको सुनता है परंतु दम्भसे अपनेको सबसे बडा व्रती व धर्मात्मा समझता है उसे मुनिगण कुपात्र कहते हैं ॥ १०६ ॥

स्वधर्माचरितं चान्यधर्मवृत्तसमं च यः ॥
मनुते वर्ततेऽसौ स्वकुपात्रं तं विदुर्बुधाः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने धर्मका आचरण व परधर्मके आचरणको बराबरीमें समझता है व तद्रूप आचरण करता है, उस मिथ्यादृष्टिको ऋषिगण कुपात्र कहते हैं। उसकी वृत्ति ठीक उसी प्रकारकी है जैसे कोई व्यभिचारिणी स्त्री पर-पुरुष व अपने पतिको पतिभावसे देख रही हो ॥ १०७ ॥

स्वकीयपात्राणि सुरक्षयंतोऽन्यदीयपात्राण्यपि पालयंतः ॥
त एव सर्वेपि कुपात्रमुक्तम् पीडासुखं तेऽनुभवंति शश्वत् ॥

अर्थ—जो अपने पात्रोंकी भी रक्षा करते हैं और मिथ्यापात्रोंका भी पोषण करते हैं उन सबको कुपात्र कहा है। वे सदा अत्यधिक दुःख भोगते हैं ॥ १०८ ॥

पुनः तीन प्रकारके पात्रोंका वर्णन.

विचित्रभावैर्नयहेतुदर्शनैस्सुधर्ममार्गं प्रतिपादयंति ये ।
मातेव शिक्षामनुबंधकारिणस्तान्कार्यपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—अनेक प्रकारके परिणामोंसे एवं नयविवक्षाको बतलाते हुए जो धर्ममार्गका प्रतिपादन करते हैं, जो माताके समान योग्य हितोपदेश देते हैं उन्हें साधुगण कार्यपात्र कहते हैं ॥ १०९ ॥

कार्यपात्र.

प्रगल्भभृत्या वरकार्यकोविदाः प्रयोजिताः स्वाम्यनुकूलवर्तिनः ।
महत्सु कार्येष्वनुयायिनो नरास्तान्कार्यपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—जो सेवक अत्यंत कार्य कुशल हैं और स्वामीके अनुकूल वृत्ति रखनेवाले हैं एवं बडे २ कार्यमें भी अनुसरण करनेवाले हैं या साथ देनेवाले हैं उनको भी कार्यपात्र कहते हैं। कार्यपात्रोंको भी दान देना चाहिये ॥ ११० ॥

कामपात्र.

संभोगयोग्या ललना मनोज्ञा यदंगसंगाल्लभते मनस्सदा ॥
सुखं हृषीकोद्भवसौख्यभाजां ताः कामपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—जो अपनी सुंदर स्त्री संभोग करनेके लिये योग्य है जिसके अंगस्पर्श करनेसे एक विशिष्ट मानसिक सुख होता है उसे ऋषिगण कामपात्र कहते हैं ॥ १११ ॥

पुनः पंचविधमाह

जिने जिनगुरौ संघे यस्य साधु मनोऽचलं ॥
वर्तते नेतरत्रासौ समयीत्युच्यते बुधैः ॥ ११२ ॥

अर्थ—श्रीजिनेंद्र भगवंत, जिनगुरु व जैनसंघमें जिस भव्यकी भक्ति अचल है, सदा उनकी सेवा करता रहता है, अन्यत्र चित्त लगाता नहीं उसे महर्षि समयी कहते हैं ॥ ११२ ॥

साधक.

जिनबिंबे जिनगेहे जिनागमे जिनवक्त्रे च यो विद्वान् ॥
विशऽपयं च कुरुते स साधको मुक्तिसाधकैरुक्तः ॥११३

अर्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् जिनबिंब आदि निर्माण करानेमें, जिनचैत्यालय आदिके करानेमें, जैनशास्त्रोंके प्रचारमें, जैनसंघको उपकार करानेमें, एवं जिनप्रतिष्ठा आदि उत्सव करने में अपना न्यायोपार्जित वित्तका उपयोग करता है वह मोक्षको साधन करता है इसलिए मोक्षसाधक महर्षि उसे साधक कहते हैं ॥ ११३ ॥

जैनानां यो भिषग्व्याधिं निवारयति भेषजैः ॥
दद्यात्तस्येष्टवस्तूनि ततः स्याद्धर्मवर्द्धनम् ॥ ११४ ॥

अर्थ— जो वैद्य जैनसंघके रोगियोंको औषधि देकर रोगनिवृत्ति करता है उसे उसके इष्ट पदार्थोंको देकर सत्कार करना चाहिए। उससे धर्मकी वृद्धि होती है। धर्मात्माओंका स्वास्थ्य सदा धर्मके स्वास्थ्य की भी वृद्धि करता है ॥ ११४ ॥

सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे सुलग्नेऽप्युत्सवद्वयं ॥
यःकारयति दैवज्ञस्तस्मै दद्यान्मनीषितं ॥ ११५ ॥

अर्थ—जो योग्य मुहूर्त, नक्षत्र व लग्नमें धर्म व धर्मात्माओंका उत्सव निर्विघ्नतया कराते हैं ऐसे ज्योतिषियोंका भी योग्य सन्मान करना चाहिये ॥ ११५ ॥

भूतप्रेतपिशाचादिग्रहपीडानिवारकः ॥
तस्येष्टवस्तुदातुः स्यादारोग्यसुखसंपदः ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो भूत, प्रेत, पिशाच आदि ग्रहके उपद्रवोंको मंत्रवादके द्वारा निवारण करते हैं ऐसे मंत्रवादियोंको भी दान देनेवाले गृहस्थका सुख व संपत्ति बढती है ॥ ११६ ॥

ज्ञात्वा भूतभवज्ज्ञाविशुभाशुभफलानि यः ॥
सत्यं वदति तस्यार्थं दातुः पुण्यफलं भवेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति नैमित्तिक शास्त्रके बलसे भूतभविष्यद्वर्तमानके ग्रहोंके उदयके शुभाशुभ फलको सत्यरूपसे कहता है उस दैवज्ञको जो द्रव्य दान करता है उसे पुण्यबंध होता है ॥ ११७ ॥

जिनान्यंत्राणि शांत्यर्थं क्रमेणाराधयत्यपि ।
स एव पुण्यपात्रं स्यात्पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति लोकमें रोगादिक शांतिके लिए जिनधर्मसंबंधी यंत्रोंको कर उसकी आराधना करता है, उसे भी पात्र समझें । भव्यात्माओंके द्वारा वह भी आदरणीय है ॥ ११८ ॥

द्वादशांगनिविष्टा ये सद्दृष्टिव्रतिकादयः ॥
ते पात्रं तारतम्येन भवंति मुनीश्वराः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जो सद्दृष्टि व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमामें आचरण करनेवाले हैं और बारहवें अंगरूप मुनिधर्मको पालन करनेवाले हैं उन सब को मुनिगण तारतम्य रूपसे पात्र ही कहते हैं ॥ ११९ ॥

शीलेन रक्षितो जीवो न केनाप्यभिभूयते ।
महाहृदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ॥ १२० ॥

अर्थ—जो अनेक प्रकारके उत्तम चारित्र शील आदिकसे अपनी रक्षा करते हैं उनको दबानेवाले लोकमें कोई भी नहीं है । जो व्यक्ति बडे भारी सरोवर में डूबा हुआ है उसे जंगलकी आग क्या कर सकती है ? ॥ १२० ॥

मतं समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतैः
प्रभासुरं पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है । इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ १२१ ॥

इति पात्रलक्षणविधिः



दातृलक्षणविधिः

प्रणम्यादिजिनं भक्त्या करणत्रयलक्षितम् ।
पात्रदानफलं सम्यग्वक्ष्येऽहं दातृलक्षणं ॥ १ ॥

अर्थ—भगवान् आदिनाथ स्वामीको नमस्कार कर मनोवाक्कायके शुद्धरूप लक्षणको धारण करनेवाले दाता के लक्षण व पात्रदान के फलको अच्छीतरह कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

दातृलक्षण.

सदा मनःखेदनिदानमानान्विनोपरोधं गुणसप्तयुक्तः ।
त्रिकालदातृप्रमुदैहिकार्थी न तं च दातारमुशंति संतः ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दानकार्यमें "ओहो" जन्मभर कमाया हुआ धन मेरे हाथसे जाता है ! इसप्रकार मनमें खेद नहीं करता है, जो दानके बदलेमें कुछ चाहता नहीं, अभिमान व परप्रेरणासे रहित हो कर दान देता है, और दाताके लिये सिद्धांतशास्त्रमें कहे हुए सप्त गुणोंसे युक्त है । जिसे भूत भविष्यद्वर्तमानकाल-संबंधी दातारोंके प्रति श्रद्धा है व ऐहिक सुखकी इच्छा नहीं, उसे ऋषिगण उत्तम दाता कहते हैं ॥ २ ॥

विनयवचनयुक्तः शांतिकांतानुरक्तो ।
नियतकरणवृत्तिः संघजातप्रसक्तिः ॥
शमितमदकषायः शांतसर्वांतरायः ।
स विमलगुणशिष्टो दातृलोके विशिष्टः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो विनयवचनसे युक्त है, शांतिरूपी स्त्रीसे अनुराग रखने वाला है, इंद्रियोंको जिसने वशमें कर लिया है, जिसे जैनसंघमें प्रसन्नता है, मद और कषायको जिसने शांत किया है एवं जिसके सर्व-

अंतराय दूर हो गए हैं और अनेक निर्मल गुणोंको धारण करनेवाला है उसे उत्तमदाता कहते हैं ॥ ३ ॥

वैद्या नृप्रकृतिर्यथानलविधिं ज्ञात्वैव रक्षन्ति तान् ।
सर्वेऽष्टादशधान्यलोभमतयः क्षेत्रं यथा कार्षिकाः ॥
गां धारार्थजना अवंति च यथा रक्षेयुरुर्वीश्वराः ।
नित्यं स्वस्थलवर्तिनो धृपचितो धर्मं च धर्माश्रितान् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य रोगियोंकी प्रकृति व उदराग्निको जानकर उनके योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते हैं, संपूर्ण अठारह प्रकारके धान्य के लोभसे जिस प्रकार किसान लोग खेतकी रक्षा करते हैं, ग्वाले लोग दूधके लिए गायकी रक्षा करते हैं, राजा लोग अपने राज्यकी स्थिति के लिए मनुष्योंकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा दाता धर्म व धर्मात्माओंकी सदा रक्षा करते हैं। वे ही उत्तम दाता कहलाते हैं ॥ ४ ॥

सप्तगुण

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस दाताके हृदयमें श्रद्धान, भक्ति, संतोष, दानविधिका ज्ञान, लोभराहित्य, क्रोधादिक कषायोपशमरूपी क्षमा, व शक्ति इस प्रकार सप्तगुण मौजूद हैं उसीको उत्तम दाताके रूपसे कहते हैं ॥५॥

सप्तगुणलक्षण.

श्रद्धास्तित्वयमतिस्सतुष्टिरथलानंदस्तु भक्तिर्गुरी-।
रसेवालोलुपता विधौ कुशलता विज्ञानपर्यन्वये ।

१ श्रद्धा भक्तिरलोभत्वं दया शक्तिः क्षमापरा ।
विज्ञानं चेति सप्तैते गुणाः दातुः प्रकीर्तिताः ॥

निर्लोभत्वमलोभताप्युपशमोत्कर्षः क्षमा सर्वदा ॥
द्रव्यत्यागविधौ न नास्तिवचनं शक्तिस्तु सप्तोदिताः ॥६॥

अर्थ—अस्तिक्य बुद्धीको श्रद्धा कहते हैं, गुरुके आगमनसे होनेवाले आनंदको संतोष कहते हैं, गुरुसेवाकी अभिलाषाको भक्ति कहते हैं। दानविधिमें जो प्रवीणता है उसे विज्ञान कहते हैं। दानके लिये द्रव्यके व्यय करनेमें लोभ न करनेको अलोभत्व कहते हैं। कषायोंके उत्कर्षके उपशमको क्षमा कहते हैं, द्रव्यके त्याग करनेमें सदा उत्साह व उमंगको शक्ति कहते हैं। इस प्रकार दाताके ये सप्तगुण हैं ॥ ६ ॥

आस्तिक्यमतिः

पात्रेष्ववितर्केषु स्याद्दानेन फलमुत्तमं ।
निश्चितास्तित्वसद्बुद्धिरास्तिक्यमतिरीरिता ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्तम पात्रोंको उत्तम दान देनेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है एवं स्वर्ग नरक, पुण्य पाप, बंध मोक्ष व इह पर लोक सब मौजूद है, इस प्रकारकी आस्तिक्यबुद्धिको अस्तिक्यमति या श्रद्धा कहते हैं ॥ ७ ॥

\+ श्रद्धागुण.

पापोच्चयं मम निवारयितुं समर्थं
इदं दरिद्रमिदमाशु समर्थमेव ।
दातुं सुपुण्यमजडं रतिरद्वितीया
श्रद्धेति तत्र मुनयः खलु तां वदंति ॥ ८ ॥

अर्थ—यह पात्र मेरे पापसमूहको नाश करनेके लिए सर्वथा समर्थ है और मेरी दरिद्रताको नष्ट करनेके लिए भी समर्थ है, एवं मुझे

\+ वित्तरागो भवेदस्य पात्रं लब्धं मयाधुना ।
पुण्यवानहमेवेति स श्रद्धावानिहोच्यते ॥

अनेक प्रकारके पापोंसे छुडाकर पुण्यप्रदान करनेके लिए भी यही पात्र समर्थ है,' इस प्रकार पात्रके आगमनमें अद्वितीय आनंदको प्राप्त करना इसे मुनिगण श्रद्धा नामक गुण कहते हैं ॥ ८ ॥

तुष्टिमाह.

यथा चंद्रोदये जाते वृद्धिं याति पयोनिधिः ॥
सतां हृदयतोषाब्धिर्मुनिचंद्रोदये तथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चंद्रके उदय होनेपर समुद्र उमड आता है उसी प्रकार मुनिरूपी चंद्रके उदय होनेपर सज्जनोंके चित्तमें संतोषरूपी समुद्र उमड आता है। इसे तुष्टिगुण कहते हैं ॥ ९ ॥

१ भक्तिमाह.

आभुक्तेर्मुनिसन्निधौ शुभमतिः स्थित्वा विशोध्यामला- ।
नाहारान्परिहार्य वीक्ष्य सततं मार्जारकीटादिकान् ॥
भुक्त्यंते परिणम्य साधुहृदि संतृप्तो भवेद्यः पुमान् ।
दाता सन्मुनिसेवनेयमुदिता भक्तिश्च सा पुण्यदा ॥१०॥

अर्थ—पुण्यवान् श्रावक जबतक तपोधनमुनियोंका आहार हो तबतक बहुत विनयके साथ उनके पासमें खडे होकर आहारशोधन और उनके हाथमें निर्मल भोजनको देवें। सदा मुनियोंके आहारमें विघ्न करनेवाले मार्जारक्रिमिकीटादिकको पासमें नहीं आने देता है। निरंतराय भोजन होनेके बाद संतुष्ट होकर तृप्त होता है। ऐसा जो निर्मल चित्तवाला श्रावक जब इस प्रकार की मुनिसेवा करता है उसे भक्ति कहते है, वही पुण्यप्रदान करनेवाली है। वही भक्त उत्तमदाता है ॥ १० ॥

---

१ जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे ।
सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥

प्रातः प्रोत्थाय दाता शुचिरपि निजहस्तात्तपूजोचितार्थो।
गत्वा नुत्वा मुनीन्द्रान्धृतदिननियमो देवपूजां गुरूणां ॥
भुक्तिं देहस्थितिं तत्तदुचितमुविधां तांचिकित्सां विचार्य।
क्षिप्रं बंधूनिवार्यानुपचरतु जिनेंद्राकृतीन्साधुसाधून् ॥११॥

अर्थ—धर्मात्मा दाता प्रातःकाल उठकर शौचस्नानादि क्रियायोंसे निवृत्त होकर अपने हाथमें पूजाकेलिये योग्य सामग्रियोंको लेकर मंदिर जावें। वहां देवपूजा व गुरुपूजा कर, मुनींद्रोकी वंदना कर दिननियमव्रतको ग्रहण करें एवं उन मुनियोंकी देहस्थिति आदिको विचार कर उनकी देहस्थितिके लिये उपयुक्त आहार व चिकित्सा आदिकी व्यवस्था कर बहुत शीघ्र अपने बंधुवोंके समान उन जिनेंद्राकारमें रहनेवाले उन सज्जन साधु आचार्योंका उपचार करें। यह उत्तम दाताका लक्षण है ॥ ११ ॥

पञ्चोगाय निजं वपुर्गणिकया दत्तं स्वभर्तुस्तदा।
स्वादत्तं फलमेव नोत्तरफलं बाह्यक्रियारंजनः ॥
स्वीकृत्याखिलमिष्टवस्तु च यथा सदापयेत्यन्वहं।
पात्रक्षेत्रकृतक्रियाबहुफलं दद्याद्विजन्मोचितं ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वेश्या यह समझती है कि अमुक पुरुषके साथ भोग करनेसे उससे मुझे सद्यःफलके सिवाय आगे कुछ नहीं मिलेगा, इसलिए उसे बाह्य-क्रियाओंसे रंजन करना चाहिये। वैसा करनेपर वह पुरुष बार २ उसके पास आकर अनेक-प्रकारके इष्ट पदार्थोंको देकर उसकी इच्छापूर्ति करता है, उसी प्रकार खेतमें अच्छे फलको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले किसानको भी खेतका बाह्य संस्कार करना पडता है। ठीक उसी प्रकार अंतरंग भक्तिके साथ बाह्य क्रियाओंसे युक्त होकर पात्रोंको दान देनेसे दोनों जन्मोंमें उसका फल मिलता है ॥ १२ ॥

क्षुद्वं परितो विचार्य मुदशं सद्व्रुत्तमेकं सुधं ।
वीथीगेहजिनालयार्यनिलयद्वारस्थितं चक्षुषा ॥
जैनो जेमति यः क्रमाद्द्विगुणितान्दोषान्स याति क्षणात्।
पुद्ध्वोदास्य स नित्यपुण्यधनसेजोमानहानिं क्रमात् ॥१३॥

अर्थ—जो धर्मात्मा जैनी भूखे सम्यग्दृष्टि, व्रती, विद्वान् आदिको गलीमें, घरके द्वारमें, जिनालयमें, मुनिवासमें देखकर भी उसको भोजनके लिए नहीं कहता है, उसको अनेक प्रकार के दोषसंभव होते हैं। एवं इस प्रकार उदासीन होकर जो स्वयं जाकर भोजन करता है उसका पुण्य, धन व मान आदि कम २ से नष्ट होते हैं। साधर्मि भाईयोंका अतिथिसत्कार करना यह धर्मात्माओंका कर्तव्य है॥ १३ ॥

विज्ञान.

सात्म्यं सव्रतरक्षणं यदमलं सेव्यं स्वसेव्योज्झितं ।
यद्दोषहरं यथामयहरं यन्मानसस्थानकृत् ॥
यन्निद्रादिहरं यदव्ययमनुस्वाध्यायसंपत्तिकृत् ।
पूतं यद्व्रतिहस्तदत्तमशनं विज्ञाय दद्यायतेः ॥ १४ ॥

अर्थ—उत्तम दाताको उचित है कि वह पात्रको ऐसे आहार देवें जो कि पात्रके शरीरके लिए अनुकूल हो, व्रतरक्षणके लिए साधक हो, पवित्र हो, भक्ष्य हो, असेव्यपदार्थसे रहित हो, अनेक मिथ्यादोषोंको दूर करनेवाला हो, रोगोंका नाशक हो, मनको स्थिर करनेमें साधक हो, जो निद्रातंद्रादिकको नष्ट करनेवाला हो, स्वाध्यायादि क्रियाओंमें सहायक हो, बालक आदिके द्वारा भुक्त व दुष्ट होनेसे अपवित्र न हो, इस प्रकार पात्रोंको आहार देते समय तत्संबंधी पूर्ण ज्ञान रखते हुए पात्रोंके हाथमें आहार देना चाहिए ॥ १४ ॥

कंजूस दाता.

यद्भक्तमवेक्ष्य यो मनसि च स्मृत्वापि सन्निवसितः।
शक्तो नो भवितव्यमादकशतादारोऽद्यमस्यान्वहं ॥

भूतो। वायमुदंभरिः सदनपक्काहारमेकोऽप्यदन् ।
दीनोऽयं तमुदासयत्यपि स ना दाता न लुब्धो भवेत् ॥१५॥

अर्थ—बहुत भोजन करनेवाले पात्रको देखकर जो दाता अपने मनमें आश्चर्यचकित होकर यह विचार करता है कि मैं इसको भोजन करानेके लिये समर्थ नहीं हूं। इसे सेकडों ही सेर अन्नकी जरूरत है। उसे मैं कहांसे लाऊं ? क्या यह भूत तो नहीं है ? अथवा पेटार्थी (भोजनभट्ट) है। मेरे घरमें पकाए हुए सर्व आहारको खिलाने पर भी इसका उदर भर नहीं सकता है। ऐसा समझकर जो दाता पात्रोंकी उपेक्षा करते हैं वे दाता नहीं है अपितु महाकंजूस है ॥ १५॥

अलुब्ध दाता.

यावद्गोहलसंपदस्ति विमलं क्षेत्रं फलत्यद्भुतं ।
भूरिग्रासवतीव गौः क्षरति सुक्षीरं घटापूरितं ॥
वर्षं तृप्तिकरं रसेष्टवसुधां यत्पात्रसौहित्यकृत् ।
तद्दानं सफलं ॥ एव सफलो दाताप्यलुब्धो महान् ॥ १६ ॥

अर्थ—खेतमें यथेष्ट गोबर डालनेपर उसमें यथेष्ट धान्य वगैरह उत्पन्न हो सकते हैं, गायको घास वगैरे खूब खानेको देनेपर वह यथेष्ट दूध दे सकती है, वर्षा यथेष्ट पडनेपर भूमिको रसवती बना देता है। इसी प्रकार जो दाता पात्रों के लिए अनुकूल सर्व योग्य साहित्योंसे युक्त होकर दान देता है वह दान सफल है। इसीका नाम दाताका अलुब्धत्व गुण है ॥ १६ ॥

पात्रसेवाफल.

यः श्रांतिं शमयत्यसौ सुकृतवान्पात्रस्य मुक्तश्रमः ।
स्वस्थो स्वास्थ्यमिहामयान्नतरुजश्चितामचिंतक्षुधां ? ॥
तृप्तो दोषमदोषवान्क्षुधमिर्मातांतः महृष्टोऽनिशं ।
संक्लेशं जडतां मतेः शुभमतिर्ज्ञानी भवेन्निर्मलः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुण्यवान् दाता पात्रोंके श्रमको पानद्रव्यादिकोंको देकर दूर करता हो, वह जन्मभर श्रमरहित होता है । जो पात्रको स्वास्थ्य पहुंचाता है वह स्वयं भी जन्मभर स्वास्थ्ययुक्त हो जाता है । पात्रोंके असाता से उत्पन्न रोगोंको दूर करनेवाला स्वयं निरोगी शरीर को प्राप्त करता है । पात्रोंकी चिंताको दूर करनेवाला स्वयं चितारहित, आहारादिकको देकर क्षुधा दूर करनेवाला स्वयं सुखादिकसे तृप्त, पात्रोंके दोषको दूर करनेवाला स्वयं निर्दोषी, उनके क्रोधादिकको शांत करनेवाला स्वयं सर्व प्रकारसे शांत, उनके संक्लेशपरिणामको दूर करनेवाला स्वयं सर्वप्रकार से संतुष्ट, एवं उनके अज्ञानको दूर करनेके लिए योग्य साधनको उपस्थित करनेवाला ज्ञानी व निर्मल होता है ॥ ११७ ॥

उत्तम क्षमा. ‡

काषायोपशमोद्भवेव गुलिका शुद्धा क्षमा यत्र सा ।
साशंका भयमृत्युकृत्पथि गृहे क्षेमंकरी शंकरी ॥
संसारांबुधिसेतुरेनसगिरिव्रातस्वरुरुसमं ।
संस्थाप्य स्तुवति प्रशंसति जनश्चेतस्यजस्रं मुदा ॥१८॥

अर्थ—जिनके हृदयमें पच्चीस कषायोंके उपशमसे उत्पन्न शुद्ध क्षमा हो वह निर्मल व उज्ज्वल मोतीके हारके समान सबके मनको आकर्षित करती है । कीमती मोतीके हारको पहनकर रहनेसे घरमे या बाहर चोर वगैरहके द्वारा मृत्युका भय रहता है। रात-दिन उसकी शंका रहती है । परंतु यह क्षमा सर्वथा क्षेम व सुखको करनेवाली है,

‡ स्वधर्मपीडामविचिंत्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिह प्रवृत्तः
नो चेत्क्षमामप्यहमत्र कुर्यां मर्त्यः कृतघ्नो वद कीदृशोऽन्य ॥
स्तंभयतीमं क्रोधं विकचयति च साधुहृदयकमलानि ।
पल्लवयति पुण्यानि क्षमया किं किन्न साध्यते लोके ॥

संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए वह सेतु है । कर्मरूपी पर्वतके लिए वज्रदण्ड है। उस क्षमावान् महापुरुषको अपने चित्तमें स्थापना कर मनुष्य सदा हर्षसे स्तुति करते हैं, प्रशंसा करते हैं ॥ १८ ॥

मृदुवचनमाह.

एलामाहुरनंगकेलिविवृतिं गायंति यां वीणया ।
श्रुत्या गानविदः समं नृपसदस्यालापपूर्वं बुधाः ॥
सर्वेऽर्थान्प्रवतेऽतिचाटुवचनैर्दत्ते स चार्थान्बहून् ।
श्रुत्वोक्त्वा स निराकरोति च विना याति दुरालापिनः ॥१९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग राजसभामें कामक्रीडाके विषयको वर्णन करते हैं तो उसे *एला (?) नामक सम्यशब्दसे वर्णन करते हैं।* और गायनको जाननेवाले उसे ही श्रुति आलाप पूर्वक वीणाके साथ गाते हैं जिसे सुनकर राजा प्रसन्न होकर उन्हे प्रशंसा करता है व उन्हे अनेक पदार्थोंको भेटमें देता है । परंतु जिनका स्वर अच्छा नहीं है वे यदि गावें तो उसे सुनकर राजा अप्रसन्न होता है । और *उन्हे गानेसे रोकता है, और उनको कुछ भी नहीं मिलता ।* वे खाली हाथसे जाते हैं । इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि मृदुस्वर का भी बहुत उपयोग होता है ॥ १९ ॥

हवित्तमाह.

ये जीमंति दचेष्टवस्तु खलु यद्दाता च तद्दापय — ।
न्यद्वांछंति तदेव नास्ति च वचोऽवक्ता न वाचा हृदा ॥
कायेनापि मनो मुदा दद ददेदं वस्त्विदं संवदन् ।
शक्तःसोऽपि महानबुधोऽतिसुकृती स्याद्दानशौण्डोऽनघः ॥

अर्थ—श्रावकको उचित है कि वह पात्रोंको आहार देते समय पात्रोंकी रुचि, प्रकृति आदि बातोंको जान ले। उसे जानकर उनकी रुचिके

अनुसार जो वे भोजन करते हों उन पदार्थोंको परोसनेमें मन, वचन, काय से असंतोष न करें। बराबर संतोषसे परोसनेवालोंको परोसो, परोसो ऐसा कहना चाहिए, वही बुद्धिमान है, शक्तिशाली है, पुण्यवान् है, और दानशूर है ॥ २० ॥

धर्मो न स्वयमेव भावरहितः पुण्यादि वाञ्छादि वा ।
दत्ता येन न यस्य दानकरणे मुख्यस्तु भावः शुभः ॥
भावोद्घाटननर्तकीव लसिता या प्रेक्षकाणां मनां-
स्याहृत्यार्थचयं तु पूर्णसुकृतं दाता क्षमंताक्षयं ॥२१॥

अर्थ—कषाय, ईर्ष्या व दिखावटके लिए किया गया भावरहित धर्माचरण धर्म ही नहीं है। दान करनेमें दाताका शुभभाव ही मुख्य है, उसमें अन्य पुण्यादिकोंकी मुख्यता नहीं है। जिस प्रकार राजसभामें नर्तन करनेवाली सुंदरी अपने भावोंके द्वारा प्रेक्षकोंके मनको आकर्षितकर धनसंचय को करती है उसी प्रकार दाता भी अपने शुभ भावोंके द्वारा पात्रोंकी सेवा कर अक्षय पुण्यको संचय करें ॥ २१ ॥

दातृपात्रफलमाह.

क्षेत्रं जनाज्जनःक्षेत्राद्द्वाभ्यां धान्यं यथा भवेत् ।
दात्रा पात्रं तेन दाता द्वाभ्यां सौख्यप्रदो वृषः ॥२२॥

अर्थ—खेतका संस्कार मनुष्योंसे व मनुष्योंका संस्कार खेतसे और दोनोंसे धान्यका संस्कार होता है, उसी प्रकार दातासे पात्रका व पात्रसे दाताका एवं दोनोंसे सौख्य देनेवाले धर्मका संस्कार होता है ॥ २२ ॥

सप्तगुणविवरणम्.

हिताहितमजानता च शिशुना कृतोऽयं वृषः ॥
समस्तजनतुष्टिकृद्बहुफलं भवेत्तस्य च ।
हिताहितविजानता कपटिना कृतोहिःफलं ॥
सदा कपटिमंत्रिसेवितनृपो यथा नश्यति ॥

धान्यं प्रजाभिस्तेन स्याज्जीवत्यत्र यथा जगत् ।
दात्रा पुण्यं ततः क्षेमारोग्यायुःश्रीकुलर्द्धयः ॥ २३ ॥

अर्थ—लोकमें धान्यकी उत्पत्ति किसानोंके द्वारा ही की जाती है। परंतु उसी धान्यसे लोककी सब प्रजायें जीवन व्यतीत करती है अर्थात् किसानोंके परिश्रमसे ही लोक सब जीता है, उसी प्रकार एक भी उत्तम दाता पुण्यका संचय करें तो उस पुण्यके बलसे उसके घरमें ही क्या राज्यमें भी क्षेम, आरोग्य, आयु, ऐश्वर्य और कुल आदिकी वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

देहभोगं परित्यक्त्वा वृष्टिर्जातोक्तिसंश्रुतेः ।
गत्वा क्षेत्रं वपंतीव तत्र बीजं कृषीवलाः ॥ २४ ॥
पात्रागमोक्तिसंश्रुत्या ज्ञानवृष्ट्युद्युक्तचेतसां ।
इष्टान्नानि पात्राणां दातारो दद्युरादरात् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग पानी बरसनेके समाचारको सुनकर अपने देहसुखकी किंचित् भी परवाह न करते हुए खेत को दौडते हैं व बीज पेरते हैं, उसी प्रकार पात्रोंके आगमनके समाचार को सुनकर एवं ज्ञानरूपी वृष्टिसे प्लावित चित्त होकर पात्रोंको इष्ट व हितकर आहारका दान देवें ॥ २४ - २५ ॥

मुमुक्षूणां क्षुधां तीव्रां यो निवारयतीदृशं ।
स एव मान्यो वंद्योऽसौ संसाराब्धितरण्डकः ॥

अर्थ—मोक्षमार्गमें रत श्रीमहर्षियोंकी तीव्र क्षुधाको जो उपर्युक्त उत्तम भावोंसे युक्त होकर निवारण करता है अर्थात् आहारदान देता है वही व्यक्ति आदरणीय है, वंदनीय है और संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिए सहारेके रूपमें है ॥ २६ ॥

क्षुधा कैसी है ?

या सद्रूपविनाशिनी कृशकरी कामोत्सवध्वंसिनी ।
पुत्रभ्रातृकलत्रभेदनकरी धर्मार्थविध्वंसिनी ॥
चक्षुर्मंदकरी तपःश्रुतहरी लज्जालुतानाशिनी ।
सा मां पीडति सर्वभूतदहनी प्राणापहारी क्षुधा ॥२७॥

अर्थ—जो शरीरकी सुंदरताका नष्ट करती है, शरीरको कृश करती है, कामसेवनमें उत्साहका भंग करती है, पुत्र, भाई, स्त्री आदिमें भेदभाव उत्पन्न करती है, आंखकी दृष्टिको मंद करती है, तप व ज्ञानकी हानि करती है, लज्जा व विनयका नाश करती है, एवं जो सर्व प्राणियोंको रात्र-दिन जलाती है, इतना ही नहीं प्राणियोंके प्राण को अपहरण करनेवाली है वह क्षुधा मुझे पीडा देती है ॥ २७ ॥

न दैन्यात्प्राणानां न च हृदयहरिणस्य रतये ।
न दर्पांदगानां न च करणकरिणोस्य मुदनात् ॥
विधाय्रत्तिः किंतु क्षतमदनचारित्रश्रुतविधेः ।
परे हेतौ मुक्तेरिह न खलु मुनिषु स्थितिरियम् ॥ २८ ॥

अर्थ—मुनिगण आहारमें जो प्रवृत्ति करते हैं वह दश प्राणोंकी कायरतासे नहीं, हृदयरूपी मृगके पोषणके लिए नहीं, शरीरके अवयवोंके मदसे भी नहीं, इंद्रियरूपी हाथीको संतुष्ट करनेके लिए भी नहीं है। अपि तु कामविकारका उपशम, चारित्रकी वृद्धि व ज्ञानकी निर्मलताके लिए आहारमें प्रवृत्ति करते हैं । क्यों कि मुनिगणोंका एक मात्र ध्येय उत्कृष्ट स्थान जो मोक्ष है उसीकी प्राप्तिका है । वे इहलोक संबंधी सुखको नहीं चाहते है ॥ २८ ॥

---

१ आहारं पचति शिखी दोषामाहारवर्जितः पचति ॥
दोषक्षयेऽपि धातून्पचति च धातुक्षये प्राणान् ॥

यज्जिह्वारुचि याचितेपि न वचः श्रुत्वा स्त्रियो येन स– ।
क्रुध्यंश्चेतसि नास्य सद्मनि सदा भुंजे त्यजंस्तच्छपन् ॥
तस्मात्तद्वितयापकीर्तिरयमेव स्यादुपालंभनं ।
लोके मौनमनारतं सुकृतिनः कुर्युस्स पुण्यप्रदम् ॥ २९ ॥

अर्थ—आहार लेते समय सिद्धांतमें मौन धारण करनेका आदेश है। कारण कि भोजनमें कोई पदार्थ उनके रसनेंद्रियको स्वादिष्ट लगे तो उसे मांगनेकी भी संभावना रहती है। कदाचित् आहार देनेवाली स्त्रीने उस पदार्थको देनेसे नकार कर दिया या वहांपर न हो तो, उस अवस्थामें मुनिके मनमें क्रोध आकर वह प्रतिज्ञा कर सकता है कि मैं इसके घरमें अब भोजन करनेके लिए कभी नहीं आऊंगा, और उस घरके मालिकको क्रोधसे अनेक प्रकारसे शाप दे सकता है। इससे दाता और पात्र दोनोंकी लोकमें अपकीर्ति, निंदा होगी एवं दोनोंको पापबंध होगा। इसलिए पुण्यवान् लोग सदा लोकमें पुण्यप्रदान करनेवाले मौनको धारण करते हैं जिससे उपर्युक्त किसी भी प्रकारके दोषोंका संभव ही न हो ॥ २९ ॥

मौनगुणमाह.

मुनेः कर्म सुधर्मोपदेशनारचितं वचः ।
भावः स्वशुद्धात्मचिंता मौनं मुनिभिरीरितम् ॥ ३० ॥
मौनमभिमानशरणं चित्करणं पुण्यकरणमघहरणं ।
देवादिवश्यकरणं क्रुद्धरणं चित्तशुद्धिसुखकरणम् ॥ ३१ ॥
आगमनविघ्नहरणं मैत्रीकरणं विवादसंहरणं ।
रत्नत्रयसंरक्षणमज्ञानविनाशकरणमपि काले ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुनिकी क्रियाको मौन कहते हैं, धर्मोपदेशके लिए उपयोग किए वचनको भी मौन कहते हैं। अर्थात् धर्मोपदेशके लिए बोलनेपर भी उससे भी पाप नहीं होता है वह मौनके समान ही है। अपने शुद्ध आत्माके विचार करना भी मौन है। इस प्रकार महर्षियोंने

आदेश दिया है। भोजनके समय व अन्य योग्य कालमें मौन रहने से स्वाभिमानकी रक्षा होती है, ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, पुण्यकी प्राप्ति व पापकी हानि होती है, देवादिक भी इससे वश होते हैं, क्रोधका नाश होता है, चित्तमें निर्मलता व आनंदकी वृद्धि होती है। मौनसे ही आगे आनेवाले विघ्न दूर होते हैं, परस्पर मित्रता की वृद्धि होती है, कषायवश उत्पन्न विवाद नष्ट होते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की रक्षा होती है। इतना ही नहीं अज्ञानका भी नाश होता है। इस प्रकार मौनधारणसे अनेक गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ ३० - ३१ - ३२ ॥

+ शादो वृष्टिजलप्रभावजनितः स्वच्छांभसा क्षीयते ।
तद्वद्दुर्वचसां भरेण जनितं दुर्ज्ञानमाहन्यते ॥
मौनेनैव समंत्रकेण बलवत्कर्माद्रिवज्रेण ते ।
दुर्ज्ञानापहृतीक्षकैस्सुकृतिभिर्मौनं सदा धार्यताम् ॥ ३३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार बरसातके पडनेसे उत्पन्न कीचड स्वच्छ पानीके प्रवाहसे धुल जाती है उसी प्रकार सद्गुणोंको नाश करनेवाले क्रोधादिक वचनोंसे उत्पन्न अविवेक मौनसे नष्ट होता है। अपराजितमंत्र से युक्त मौनरूपी वज्रदण्डसे ही बलवान् कर्मरूपी पर्वत भी नष्ट होता है। इसलिये अविवेकको दूर कर सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे आत्माकी प्रभावना करनेकी इच्छा रखनेवाले पुण्यात्मा सज्जन मौनको सदा धारण करें ॥ ३३ ॥

+ संतोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन भाव्यते ।
संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥
वाचंयमः पवित्राणां गुणानां सुखकारिणां
सर्वेषां जायते स्थानं गुणानामिव नीरधिः ॥
वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसंदर्भगर्भिता
आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलं ॥

पत्ये या शयिता तदात्वसरसालापानुरक्तांगना- ।
न्येषां वक्त्रमवीक्ष्य वाचमनिशम्यैवान्वहं वर्तते ॥
तद्वत्साधुजनो वदेदयकरं यो देवताराधना- ।
शेषस्तोत्रजपान्करोति सफलं प्राप्नोति चेष्टं समं ॥३४॥

अर्थ—जो पतिव्रता स्त्री अपने पतिको संतुष्ट करनेकेलिये उसके साथ अनेक प्रकारसे सरस वार्तालाप करती है व प्रेमव्यवहार करती है वही दूसरे मनुष्य सामने आने तो आंख उठाकर भी नहीं देखती और दूसरोंके वचनको भी नहीं सुनती, इसीप्रकार धर्मात्मा सज्जन पुरुष सदा अपने आत्माके हितके लिये पुण्यरूप वचनको ही बोलते हैं एवं जप, स्तोत्र, जिनेंद्रपूजा आदि कार्य अत्यंत तल्लीन होकर करते हैं, उनको सर्व प्रकारके इष्ट फल प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

जिनोक्तिरेव वक्तव्या वक्तव्या नेतरोक्तयः ।
तच्छिष्टवाक्कृतिर्मौनं न मौनं पशुवत्परम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—वीतराग परमात्मा जिनेंद्र भगवंतके द्वारा प्रतिपादित वचन अर्थात् शास्त्र ही बोलने व सुनने योग्य है। मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा रचित शास्त्र न कथन करने योग्य है और न सुनने योग्य है। शिष्टोंके वचनको स्मरण करते रहना वह असली मौन है। बाकी नहीं बोलनेपर भी चित्तमें दुश्चिंतन करना वह पशुमौन है ॥ ३५ ॥

× जिह्वालौल्यमपैनास्य दृष्टांऽयं दत्तवस्तुभिः ।
तपश्चापि तपोज्ञानं ज्ञानं शंसत्ययं जनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो साधु या कोई संयमी मौनपूर्वक भोजन करते हैं, उनके संबंधमें श्रावकगण कहते हैं कि इस साधुको जिह्वाकी लोलु-

× पदानि यानि विद्यंते वंदनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यंते प्राणिना मौनकारिणा ॥

पता नहीं है, जो पदार्थ देवें उन्हींसे संतोषपूर्वक ये तृप्त होते हैं, इनका तप ही सचमुचमें तप है, ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है। इत्यादि प्रकारसे लोक उनकी प्रशंसा करते हैं ॥ ३६ ॥

पाठांतर

भुक्तौ येन यदिष्टवस्तुनि मुहुः संयाचिते नास्ति चे-
त्तत्तेऽयच्छति दातरीह सभवेत्क्रोधोऽन्यथा शाश्वती
दत्त्वाओ परभावयोर्मनसि कं क्लेशं च कर्ता वृथा
पुण्यद्रव्ययशः शुभक्षतिरिह दातुः क्षयः पात्रतः ॥३७॥

अर्थ—भोजनके समय यदि जिह्वालौल्यसे किसी मध्यम पात्रने अपनी इष्ट वस्तुकी याचना इशारा व अन्य प्रकारसे करें तो उस समय यदि वह पदार्थ घरमें नहीं हो तो गृहस्थको लाचार होकर नास्ति कहना पडता है। उस समय अपनी इच्छाकी पूर्ति नहीं होनेसे उस पात्रको भी क्रोध आता है। दाताको भी व्यर्थ दुःख होता है। दोनों के हृदयमें मानसिक क्लेश होनेसे पुण्यके बजाय पापका बंध होता है, यशका नाश होता है, एवं शुभफलका भी अभाव होता है। इस प्रकार पात्रके कारणसे दाताको अनेक प्रकार से अनिष्ट परिणाम होते हैं ॥ ३७ ॥

भोजननिषिद्धस्थान

भांडागारिकतुन्नायगणिकादासीत्वरीचित्रिक- ।
व्याधश्राद्धिकगीतिमालिककुलालक्षौरिकाणां गृहे ॥
कर्पारादिकुविंदवंदिनटकाहारादिवद्वर्तिनां ।
वर्णी तैलिकमृतकिद्वयतलाराद्यस्य नो भोजयेत् ॥३८॥

अर्थ—वर्णी अर्थात् तपस्वी, व्रतिक या श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न श्रावक को उचित है कि वह अपने आहारकी विशुद्धि के लिए भंडारी, दर्जी, वेश्या, दासी, व्यभिचारिणी, चित्रकार, भील, मरणसंस्कार करनेवाले,

गायक, माली, कुंभार, नाई, कारु+ कोळी, स्तुतिपाठक, नट, कहार इनके घरमें या इन वृत्तियोंको धारण करनेवालोंके घरमें भोजन न करें। इसी प्रकार तेली, वृद्धि क्षय सूतकवाले और कोतवालके यहां भी भोजन न करें ॥ ३८ ॥

दाननिषेध

भूगोवाजीभकन्याधनकनकविभूषांशुकामप्रदानं।
हिंसादानं च सर्वं भवसुखकरणं वृष्टितोयं यथा स्यात् ॥
पात्रेष्वेतेषु तस्माद्विरचितममलं चान्नदानं प्रधानं।
पात्रेष्वेतस्य दानं रचयति स नरः पंडितः खंडिताघः॥३९

अर्थ—बुद्धिमान् दाताको उचित है कि वह पात्रोंके लिए भूमि, गाय, घोडा, हाथी, कन्या, धन, कनक, आभरण, वस्त्र, शरीरोपभोगी पदार्थ, हिंसाके साधक उपकरण, आदि का दान न करें। क्यों कि इन पदार्थोंके दान करनेसे संसारकी ही वृद्धि होती है। जिस प्रकार कि बरसातके पानीसे एकेंद्रिय घास आदिकी उत्पत्ति, वृद्धि व संरक्षण होता है, उसी प्रकार इन पदार्थोंसे संसारकी ही वृद्धि होती है। इसलिए जो व्यक्ति इन बातोंको समझकर पात्रोंके लिए उपयोगी प्रधान अन्नदानका प्रदान करता है, वह सचमुच में पंडित है व पापोंको खंडित कर सकता है। क्यों कि अन्नदानके फलको शास्त्रकारोंने बहुत ही अधिक बतलाया है ॥ ३९ ॥

+ शालिको मालिकश्चैव कुंभकारस्तिलंतुदः
नापितश्चेति पंचैते भवंति स्पृश्यकारुकाः ॥
रजकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः
स्वर्णकारश्च पंचैते भवंत्यस्पृश्यकारुकाः ॥

कहा भी है—

* सद्यस्तृप्तिकरं चान्नदानं सद्यः फलप्रदम् ।
सर्वदानं मुहुः कोशावर्द्धनं भववर्धनम् ॥
यः स्वामिशत्रुक्षयदत्तवृत्तस्संदापयन् रक्षति तद्बुधं सः ।
स्वामी भवेदुत्तरजन्मनीव कर्मघ्नपात्राय धनं च देयम् ॥४०

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें स्वामीके शत्रुओंको नाश करने में प्रवृत्त भट उस कार्य में प्रवृत्त अन्य सहायकों को भी धनादि देकर संतुष्ट करता है एवं उनका संरक्षण करता है और उत्तर जन्ममें वही सेवक स्वामी बनजाता है, इसलिए इस पवित्र भावनासे कि अपने कर्मोको नाश करनेमें यह पात्र समर्थ है, उसे धनादिक प्रदानकर उपकार करना अपना कर्तव्य है, उपकार करें। दान देवें। शत्रुवोंके नाशकेलिए धनादिकका दान आवश्यक है। उसी-प्रकार कर्मशत्रुओंको नाश करनेकेलिए दान देना आवश्यक है॥४०॥

भोजनांतराय.

गृहरोधेऽखिलधान्यमशोषणे जंतुघातिपशुबंधे ।
रोदनविवादनिष्ठुरवचने सावद्यकर्मयुजि गेहे ॥ ४१ ॥

---

* वधनजीवाम्कपम्नुर्वी गुर्विणीमिव संस्थिताम्
तस्माश्च युज्यते चिह्निर्भूमिदानं कदाचन ॥
बंधनात्ताडनाद्दुःखं नित्यं गोर्जायते यतः
तस्माश्च युज्यते दातुं गोदानं भव्यदेहिभिः ॥
अंभासोदकतो यंत्राद्दूरादाकृष्यते जवात्
स्याद्धवृद्धेरयोर्ध्वंसात्तस्य दानं न दीयते ॥
कन्यायां जायते रागो रागात्कर्मनिबंधनम् ।
कर्मणानतसंसारी तस्मात्तद्दानवर्जनम् ॥
पात्रे हिरण्याश्रितास्याद्गमनागमनादिषु
तन्निमित्तं भवेन्मृत्युस्तस्मात्तन्नैव दीयते ॥

भिक्षां कर्तुं न विशेत्प्रविश्य तच्चत्वरे मुहुर्दातृन्।
नो वीक्षेत च योगी सप्तोच्छ्वासात्परं निवर्तेत ॥ ४२ ॥

अर्थ—*जिस समय योगी आहारकेलिए श्रावकोंके घरपर जावे तो* यदि उनके घरका दरवाजा बंद हो, बंद न होते हुए भी योगियोंके मार्गमें कोई रुकावट हो, घरके आंगनमें कोई धान्य वगैरह बिछाये गये हों, हिंसक कुत्ता बिल्ली आदि प्राणियोंको सामने बांधा हो, बच्चोंको छोडकर अन्य किसीका रोना सुननेमें आरहा हो, विवाद, कठोर वचन सुननेमें आरहा हो, घरके लोग हिंसादिक पापोंमें लगे हों, ऐसे घरमें भोजनके लिए प्रवेश न करें। यदि किसी तरह प्रवेश कर गये तो दाता को बार २ नहीं देखें। सात उच्छ्वासके बाद वह लौटजावें ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

आहारगमनके समय दया

व्याध्यार्तं योगिनं वीक्ष्य नोपेक्षेत कदाचन।
स्वकीयं परकीयं वा विदर्शनमथापि वा ॥ ४३ ॥

अर्थ—आहारको जाते समय यदि किसी रोगसे पीडित रोगी योगीको देखें, चाहे वह अपने संघका हो या अन्य संघका हो, चाहे अन्य दर्शनवाला ही हो तो भी ऐसे साधुवोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

बालवृद्धतपःक्षीणान्सश्रमान्व्याधितानपि।
मुनींनुपचरेन्नित्यं ते भवेयुस्तपःक्षमाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगियोंका कर्तव्य है कि वे बालयोगी, वृद्धयोगी, तपसे क्षीणयोगी, थके हुए योगी व रोगसे पीडित योगियोंको अंतर्बाह्योपचारसे संरक्षण करें। ऐसे वात्सल्यको धारण करनेवाले योगी ही उत्तम तपको धारण कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

तपःसमर्थेषु तपोधनेषु ।
त एव कल्पावनिजा इवात्र ॥
फलंति ताभिः सुजनाः सपुण्या- ।
स्समस्तलोकाः सुखिनश्च तैः स्युः ॥ ४५ ॥

अर्थ—यदि इस लोकमें अनशनादि तपोंको निर्दोष रूपसे आचरण करनेवाले तपोधन हों तो वे ही भव्योंके इष्टार्थको पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षके समान हैं । उनके द्वारा सज्जनोंकी सर्व इच्छायें पूर्ण होती है । समस्त लोकमें पुण्यमय कार्य होते हैं । एवं समस्त संसारके प्राणी सुखी होते है ॥ ४५ ॥

प्रतीकदानमाह

क्षीरं तक्रं दधिघृतजलं शाकमन्नं ददधः ।
शुष्कं पात्रं स्वपुरलवणं सधर्यैर्याध्वदर्शम् ॥
जंभं बालोदकगुडसिता चुक्रलुंगं कपित्थम् ।
त्रीण्येकं द्वौ वितरति समं वस्सदाता नरः स्यात् ॥४६॥

अर्थ—जो श्रावक त्यागियोंको (पात्रोंको) उनकी शरीर प्रकृति आदि लक्ष्य में रखते हुए दूध, छाछ, दही, घी, जल, शाक, मुद्गादिक अन्न, उचित पात्र, शुष्क पत्र वगैरे, लवण, घर व धैर्य, मार्गदर्शन निंबू, कच्चा नारियल का पानी, गुड, शक्कर, चिंच, मातुलुंग, कैथ आदि पदार्थोंमें से एक दो तीन चीजों को जैसी आवश्यकता हो, प्रदान करें, वह उत्तम दाता कहलाता है । कारण इन पदार्थोंके प्रदान से शरीरमें स्वास्थ्य बना रहता है । स्वास्थ्यके रहने से संयम स्वाध्यायादिक में वह लग सकता है ॥ ४६ ॥

शास्त्रं तत्त्वं व्यवहृमिकृषी भोजनं स्वामिसेवां ।
स्नानं पानं द्रविणमगदं राज्यलक्ष्मीविचारं ॥

रोगं रागं स्वयुवतिसुखं नित्यमिच्छंति जैनाः ।
दानं पूजां कुरु कुरु न भो नोऽद्य वारो वदेत्र ॥ ४७ ॥

अर्थ—आत्मकल्याणेच्छु भव्य हमेशा शास्त्रज्ञानकी अपेक्षा करते हैं । तत्वविचार करना चाहते हैं । लोकमें सुंदर व्यवहार चाहते हैं। इसी प्रकार कृषि, भोजन, स्वामिसेवा, स्नान, पान, धन, औषध निरातंक राज्यलक्ष्मी, रोगपरिहार, धर्मानुराग, स्वतरुणीसुख इत्यादि बातोंको चाहते रहते हैं । इसलिए हे भव्य ! पुण्य की सिद्धि के लिए दान व पूजा सदा करो। दान पूजाके लिए " आजका वार अच्छा नहीं कल करेंगे " इत्यादि प्रकार से टालने की कोशिस मत करो । कारण कि दान व पूजासे पुण्य की वृद्धि होती है जिससे उपर्युक्त सुखसामग्रियोंकी प्राप्ति सरलतासे होती है ॥ ४७ ॥

यावद्यावद्ग्रंथ एकस्य वृद्धे तावत्तावद्द्रव्यनाशोऽघवृद्धिः ॥
तावत्तावद्दानपूजाभिवृद्धिं कुर्याच्चत्पुण्याभिवृद्धिं भजेव ॥४८॥

अर्थ—जबतक यह मनुष्य परिग्रहोंकी वृद्धि करता जाता है तबतक उन परिग्रहोंके बढानेके निमित्तसे धनका नाश व पापकी वृद्धि होती है । इसलिए बुद्धिमान सज्जनको उचित है कि वह परिग्रहोंके संग्रह के साथ २ दानपूजादिक सत्कार्योंको भी करें । क्यों कि दान,पूजादिक कार्य संतानोत्पत्ति के समान पुण्यकी वृद्धि को करते हैं । पुण्य की वृद्धि होनेसे धन की प्राप्ति होती है। उससे इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होती है। वैसा न कर जो व्यक्ति केवल परिग्रहोंका संग्रह करता है, उसका द्रव्य नष्ट होता है । पाप की वृद्धि होकर पुनः धनादिककी प्राप्ति नहीं हो पाती जिससे उसे कष्ट उठाना पडता है ॥ ४८ ॥

सद्यः कार्यं श्वोपि कार्यं त्विदं भो ।
जीव ज्ञात्वा संविचार्यैव कृत्यम् ॥ः

कर्तव्यं चेदीदृशं यो न कुर्यात् ।
पश्चाच्छब्दो नास्तिपर्याय उक्तः ॥ ४९ ॥

अर्थ—हे जीव! यह कार्य अभी करने योग्य है, यह कल करने योग्य है, इत्यादि प्रकारसे अच्छी तरह विचार करके ही समस्त कर्तव्योंका पालन करना चाहिये। इसप्रकार कार्य विभागोंको न कर "बादमें करेंगे" इस श्रेणीमें जो कर्तव्योंको ढकेलता है वह आलसी है। उसके कोई कार्य नहीं होते हैं। क्यों कि बादमें करनेका अर्थ ही नास्ति है ॥ ४९ ॥

वित्ताशांशुकचाटुभिः पटुभटान्पाता सुरक्षन्दिदन् ।
जित्वा तैर्निजवैरियुद्धमिव भो जीवत्यजस्रं मुदा ॥
रोगे भूपतिविग्रहे रिपुभये तेजःक्षये बंधने ।
धर्मोद्योगकृतौ च दानमतुलं देयं बुधैस्साधवे ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने आश्रितोंका संरक्षण, धन, अन्न, वस्त्र, मिष्टवचन आदिकसे करते हुए उनसे अपने वैरियोंको जीतता है उसी प्रकार साधुओंको रोगकी हालतमें, राजाओंकी ओरसे उत्पात के समयमें, शत्रुभयमें, तेजक्षयके समयमें, बंधनके समयमें, धर्मप्रभावनाके समयमें दिल खोलकर दान देवें जिससे पुण्यकी वृद्धि होती है ॥५०॥

लोकरीति

दुःखे दुःखकरोद्योगं सुखे सुखकरं सदा ।
लोकः करोति शास्त्रेऽस्मिन्यदुक्तं तन्न जातुचित् ॥ ५१ ॥

अर्थ—लोकमें यह परिपाटी है कि संसारीजन दुःखमें दुःखको बढानेवाली क्रियाओंको ही अधिक करते हैं। सुखकी हालतमें सुखको बढानेवाली क्रियाओंको ही करते हैं। जैनागममें ऐसे समयमें जिन कर्तव्योंका पालन करनेके लिए आदेश दिया है उसका पालन कोई नहीं करते हैं यह खेदकी बात है ॥ ५१ ॥

साधुसंतर्पणमें बहाना

यद्दी रोगादिबाधास्ति गेहे नो पक्वतेऽद्य न ।
इत्युक्ति वद मा जीव ! साधून् संतर्पयेः सदा ॥ ५२ ॥

अर्थ—किसी उत्तम पात्र साधुके अपने नगरमें आनेके बाद यदि आहारदान देना नहीं हो तो लोग बहाना करते हैं कि आज हमारे घरमें कोई बीमार है, आज आहार नहीं बनाया जा सकता है इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि पात्रदानमें इस प्रकार बहानाबाजी करना ठीक नहीं है। साधुवोंका संतर्पण सदा करना चाहिये। यही सत्पुरुषों का कर्तव्य है ॥ ५२ ॥

आहारमें वर्जनविषय

शाठ्यं गर्वमवज्ञामधौतचरणप्रवेशवाक्पारुष्यम् ।
भिक्षोर्भोजनसमये जीवं चासंयमं त्यजेत्परिप्लावम् ॥५३॥

अर्थ—जिस समय साधु आहारके लिए अपने घरमें आवें, उस समय दुष्टताका परित्याग करना चाहिये, गर्वको छोडना चाहिये, साधुका अनादर न करें, पैर न धोकर अंदर प्रवेश न करें, कठोर वचन न बोलें, हिंसानंदी कुत्ते बिल्ली आदि प्राणियोंको सामने न रखें, चंचलता का परित्याग करें। इन बातोंसे साधुवोंके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होनेकी संभावना है। इसलिए इन बातोंको अवश्य छोडना चाहिये ॥ ५३ ॥

कठोरवचनका त्याग

यत्र कर्कशवचोऽस्ति तं नरं नाश्रयंति सुगुणा यशांस्ययाः ।
बंधुसेवकसुधारसूताः स्त्रियो व्याघ्रगेहमिव गोमृगा इह ॥५४॥

अर्थ— जिस प्रकार व्याघ्रके गुफाका आश्रय गाय, हरिण आदि नहीं करते, उसी प्रकार जो मनुष्य कठोर वचनको बोलता है उसका आश्रय रत्नत्रयादिक गुण, कीर्ति व पुण्य नहीं करते हैं। इतना ही

नहीं, बंधु-बांधव, सेवक, विद्वान्, पुत्र, स्त्रियां आदि कोई उसके आश्रयमें जाते नहीं । वह सदा दुःखी रहता है ॥ ५४ ॥

आहारके समय वर्ज्य मनुष्य

मिथ्यादृग्वृषनाशको गुणहरः क्षुद्रान्नवणी दूषकः ।
कुष्ठी क्रूरमना विरोधकरणः फेलादनः सामयः ॥
श्वित्री सूतकवान्मतच्युतजनो दोर्षी निषिद्धांबरः ।
स्निग्धांगोऽक्षिविपश्च भुक्तिसमये वर्ज्यो गुणज्ञैर्नरैः ॥५५

अर्थ—गुणवान् पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे साधुओंके आहार के समय में मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, गुणापहारी, पातिव्रत्यादि गुणोंसे रहित स्त्री, भूखा, व्रणी, धर्मनिंदक, कोढी, क्रूरपरिणामी, विरोधी, उच्छिष्ट खानेवाले, रोगी, श्वेतकुष्ठी, सूतकी, मतभ्रष्ट, समाजबहिष्कृत, मैले कपडेके धारक, तेलसे लिप्त शरीरवाले, नेत्रदोषी, आदिको वर्जन करें अर्थात् साधुवोंको आहारके समय उपर्युक्त प्रकारके मनुष्य दृष्टिगोचर न हों इसका ध्यान रखें ॥ ५५ ॥

और भी वर्ज्य विषय

विण्मूत्राद्यशुचौ जिनालयगते येनान्नदानं कृते ।
साधुभ्यश्च स सप्तजन्मनि भवेच्छ्वित्रादिकुष्ठी स च ॥
जैनं गेहमृषिर्विशेन्न मलिनी भाण्डादिकं न स्पृशेत् ।
स्पृष्टं तत्र गृहं गतेऽधिकरजो गच्छेदसौ दुर्गतिम् ॥५६॥

अर्थ—मलमूत्र विसर्जनादिसे उत्पन्न अशुचिकी अवस्थामें जिनालयमें प्रवेश नहीं करना चाहिए । एवं उस हालतमें साधुवोंको आहार दान भी नहीं देना चाहिए । यदि उस अशौचावस्थामें जिनालय में प्रवेश करें एवं साधुवोंको आहारदान देवे तो वह सात जन्मतक श्वेतकुष्ठादि भयंकर रोगसे पीडित होता है । कोढीको सूतकीके

समान जिनमंदिर, व मुनिवासमें प्रवेश करनेके लिए निषेध किया गया है एवं च वह जिनमंदिरके उपकरणोंको बरतन वगैरहको एवं मुनिदानके उपकरण व बरतनोंको स्पर्श नहीं कर सकता है। यदि वह इस आदेशको आवहेलना कर जिनमंदिर व मुनिवासमें प्रवेश करें एवं उन उपकरण व बरतनों को स्पर्श करें तो वह कोढ सर्वांग व्याप्त होता है और बादमें वह नरकादि दुर्गतिको+ चला जाता है। इसलिए मुनिदान, जिनपूजादिकार्योंमें बहुत ही पवित्रताका व्यवहार करना चाहिये ॥ ५६ ॥

उत्तमदातृयुगललक्षण

पात्रं स्वागतयुक्तमुत्तमवचः पत्युर्निशम्यांगना ।
वंध्या पुत्रमहन्दृशं निधिमरा राज्यं यथा राजसुक् ॥
छन्ध्वाधत्त इति प्रमोदमतुलं सा तस्य धेनुर्निधिः ।
कल्पद्रुः सदयानघा गुणवती पुण्यात्मिका देवता ॥५७॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पति के, साधुयोंको प्रतिग्रहण कर स्वागत करने के उत्तम वचनोंको सुनकर, वंध्या स्त्री पुत्रके पानेपर, अंधा आखोंके पानेपर, दरिद्री निधिके मिलनेपर, राजपुत्र राज्यके मिलनेपर जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रसन्न होती है वह स्त्री सामान्य स्त्री नहीं है। कामधेनु है, निधि है, कल्पवृक्ष है, दयालु है, पापरहित है, गुणवती है, इतना ही क्यों ? वह साक्षात् पुण्यदेवता है ॥ ५७ ॥

प्रशस्तदात्री.

वीक्ष्यास्यं श्रयमंगना च पतिनो वाचावलेनांबुना ।
ज्ञात्वा तत्प्रकृतिं प्रसूरिव शिशोः कालोचितामाहृतिम् ॥

+ दत्तेऽङ्गे श्वित्रिणा येन तद्योपादधिकामयी ।
न्यक्कुर्वंति च ते सर्वे पश्चाद्गच्छति दुर्गतिम् ॥

दृष्ट्वा तच्छ्रमदोषशांतिकरणीं रसेर्यति तं तथा ।
सा लक्ष्मीः सुकृतप्रदा गुणकरी लोकः पवित्रीकृतः ॥५८॥

अर्थ—जिस प्रकार माता बालककी शरीरप्रकृतिको अच्छी तरह जानती है, उसी प्रकार साधुवोंके मुखको या आवाजके बलाबलको देखकर उनके शरीरके श्रम व प्रकृतिको जानलेना चाहिये। फिर उन की प्रकृतिके लिए अनुकूल, श्रमदोषोपशमनमें सहायक, संयमवर्धक कालोचित आहारको बुद्धिमत्तासे प्रदान करना चाहिये एवं उस साधु का संरक्षण करना चाहिये। वह सती सचमुचमें लक्ष्मी है, पुण्यदायिनी है। गुणोंको बढानेवाली है। एवं उसके द्वारा लोक भी पवित्र किया जाता है ॥ ५८ ॥

दृष्ट्वैका मुनिमागतं निहितसर्वार्थागता नौरिव ।
साक्षात्सिद्धरसः करागत इव स्वर्धेनुरत्रागता ॥
इत्यात्माशयजाततुष्टिललिता सा स्त्री विना तत्तपः ।
स्वाकूतस्मृतिपात्रतो द्विगुणितो लब्धस्तयायो गुरोः ॥५९॥

अर्थ—जो स्त्री अपने घरमें मुनियोंके आगमन होने पर ऐसा समझती है कि सर्व संपत्तिसे भरा हुआ जहाज ही आगया है, साक्षात्सिद्धरस ही हाथमें आगया है, स्वर्गकी कामधेनु ही आगई है, वह सती अपने पुण्यमय अभिप्रायसे संतुष्ट होती हुई, ऋषिराजके तपश्चर्याके प्रभावके बिना ही अपनी शुभ भावनासे ही उन मुनिराजके तपसे भी द्विगुणित पुण्यको प्राप्त करलेती है। भावनाका फल अचिंत्य है ॥५९॥

पात्रशंसन.

माता पुत्रमवेक्ष्य लोचनयुगापूर्णं समभ्युत्थिता ।
राजा वा कलभोऽग्रजो मम पितानंदेन वाऽत्रागतः ॥
पुण्यं पुण्यकरं सुखं सुखकरं पात्रं नराः श्राविका– ।
स्सर्यो विघ्नहरं सतां हितकरं शंसन्ति संदर्शनात् ॥६०॥

अर्थ—जिस प्रकार माता अपने प्रिय पुत्रके आनेपर उसे आंख भरकर देखलेती है व हर्षसे उठकर उसे लेती हुई, "मेरा राजा आगया, हाथीका बच्चा आगया, भाई आया, बाप आया" इत्यादि शब्दोंको कहकर अपने हृदयके सातिशय आनंदको व्यक्त करती है, उसी प्रकार जिनभक्त श्रावक श्राविकायें पुण्यस्वरूप व पुण्यकारक, सुखस्वरूप व सुखकारक, सद्यः ही विघ्नको दूर करनेवाले, सर्व लोकके हितकारी बंधु पात्रोंको देखकर भक्तिसे प्रशंसा करते हैं ॥६०॥

या प्रक्षाल्य पदद्वयं निजपतेः संपार्च्य गंधादिभि- ।
स्ता विलिप्य शुभं तयोर्नमति सा पुण्यानुकूलांगना ॥
सा साध्वी च पतिव्रता निजगुणद्वेषे च रागे समा।
तस्मान्मर्त्यसुरोद्भवं सुखमलं निर्वाणमेति क्रमात् ॥६१॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पतिके चरणकमलोंको धोकर गंधादियोंसे पूजा करती है व वंदना करती है वह स्त्री पुण्यवती है, साध्वी है, पतिव्रता है, उसके गुणके प्रति कोई द्वेष करें या अनुराग करें, दोनोंमें उसके हृदय में समान भावना है। ऐसी साध्वीमणिको पानेवाला पुरुष धन्य है। वह स्वर्गकी देवताओंके द्वारा भोगने योग्य सुखको यहांपर पाता है। एवं क्रमसे उसे मुक्तिलक्ष्मी भी प्राप्त होती है ॥ ६१ ॥

दानकार्यमें वर्ज्य.

क्षुदितो मुखवारि गिरनशुची रोगी जुगुप्सकोऽक्षिविषः ॥
मुनिहस्तकवलदाने लुब्धो नाभीष्टवस्तुदानाज्ञः ॥ ६२ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहारदान देते समय भूखेको, मुंहसे पानी गिरनेवालेको, अशुचीको, रोगीको, ग्लानीको, नेत्रदोषीको, लोभीको व निर्दोष व प्रकृतिके अनुकूल पदार्थ देनेके विषयमें मूर्खको वर्ज्य करना चाहिये अर्थात् ऐसे व्यक्तियोंको आहारदानके कार्यमें नहीं लेना चाहिये ॥ ६२ ॥

दानमें प्रशस्त.

शुचिः पटुः साधुमनोनुकूलपथ्यान्नदाने निपुणोऽनुरागी ॥
मुद्दग्व्रती तृप्तमनाः श्रमघ्नो शुक्तिप्रदाने यतिनां प्रशस्तः॥६३॥

अर्थ—मन, वचन, कायसे शुद्ध दानकार्यमें निपुण साधुवोंके मनके अनुकूल संयमवर्धक पथ्य आहारको देनेमें समर्थ, धर्मानुरागी, सम्यग्दृष्टि, व्रती, संतृप्त मनवाला, साधुवोंके श्रमको दूर करनेवाला, यतियोंके आहारदानमें प्रशस्त है ॥ ६३ ॥

सूतकी व आहारदान.

स्नाता चतुर्थदिवसे पक्तुं योग्या तु दानयोग्या न ॥
दत्तेऽत्र तु तया सा उत्तरजन्मनि च पुत्ररहिता स्यात् ॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री चौथे दिनमें स्नानसे शुद्ध होकर घरमें रसोई बना सकती है। वह रसोई घरवालोंके ही काम में आसकती है। वह चौथे दिन मुनिदान नहीं दे सकती। यदि इस आज्ञाको उल्लंघन कर वह दान देवें तो उत्तरभवमें संतानविहीन होती है अर्थात् वंध्या होकर उत्पन्न होती है ॥ ६४ ॥

दत्तेऽत्रं सूतकी या स्यादवीरा साग्रजन्मनि ॥
न कुर्यात्सूतकी दानं पूजां दुर्गतिदुःखकृत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—सूतकी स्त्री यदि मुनियोंको दान देवें तो वह आगेके जन्ममें पुत्रसंतानसे रहित होकर उत्पन्न होती है। इसलिए सूतकी दान व देवगुरुपूजाको न करें। अन्यथा वह नरकादिदुर्गतिको प्राप्त करती है ॥ ६५ ॥

स्वहस्तकर्तव्य.

धर्मेषु स्वामिसेवायां पुत्रोत्पत्तौ श्रुतोद्यमे ॥
भैषज्ये भोजने दाने प्रतिहस्तं न कारयेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—धर्मकार्यमें, स्वामिसेवामें, पुत्रोत्पत्ति में, शास्त्रस्वाध्यायमें, औषधग्रहणमें, भोजनमें व दानमें प्रतिहस्त व्यवहार नहीं करना चाहिये अर्थात् इन कार्योंमें अपने बदले दूसरों से कार्य चलानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। ये कार्य स्वतः ही करने योग्य हैं ॥६६॥

दानफल.

श्रीमज्जैनमुनीश्वरेण रचिता भिक्षा हि यस्यालये ।
पंचाश्चर्यमिहाभवत्सवचनं तत्पश्रुतं विश्रुतम् ॥
मुख्यं चाहृतिदानमेव मुनयो नित्यं वदंत्युत्तमा ।
दातारो महदन्नदानममलं कुर्वंतु संतस्सदा ॥ ६७ ॥

अर्थ—जिस घरमें निर्मल चारित्रधारी जैनमुनियोंने आहार ग्रहण किया उस घरमें पंचाश्चर्यादि हुए यह बात शास्त्रोंमें सुनी जाती है। सर्व दानोंमें मुख्य *आहार दान है। इसलिए सज्जनदानियों को उचित है कि वे सदा सर्व दानों में श्रेष्ठ व पवित्र अन्नदान को सदा करें ॥ ६७ ॥

आहार और आदर

सद्यो जीर्यति सादरातिमधुरा दत्ताहृतिर्या तयो- ।
र्नश्यत्यार्द्रचणो यथा जगति न श्रीव्यायुवन्नादरः ॥
अंतर्बाह्यपरार्थदा च सकला भावेन भावार्पिता ।
तद्भावाश्रितपुण्यराशिमतुलं मोक्षावयंत्यन्वहम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—पुण्यार्जन करनेमें तत्पर श्रावकोंको उचित है कि परम आदरके साथ उत्तम पात्रोंको आहारदान देवें। उन दोनों (आहार व आदर) में आहार तो उसी समय जीर्ण होता है। परंतु आदर

* मुखेऽक्षि मुख्यं द्रविणे च धान्यं शास्त्रे च मुख्यो विमलागमश्च
दानेषु सर्व फलमन्नदानं लोकेषु सर्वेषु मनुष्यलोकः ॥

चिरकाल तक रहता है । जिस प्रकार गीला चना मट्टीमें पककर एकदम नष्ट होता है, उसी प्रकार आहार जीर्णताको प्राप्त होता है। परंतु उत्पन्न अंकुर नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार आदर तो नष्ट नहीं हो सकता है। भावशुद्धिके द्वारा दिया हुआ आहार अपने आत्माके लिए हितकर अंतरंग रत्नत्रयादिकको उत्पन्न करनेमें सहायक होता है व बहिरंग ऐश्वर्यादि विभूति को उत्पन्न करनेमें साधक होता है। इसलिए बहुत आदरके साथ प्रतिदिन आहारदान देते हैं वे अनुपम पुण्यराशिको संचित करते हैं ॥ ६८ ॥

आधारं त्वमृतं वदंति सुधियः पीतस्स सद्धर्मव-
द्दोषान्हंति सुखं करोति दहने क्षिप्तः समस्तं दहेत् ॥
धर्मस्तद्वदयं त्वनेन मनसा पुण्येऽर्पितः पुण्यदः ।
पापे पाप उशंति नाविकमनो वार्द्धौ यथा वर्तते ॥६९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग घृतको अमृतके नामसे कहते हैं । यदि उसे कोई पीवें तो सद्धर्मके समान शरीरके समस्त दोषोंका नाश करता है । यदि अग्निमें डाल दिया तो सबको जला भी देता है । इसी प्रकार इस धर्मको भी इस मनके द्वारा पुण्यकार्यमें उपयोग लगाया तो पुण्यार्जन होता है, पापकार्यमें उपयोग किया तो पापार्जन होता है, जिसप्रकार समुद्रमें जहाजको डुबाना या तारना यह नाविकके मनके आधीन है अर्थात् यह अपने मनोविचारके अनुसार कर सकता है इसीप्रकार यह मनुष्य अपने मनकी भावनाके अनुसार पुण्य व पापका अर्जन करता है ॥ ६९ ॥

दानमाहात्म्य

दानं ख्यातिकरं सदा हितकरं संसारसौख्याकरं ।
नृणां प्रीतिकरं कलद्गुणकरं लक्ष्मीकरं किंकरं ॥
स्वर्गावासकरं गतिक्षयकरं निर्वाणसंपत्करं ।
वर्णायुर्बलबुद्धिवर्धनकरं दानं [illegible]यं बुधैः ॥

अर्थ—दानकी महिमा अचिंत्य है, वह त्रिलोकमें कीर्ति करनेवाला है, देहारमहितको करनेवाला है, संसारमें सुखको प्रदान करनेवाला है, सबके प्रेमको संपादन कर देनेवाला है, अनेक गुणोंको प्राप्त करा देनेवाला है, संपत्तिको प्रदान करानेवाला है, इच्छित कार्यकी पूर्ति कर देनेवाला है। स्वर्गगतिको प्राप्त करानेवाला व नीच गतिका नाश करनेवाला दान है, विशेष क्या ? मोक्षलक्ष्मीको भी प्राप्त करा-देता है, देहकांति, आयु, बल, बुद्धि आदिको बढाता है। इस प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त दानको बुद्धिमान् लोग सदा करें ॥ ७० ॥

सद्रूपान्वयवृत्तशीलगुणसच्छिक्षामतिर्लक्षणम् ।
धान्यं वाहनवस्तुवित्तपितृमातृभ्रातृभार्यात्मजं ॥
चक्रित्वं सकलं शुभं भवसुखं भुक्त्वाष्टजन्मांतरे ।
निर्वाणं कृतिनां भवेत्तदखिलं सत्पात्रदानाद्विदम् ॥७१॥

अर्थ—सत्पात्रदानके फलसे यह जीव सुंदररूप, विशुद्धवंश, उत्तम चारित्र, पवित्र शील, श्रेष्ठ गुण, विशाल ज्ञान, कुशाग्रबुद्धि व शुभलक्षणोंको प्राप्त करता है। एवं धान्य, वाहन, वस्तु, धन, पिता, माता, भ्राता व पुत्र आदि सभी इष्टपरिकरोंसे सुसंपन्न रहता है। सकल चक्रित्वपदको प्राप्त करता है। इसप्रकार आठ भवतक संसारके उत्तम सुखोंको भोगकर वह मोक्ष साम्राज्यका अधिपति बनता है॥७१॥

\+ सौधर्मादिषु कल्पेषु जायंते पात्रदानिनः ।
सार्धं रमंते निःक्लेशा देवस्त्रीभिस्सदा नराः ॥ ७२ ॥

अर्थ—सत्पात्रदानी जीव सौधर्मादि स्वर्गीय कल्पोंमें जाकर जन्म

\+ अपात्रदानिनः केचिन्मृत्वा पण्णवतिष्वपि ।
अंतर्द्वीपेषु जायंते लांगूलिकादिमानवाः ॥
सत्पात्राय प्रदत्तेऽप्येस्वदाक्षत्या भक्तिपूर्वकम् ।
कुदृष्टिमानवाः केचिज्जायंते भोगभूमिजाः ॥

लेते हैं और वहां देवांगनाओंके साथ क्लेशरहित होकर सदा सुख भोगते हैं ॥ ७२ ॥

आयव्ययविवेक

> आयो वस्तु कियान्व्ययो मम विभज्यालोच्य देवाय यं ।
> दानायापि गृहाय चेतसि सदा कुर्यान्निजार्थव्ययं ॥
> यो वर्तेत भवेद्व्रती स लभते पुण्यं धनं कार्षिको ।
> भृत्यायेव परिग्रहाय च करायोपक्षयायात्मनः ॥ ७३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् किसान सदा इस बातका विचार किया करता है कि मेरे खेतमें उत्पन्न कितना होगा, और व्यय कितना होगा। उससे खेती करनेवाले नौकरोंको मुझे कितना देना होगा। मेरे कुटुंबीजनोंको कितना देना होगा। सरकारी कर कितना भरना होगा एवं बीज आदिका खर्चा व अन्य खर्चा कितना होगा। इत्यादि प्रकारसे आय-व्ययको विचार कर खेती करनेसे उसे लाभ होता है। इसी प्रकार पुण्यधनको अर्जन करनेवाला श्रावक इस बातका विचार करें कि मुझे आय कितना है और व्यय कितना है। मेरी संपत्तिसे देवपूजाके लिए कितना लगाना है। दानके लिए कितना लगाना है। कुटुंबियोंके पोषणके लिए कितना लगाना है। मुझे उसे किस प्रकार उपयोग करना चाहिये। इत्यादि विषयको विवेकपूर्वक समझकर धनका उपयोग करें तो बाह्यसंपत्तिके साथ अंतरंग संपत्ति (पुण्य) भी बढती है ॥७३॥

> आयव्ययमनालोच्य यो व्ययत्यनिशं स ना ।
> विनश्येत्सर्वदा तस्य सुखं स्वप्नेऽपि दुर्लभम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने आयव्ययको विचार न कर व्यय करता जाता है वह अवश्य ही एक दिन नष्ट होता है अर्थात् उसे दिवाला निकालना पडता है। उसे स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता है ॥७४॥

गुरुसेवा

दहति दुरितकक्षं जन्मबंधं लुनीते ।
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ॥
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७५ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनभक्तों के द्वारा की हुई वृद्धसेवा अर्थात् गुरुजनसेवा वनाग्निके समान पापारण्यको जला देती है, दातृजनोंके जन्मबंधको नाश करती है । आजन्मव्रत धारण करनेका सामर्थ्य प्रदान करती है, भावशुद्धिको प्राप्त कराती हैं, विशेष क्या ? इस संसारके तीरपर इस आत्माको ले जाकर ज्ञानराज्यमें अधिष्ठित करती है ॥७५॥

असहमिह दरिद्रं मारयत्याशुलक्ष्मी– ।
रगद इव विशिष्टो दुष्टरोगानशेषान् ॥
गिरिमिव पविरात्मा शेषपापं निहन्ति ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७६ ॥

अर्थ—गुरुजनोंकी सेवाके फलसे ही असहनीय दरिद्रता भी दूर होकर लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है । अमृतौषध जिसप्रकार समस्त रोगोंको दूर करता है, वज्रायुध जिसप्रकार पर्वतको तोड देता है इसी प्रकार यह गुरुसेवा आत्माके समस्त पापोंको नष्ट करती है ॥ ७६ ॥

रविरिव दुरिताख्यं नाशयत्यंधकारं ।
पटुतरजठराग्निः क्षिप्रमाहारदोषान् ॥
भवभवकृतकर्मव्यापदुग्रामयादीन् ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७७ ॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा सूर्यके समान पापरूपी अंधकारको नाश करती है । तीव्र जठराग्नि जिस प्रकार आहारके समस्त दोषोंका नाश

करती है उसी प्रकार भवभवमें अर्जित कर्मसमूह व तत्फलरूप दुष्ट रोगादिकोंको शीघ्र नष्ट करती है ॥ ७७ ॥

> निजपतिवदनाग्रे येन सेवा कृतातो।
> हृदि जनितमहोऽसौ तस्य भाग्यं ददाति ॥
> अविलयमिह राजा नित्यसौख्यं च दत्ते।
> ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७८ ॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि किसी सेवकने स्वामीकी सेवा निष्ठापूर्वक की तो स्वामी उससे प्रसन्न होता है, और उस प्रसन्नता व उत्साहसे उस सेवकको अनेक संपत्तिको प्रदान करता है । उसकी संपत्ति बढती हुई, क्रमसे वह नित्य सुखको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार यदि गुरुजनोंकी सेवा की तो यदि वे प्रसन्न हो जाय तो उस प्रसन्नताके उत्साहमें वे भक्तोंको पुण्यधन प्रदान करते हैं, उसके द्वारा उस सेवककी संपत्ति बढकर क्रमशः वह नित्यसुखको प्राप्त करता है। इसलिए आत्महितैषी भव्योंको उचित है कि वे सदा गुरुसेवामें तत्पर रहें ॥ ७८ ॥

वृद्ध कौन है ?

> यपस्तपोज्ञानकुलैर्विशुद्धैरखंडितैश्चारुचारित्रवर्गैः ।
> विशुद्धपुण्यैरभिवृद्धिमेति स एव वृद्धो वयसा न वृद्धः॥७९॥

अर्थ—विशुद्ध आबाल्य अनशनादि तप, ज्ञान, कुल, अखंडित-चारित्र व विशुद्ध पुण्यके द्वारा जो बढे हैं व बढते हैं उनको वृद्ध कहते हैं, उमरसे जो बूढे हैं उनको वृद्ध नहीं कहते हैं । परंतु इन बातोंसे जो बढे हैं उनको वृद्ध या गुरु कहते हैं ॥ ७९ ॥

> यो गुरुसेवां साध्वीं करोति तस्यालयेऽत्र पंचाश्चर्यं ।
> अभवदिति शास्त्रसिद्धं कर्तव्या सर्वदा हि गुरुसेवा॥८०॥

अर्थ—जो त्रिकरण शुद्धिपूर्वक उत्तम पात्रोंकी सेवा करता है उसके घरमें पंचाश्चर्य वृष्टि होती है यह शास्त्रसिद्ध विषय है। अतएव सदा गुरुसेवा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

धर्मेऽम्बुधौ मे समये चतुर्थे रत्नाश्रिते शुक्तिपुटे सुपात्रे।
दत्ता सुधार्जा इव संति मुक्तास्ते दातृलोकास्तु किमत्र चित्रं॥

अर्थ—जिसप्रकार रत्नके आश्रयभूत समुद्रमें स्वातिनक्षत्रमें शरद् ऋतुमें सीपके पुटमें पडे हुए जलबिंदु मुक्ता (मोती) होते हैं, उसी प्रकार रत्नत्रयके आश्रयभूत धर्मरूपी समुद्रमें चतुर्थकालमें उत्तम पात्रमें उत्तम दाताओंके द्वारा दिये गये आहारोंसे वे दाता मुक्त होते हैं इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥ ८१ ॥

पुण्यवान्दाता

वित्तं नास्ति तदस्ति चेदपि मनो नो तत्तदस्तीति चे— ।
दास्तीपत्सुसहायता तदपि वत्सा चास्ति चेन्नास्ति यत् ॥
पात्रं तत्तदपीह सा तदपि चेत्संतीति यस्यानिशं ॥
क्षिप्रं भावसमुद्रपारगतवानाहुस्तमेकं बुधाः ॥ ८२ ॥

अर्थ—लोकमें दाताके लिए उपयुक्त सभी परिवारोंका मिलना बडा कठिन है। दाताको यदि दान देनेकी उत्कट भावना हो तो उसकी पूर्तिकेलिए कहीं धनका अभाव है, कदाचित् धन हो तो मनका अभाव रहता है। मन और धन दोनों रहनेपर उसे दूसरोंकी सहायता नहीं मिलती। कदाचित् धन हो, मन हो, दूसरोंकी सहायता भी हो तो उत्तमपात्र नहीं मिलते हैं। इसप्रकार कुछ न कुछ न्यूनता रहती है। ये सभी बातें जिस दाताको एक साथ मिलती हैं वह सचमुचमें धन्य है। उसे बुद्धिमान् लोग संसारसागरके बिल्कुल तीरमें पहुंचा हुआ कहते हैं ॥ ८२ ॥

आहारदानमें सर्वदान

समस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो यमः ।
सर्वे तेन वितीर्यंते येनाहारो वितीर्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—जिस दाताके द्वारा आहारदान दिया जाता है उसके द्वारा समता, तप, दया, धर्म, नियम व यमरूपी संयम आदि सभी गुण दिये जाते हैं ऐसा समझना चाहिये । आहार ग्रहण करनेसे इन गुणों की वृद्धि होती है ॥ ८३ ॥

गुरुभक्तिफल

गुरुपदनतेस्सुगोत्रं तदुपास्तेस्सर्वसेव्यता दानात् ।
भोगकरी श्रीः पूजा कीर्तिर्भक्तिर्भवेद्गुरून् भजताम् ॥८४॥

अर्थ—गुरुवोंके चरणमें भक्तिसे नमस्कार करनेसे उच्च गोत्रका बंध होता है । उनकी उपासना करनेसे स्वतः सबके द्वारा उपास्य होता है । दानसे भोगने योग्य अखोट संपत्ति मिलती है । गुरुवोंकी पूजा करनेसे पवित्र कीर्ति, व यथार्थ भक्ति प्राप्त होती है ॥ ८४ ॥

सम्यग्दृष्टिज्ञानचारित्रवद्भ्यो ।
योगिभ्यो यैर्दत्तमाहारदानम् ॥
ते सद्दृष्टिज्ञानचारित्रवंत-
स्तेषामात्मा स्यात् च्युताब्दो यथार्कः ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो दाता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे अलंकृत योगियोंको आहारदान देते हैं वह स्वयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रको धारण करते हैं । उन दाताओंकी आत्मा मेघके आच्छादनसे रहित सूर्यबिंबके समान निर्मल होती हैं ॥ ८५ ॥

उत्तमदाता

अपुष्पफलिनः कंटकावृतानरसस्फलाः ।
तृप्तिकृद्दानिनः केचिदुत्तमाः पनसा यथा ॥ ८६ ॥

अर्थ—कोई उत्तमदानी पनसके फलके समान रहते हैं। पनसके फलमें यह विशेषता है कि वह फल पहिलेसे पुष्प नहीं छोडा करता, एकदम फल होता है और फलके बाहरका भाग एकदम कांटोंसे भरा हुआ रहता है। परंतु अंदर फल बहुत व मिष्ट रहता है। एवं खानेवालोंको तृप्त कर देता है। इसी प्रकार उत्तम दाता भी रहते हैं। पनस जिस प्रकार पहिलेसे फूल छोडकर लोगोंको फल होनेकी बात प्रकट नहीं होने देता है, उसी प्रकार उत्तमदाता भी 'मैं दानी हूं' इस प्रकार लोगोंको डिंडोरा पीटकर नहीं बतलाया करते हैं। अनेक कंटक व आपत्तियोंसे घिरे रहनेपर भी दूसरोंको सत्फल ही देनेवाले, उपकार करनेवाले एवं पात्रोंको तृप्ति करनेवाले ये दानी रहते हैं ॥ ८६ ॥

सकुसुमफलवन्त आम्राः फलानि यावच्च संति तावदिमे।
तरतमफलानि ददते यथा तथा दानिनो विराजंते ॥८७॥

अर्थ—जैसे आम्रका वृक्ष पहिले फूल छोडकर बादमें फलको छोडता है अतएव उसमें अनेक प्रकारके तरतम फल होते हैं। इसी प्रकारके भी दानी लोकमें होते हैं ॥ ८७ ॥

सत्पात्रदान फल.

राजेवामलसौख्यपदार्थमनिशं दत्ते च दोषान्व्यथा।
मंत्रीवाशु तिरस्करोति सुगुणान्व्यक्तीकरोतीव सन् ॥
क्षुद्रान्यक्कुरुतेऽर्कवद्विषमिवाशेषामयान्मोचय-।
त्येनो भेदयतीति धर्मगुरुवत्पातेव रक्षत्ययः ॥ ८८ ॥

अर्थ—सत्पात्रदानसे उपार्जित पुण्य इस मनुष्यको राजाके समान अनेक उत्तम पदार्थोंको सदा प्रदान करता है। मंत्रीके समान दोष व चिंताको दूर करता है। सज्जनोंके समान सुगुणोंको व्यक्त करता है। सूर्यके समान क्षुद्रोंका तिरस्कार करता है। वैद्यके समान समस्त

रोगोंको दूर करता है। धर्मगुरुके समान पापको दूर करता है, विशेष क्या? साक्षात् माताके समान संरक्षण करता है ॥ ८८ ॥

भूतादावपि वज्रपंजरवदब्ध्यादौ तरंडो यथा ।
शीते वह्निवदौष्णिके हिमगुवद्रोगेऽपि पीयूषवत् ॥
ज्ञाने वागिव दर्शने तरणिवद्युद्धे जयं दुर्जयं ।
कुर्याद्धावति वारि वापविपिनं भस्मीकरोत्यग्निवत् ॥८९॥

अर्थ—सत्पात्रदानसे उपार्जित पुण्यफल भूतप्रेतादिक की बाधामें वज्रपंजरके समान रक्षण करता है, समुद्रमें तरणसाधनके समान बचाता है, फडक शीतमें अग्निके समान, उष्णकालमें चंद्रके समान, रोगमें अमृतके समान, ज्ञानमें सरस्वतीके समान, दर्शनमे सूर्यके समान, दुर्जय युद्धमें जयलक्ष्मीके समान संरक्षण करता है। जलके समान पापोंको धो डालता है। पापरूपी जंगलको अग्निके समान जला देता है ॥ ८९ ॥

पुण्यस्वरूप.

शुक्त्यंतःस्थितमुक्तेव । करंडस्थितरत्नवत् ॥
अब्दावृतार्कवत्पुण्यं । कुंभांतस्थितदीपवत् ॥ ९० ॥

अर्थ—वह पुण्य सीपके अंदर छिपी हुई मोतीके समान, करण्डमें स्थित रत्नके समान, बादलसे छिपे हुए सूर्यके समान, कुंभके अंदर रक्खे हुए दीपकके समान इस आत्मप्रदेशमें अंतर्लीन होकर रहता है ॥ ९० ॥

पुण्यकी प्रबलता.

न हन्यते तथा पुण्यं दुष्कृतेन मनागपि ।
गाधभूमिगतेरंडबीजवच्छ्रेणिको यथा ॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि इस जीवने विपुल पुण्यका संचय किया तो उस पुण्य

को पापकर्म नाश नहीं कर सकता है। जिस प्रकार जमीनमें थोडा खोल गया हुआ एरंड का बीज नष्ट नहीं होता है। जैसे श्रेणिक राजाने मुनियोंको उपसर्ग किया तो भी उसका पाप उसके पूर्वसंचित विपुल पुण्यके होनेसे उसका अधिक घात नहीं कर सका, उस पुण्यके बलने आगे उसने तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया ॥ ९१ ॥

भक्तिविशेष.

यापयति यापयिष्यति, साधूंस्स्वयमेव यः पुमाननिशं ॥
पूर्णाक्षयाकलंकाविघ्नाभयदानवान्स सुखी ॥ ९२ ॥
स्तंभयति सर्वविघ्नान् प्रजादिपीडाश्च यत्प्रसादेन ॥
इहपरसुखयुगमयमनुभूत्वा सुखमनंतमपि लभते ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो श्रावक साधुवोंको पात्रदान देकर स्वतः उनको भेजता है या अनेक सज्जनोंके साथ भक्तिसे पहुंचाता है वह पूर्ण अक्षय, अकलंक व विघ्नरहित अभयदानको प्राप्त करता है व सुखी होता है। जो श्रावक साधुवोंके मार्गमें आये हुए सर्व विघ्नोंको दूर करता है, प्रजा आदिसे उत्पन्न पीडावोंको दूर करता है, वह उस पुण्यके प्रसादसे इहपरसुखको प्राप्तकर अनंतसुखात्मक मोक्षको भी प्राप्त करता है ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

स्वक्षेत्रे कृषिको यथा स्वभयदानत्सुक्तिभक्त्यन्वितः ।
स्वां भार्यामिह यापयन्निव सदा तत्तातगेहं प्रभुः ॥
राजा वा निजनीवृतं स्वभयदानस्युक्तिभक्तिर्विना ।
दत्त्वान्नं स परं सुखं च लभते पात्राय दाता कथं ॥९४॥

अर्थ—जिसप्रकार किसान अपने क्षेत्रमें अत्यधिक श्रद्धा व भक्तिसे युक्त होकर उसके संरक्षण करनेके लिए प्रयत्न करता है। एवं जिसप्रकार कोई सज्जन अपनी भार्याको उसके पिताके घर बहुत सुव्यवस्था के साथ पहुंचाता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने प्रजावर्गको

बहुत ही आदरके साथ पालन करता है तब वे सुखी होते हैं। उसी प्रकार बहुत आदर व भक्तिके साथ जो श्रावक दान देते हैं वे सुखी होते है। बिनाभक्तिके आहारदान देनेसे सुखी कैसे होसकते हैं ? कभी नहीं ॥ ९४ ॥

अंतरायफल

भिक्षाकालेन्तरायांस्त्रिकरणजनितान्येऽत्र कुर्वंति तेषां ।
चेतस्थो योग्यलक्ष्मीं क्षपयति स च यो बाह्यलक्ष्मीं बलाख्यां ॥
वाक्यस्थो देहिवाचं स्थगयति सकलं जाड्यगाद्गद्यमौक्यं ।
शारीरो देहसाताकरयुवतिधनाहारभूषादिनाशम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—साधुवोंके आहारके समयमें जो व्यक्ति मन वचन कायसे उनको मानसिक, वाचिक व कायिक आघात पहुंचाते हुए विघ्न करते है उनको उस पापके फलसे अनेक प्रकारसे हानि उठानी पडती है। यदि मानसिक क्षोभ साधुवोंको पहुंचाया हो तो उस पापीका मानसिक सामर्थ्य व बल कम होता है। एवं बाह्यलक्ष्मी भी घट जाती है। यदि वाचनिक अंतराय हो तो उस पापीके लिए वाचनिक शक्तिकी हीनता होती है। वचनमें जाड्यता [अज्ञान] बढती है, गद्गदता अर्थात् तोतलापना आता है। विशेष क्या ? क्रमशः मूकता ही आती है। यदि देह-संबंधी विघ्न किया हो तो देहका सुख, स्त्रीसुख, धन, आहार, आभरण आदि का नाश हो जाता है ॥ ९५ ॥

सुकृती व पापीका जीवन

उप्तं कदल्या इव कंदयुग्मं
सम्यक् क्रियायां फलति द्रुतं तत्।
दत्तेन किंचित् फलमक्रियायां
पापी चिरायुः सुकृती गतायुः ॥ ९६ ॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि पापियोंका जीवन दीर्घ हुआ करता है, पुण्यात्मा लोग अल्पजीवी होते हैं। इसका क्या कारण है। प्रकृति ही ऐसी है। लोकमें केलेका वृक्ष व एक जमींकंद इस प्रकार दोनोंका बीज बोनेपर केलेके वृक्षको देशकालोचित अनेक क्रियाओंके करनेपर भी फल कम देता है। परंतु थोडीसी क्रिया करनेपर भी कंद अधिक फल देता है। इसी प्रकार पापियोंका जीवन अधिक होता है, पुण्यात्माओंका जीवन अल्प होता है ॥ ९६ ॥

उपकार्यपात्र

स्वेशामित्रकृतोपकारविधिना भृत्यांगनानां भयं।
सद्यस्तत्पतिना भवेदिव सदा तत्कर्म संवर्जयेत् ॥
पुण्यात्पात्रसुबंधुसेवकसतीपुत्रादिकान्प्रीतितो ।
नित्यं नान्यजनाय धर्मनिपुणैर्दानं च देयं नृपात् ॥९७॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि अपने स्वामीके शत्रुओंको किसी सेवकने उपकार किया तो उससे स्वामी क्रोधित होकर अनेक प्रकारसे हानि कर सकता है। इस प्रकार का भय उन सेवकोंको व उनकी स्त्रियोंको सदा रहता है। इसलिए ऐसे कार्यको कभी नहीं करना चाहिए। बुद्धिमानोंको उचित है कि सत्पात्र, अपने उत्तम बंधु, सेवक, अनाथ स्त्रियां, बालक आदिका अपने धनसे पोषण करें। अन्य जनोंको देनेकी जरूरत नहीं ॥ ९७ ॥

भक्तिफल

किं दृष्टाः पुरि सावधी तरुवरे दोषान्यथा कुर्वते।
पुष्टिर्येन फले यदीयमहसा लोकेषु नो वैरिणः ॥
क्रूराश्चांतरिताः प्रणश्यति तमः सूर्ये निरभ्रे यथा।
भक्तिर्धर्मफले जने गुरुजने यस्यास्त्ययं नश्य न ॥९८॥

अर्थ—यदि कोतवाल सावध रहा तो नगरमें चोर जार आदि दुष्टोंका कोई भय नहीं रह सकता है, इसीप्रकार यदि यह मनुष्य विवेकी रहा तो उसके लिये दोषोंका भय नहीं रहता है। राजाने यदि अपनी प्रजा व सेनाओंका संरक्षण बहुत प्रेमके साथ किया तो उसे शत्रुओंका भय नहीं रह सकता है, क्रूर उससे दूर जाते हैं। जिसप्रकार सूर्यके निरभ्र होनेपर अंधकार चला जाता है, इसी प्रकार धर्मप्रेमसे गुरुजनोंके प्रति भक्ति जो मनुष्य रखता है, उसके पास पापदोष आदि नहीं ठहरते हैं ॥ ९८ ॥

देयपदार्थ

राजा चोरवदन्यवित्तहरणे नानाविधोपायवान् ।
राजासावचिराद्विनश्यति बलात्तद्वित्तमेनोवहम् ॥
वर्ज्यं सद्व्यवहारवृत्तिनिपुणः पूतार्थवित्ता विदन् ।
वैश्यः साधुजनार्जितं हितकरं दाता स एवोत्तमः ॥९९॥

अर्थ—कलिकालके कोई २ अविवेकी राजा प्रजाओंके द्रव्योंको अपहरण करनेके लिए अनेक प्रकारके उपायोंको करते हुए चोरोंके समान आचरण करते हैं। वे राजा पापके उदयसे शीघ्र नष्ट होते हैं। उनका द्रव्य पापोर्जित है, उस द्रव्यको पात्रदानादि पवित्र कार्यमें कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। परंतु धर्मकार्यमें सदा उत्तमद्रव्यको ही ग्रहण करना चाहिये। द्रव्यार्जन करनेवाले वैश्योंको उचित है कि वे न्यायमार्गसे द्रव्यार्जन करें, सद्व्यवहार वृत्ति निपुण वैश्य होना चाहिये अर्थात् निर्दोषतासे व्यापार करना चाहिये। व्यापारके लिए वह जिस समय अन्य देश द्वीपांतर आदिमें जाता है, उस समय वह अपने बंधु, बांधव, पिता, पुत्र, कलत्र आदियोंसे मोहका परित्याग कर दीक्षित होनेवाले साधुओंके समान दीक्षित होना चाहिये। अपने गुरुके द्वारा निरूपित सद्धर्मका श्रवण कर उनके द्वारा

उपदिष्ट तत्वोंके अनुकूल प्रवर्तन करने की तैयारी उसमें होनी चाहिये, प्रस्थानको लेकर पुरप्रवेश तक सावधिक दीक्षासे दीक्षित होना चाहिये ।

कहा भी है—

रोगे विदेशगमने जिनोत्सवे धर्मकार्यकरणेषु ।
रणराजांगणगमने सुजनोऽवधिदीक्षितोऽत्र भवितव्यः ॥

रोगकी हालतमें, विदेशप्रयाणमें, जिनोत्सवके प्रारंभमें, धर्मकार्यके प्रारंभमें, युद्धको जाते समय, राजमहलको जाते समय, सज्जन को उचित है कि वह उस कार्यकी पूर्ति होने तक कुछ न कुछ नियम व्रत आदि लेवें । अपने स्वामी, गुरु, विद्वान् धार्मिकजनोंकी सेवा करने योग्य एवं पुण्यसाधक परिग्रहोंके संरक्षण करने योग्य अर्थको उपार्जन करनेके लिए मनुष्यको उद्योग करना चाहिये । व्यापारादिक कार्यमें जाते समय दुर्धर उपसर्ग करनेवाले चोर दुष्ट मृग सर्पादिकके द्वारा कोई आपत्ति आवे तो उसे निराकरण करनेके लिए उसे समर्थ रहना चाहिये । आवश्यकता पडे तो राजा व उनके भृत्योंको धनादि दानसे परितुष्ट करें और लोगोंको संतुष्ट करनेवाले वचनोंको बोले, अपने लिए व्यापार करने योग्य नगरमें प्रविष्ट होकर अपने हृदयमें अत्यंत दयारसप्रपूरित भावनाओंको रखते हुए सर्व व्यवहारिक जनोंके साथ अनुकूल प्रवृत्ति से व्यवहार करें। विविध विषयोंको ध्यानमें लेकर द्रव्योपार्जनकी वृत्तिमें दूरदर्शितासे काम लेवें । जिस पदार्थके लेनेसे कोई प्रकारकी हानि नहीं हो ऐसे पदार्थोका संग्रह करें। अपने वचन को दृढता से साधन करें। लोकव्यवहारको देखें। ऐसे निर्दोष व्यवहारसे जो व्यापार करता है उसका धन पात्रोंको दान देने योग्य है । क्यों कि वह वैश्य स्वतः साधुजनोंके समान वृत्ति रखकर धनार्जन करता है, वही हितकर है । वही उत्तमदाता कहलाता है ॥ ९९ ॥

धर्मात्मासत्कार

धर्मप्रभावनायै ये वाक्कायार्थैस्सहायिनः ।
तेषां प्रियोक्तिभिश्चित्तं तर्पयेदुचितैर्धनैः ॥ १०० ॥

अर्थ—धर्मप्रभावना करनेके लिए जो मन वचन कायसे व धनसे सहायता करते हैं उनका प्रियवचन व उचित द्रव्योंसे सत्कार करना चाहिये ॥ १०० ॥

येन केन च यत्नेन धर्मकार्यं प्रवर्द्धते ।
कर्तव्या सत्कृतिस्तस्य चित्तक्षोभं न कारयेत् ॥१०१

अर्थ—जो व्यक्ति धर्मकार्यकी वृद्धि करता है, उसका सत्कार करना चाहिये उसके चित्तको क्षुब्ध नहीं करना चाहिये ॥१०१॥

दानफल

दत्तं दानमयाचिते सविभवं पात्रे ददात्यद्भुतं ।
दैवाद्याचितदत्तमल्पविभवं संप्रार्थनाज्जायते ॥
नीरसा तत्समयं मनः कलुषयत्कालेऽपि दत्ते सतां ।
निस्वं क्लेशकरं शपंतमनृतं भूपं भजंत्यत्र ते ॥ १०२ ॥

अर्थ—अयाचित पात्रमें दान देनेपर उसके फलसे चक्रवर्ति देवेंद्रादिकके विभव प्राप्त होते हैं । याचितपात्रमें दान देनेसे अल्प विभव प्राप्त होता है । यदि पात्रने अधिक प्रार्थना की, दाताने दानके समयको टालकर मनको संक्लिष्टकर दान दिया तो वह दरिद्री होता है, धन मिले तो भी उस धनसे कष्ट ही होता है । उस मनुष्यका धन दुष्ट राजाको सेवन करनेवालेके समान है ॥ १०२ ॥

दातृवात्सल्य

माता पुत्रीसौख्यसंरक्षणाभ्यां ।
भीत्या सं जामातरं रक्षतीव ॥
दाता सद्धर्मोपकर्तारमेनं ।
स्वेनार्थेनानारतं सर्वजीवम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार माता अपनी पुत्रीको सुखके साथ संरक्षण करनेके उद्देश्यसे जमाईका रक्षण करती है, उसीप्रकार सद्धर्मको उपकार करनेवाले समस्तजीवोंको अपने द्रव्यसे उपकार करना चाहिये ॥ १०३ ॥

मिथ्यादृष्टि होनेपर भी सहकार

धान्यानि लब्धुं कृषिको ददाति ।
क्षेत्रक्रियाकारिजनाय वित्तम् ॥
यथा तथैवास्यवृषक्रियां ये ।
कुर्वंति तेभ्यो द्रविणं विदध्यात् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अष्टादश प्रकार के धान्योंको प्राप्त करनेके लिए किसान खेत करनेवाले मनुष्योंको धनादिकको देता है, इसी प्रकार अपने धर्मकार्योंको करनेवाले जो सज्जन हैं, उनको धनादिक देकर उपकार करना चाहिये ॥ १०४ ॥

श्रद्धानफल

निर्दोषसदृक्चरितं विदंतं ग्रामीणदेवाश्च नरा दयंते ।
सम्यक्समबाधां परिहार्य तस्मान्निर्दोषभक्तिं कुरु जैनधर्मे ॥१०५

अर्थ—निर्दोष सम्यग्दर्शन व चारित्रको धारण करनेवाले भव्यकी अनेक बाधाओंको भी दूर कर ग्रामीणदेवतायें, जलदेवतायें व वनदेवतायें एवं मनुष्यगण रक्षण करते हैं। इसलिए हे भव्य! जिनधर्म में विशिष्ट भक्तिको करो ॥ १०५ ॥

स्वग्रामागतसैनिकं च नृपतिं शप्यत्यसौ किं नृपो ।
योद्धारं शपतीह किं रिपुचमूं दृष्ट्वा क्षमान्शंसति ॥
चित्रं मूढजनः शपत्यनुदिनं निष्कारणं तिष्ठ भो ।
पुष्टेषु स्वमु भिक्षुकोऽपि विहरन्वीथीषु मौनी यथा ॥१०६॥

अर्थ—जिस प्रकार वीर राजा अपने नगरको घेरे हुए शत्रुराजा व उसकी सेनाके योद्धाओंको गाली नहीं दिया करता है, उलटा उनकी वीरताको देखकर प्रशंसा करता है, उसी प्रकार सबको अपने आत्माको न्यायवृत्तिकी ओर लेजाना चाहिये। परंतु आश्चर्य है कि मूर्ख लोग रात्रिंदिन दूसरे बंधुओंको गाली वगैरह देकर दुर्वचन कहते हैं। परन्तु बुद्धिमानोंको उचित है कि जिस प्रकार मुनिराजके मार्गमें जाते समय दोनों ओरसे मोटे ताजे कुत्तोंके भोंकने पर भी वे मौन धारण करते हुए जाते है, उसी प्रकार बडे पुरुषोंको ऐसी गालियों की उपेक्षा करनी चाहिये॥ १०६ ॥

कुत्तेके समान कृतज्ञ रहो

जीवासीत स * रात्रिजागर इव स्वस्वामिसद्माप्यवं–
स्तस्मिन्कुप्यति मौनवानिह भवान् स्वस्वामिभक्तो यथा।
घाते तेन भपश्च तत्र न दशन् कुप्यन् कृतज्ञो यथा
भक्तः स्वामिनि जागरोऽघतिमिरे भूत्वा कृतज्ञो भूवे॥१०७

अर्थ—हे सुखार्थी जीव! तू कुत्तेके समान कृतज्ञ बनना सीख! जिस प्रकार यह कुत्ता अपने स्वामीके सुखसे निद्रित होनेके बाद स्वयं जागरण करते हुए अपने मालिकके ही नहीं अडोस-पडोसके घरको भी संरक्षण करता है। स्वामी यदि उसपर क्रुद्ध हुआ तो वह मौनधारण कर लेता है, इतना ही नहीं यदि स्वामीने उसे मारा तो भी अपने स्वामीको काटता नहीं, भोंकता भी नहीं, सदा स्वामिभक्त ही बना रहता है। इसी प्रकार पापांधकाररूपी रात्रिके होते हुए धर्म व धर्मगुरुरूपी स्वामीके प्रति हे जीव! तू कृतज्ञ बनना सीखो। तभी तुह्मारा कल्याण होगा॥१०७॥

* जागर्ति स्वामिवर्गेऽस्मिन् निद्रितो मौनवान्भवेत्
निद्रिते तत्र जाग्रत्स रात्रिजागर इष्यते ॥

करणत्रयलक्षण

मनो राजवदाभाति यद्वचःसत्कलत्रवत् । ×

कायः सेवकवत्भाद्दुसितयं दातृलक्षणम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—दाताका मन राजाके समान उदार रहना चाहिये। वचनमें सच्छील सतीके समान मितभाषण रहना चाहिए। और कायमें सेवकके समान विनयवृत्ति होनी चाहिये। यही प्रशस्त दाताका लक्षण है ॥१०८

राजलक्षण या दातृहृदय

अस्मरन्नवदन्जातु नास्ति शब्दमसूचयन् ।

ददामि भाति वाग्वक्ता सदा राजेव दातृहृत् ॥ १०९ ॥

अर्थ—राजाका धर्म है कि यह कोई याचक आवे तो नास्ति शब्दका स्मरण कभी हृदयमें भी न करें, वचनसे न बोले, कायसे नास्तिकी सूचना न देवें। परंतु जन्मभर " ददामि " देता हूं, इसी प्रकारकी वृत्ति रक्खें। प्रशस्त-दाताका भी हृदय वैसा ही होना चाहिये ॥१०९॥

दातृवचन

स्वामी ददेति किं किंतु तद्विदमनुशन् ददत् ।

साध्वीजन इवाभाति सर्वदा दातृभाषणम् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री यदि परोसने के लिए बैठी तो, उसके लिए अमुक पदार्थ चाहिये ऐसा कहकर मांगनेकी आवश्यकता नहीं है। किंतु वही सब कुछ समझकर पतिको जो चीज चाहिये परोसती है, इसी प्रकार दाताओंका वचन अत्यंत संयत होना चाहिये ॥ ११० ॥

दातृकाय

या या नियुक्ता सत्सेवा तां तां कुर्वन्मुदा सदा ।

भासते दातृकायोऽयं सेवको भक्तिमानिह ॥ १११ ॥

× ' भाण्डागारिकवद्वचः ' ऐसा भी पाठ है। कोषाधिकारीके समान जिसका वचन है। अर्थात् कोषाधिकारी जैसे याचकको अल्पधन देता है वैसे उत्तम दाता मितभाषी रहता है।

अर्थ—जिस प्रकार भक्तिमान् सेवक अपने स्वामीके द्वारा नियुक्त सभी सेवावोंको बहुत भक्ति व संतोषसे करता है उसी प्रकार दाताका शरीर भी हो, वह सदा गुरुसेवामें प्रवृत्त हो ॥ १११ ॥

तामसदान

+ पात्रापात्रसमक्षताज्ञ इह हेमादेः परीक्षाविधा-
वाहूयानुचरैरसंस्तुतमसत्कारं स पात्रं च यः ।
दास्या पाचितदापितं भृतिधरैर्यद्दापितं चाहृतं
तद्दानं न फलं तु भाटकचितं तत्तामसाख्यं विदुः ॥११२॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णकी परीक्षा न जाननेवाला अज्ञानी परीक्षा करनेमें असमर्थ रहता है, उसी प्रकार पात्रापात्रके भेदको न समझनेवाला अज्ञानी अपने नौकरोंके द्वारा उन पात्रोंको अपने घरपर बुलवाकर स्तुतिस्तोत्र व नवधाभक्ति आदिसे रहित होकर, दासी के द्वारा तैयार किये गए आहार को अपने नौकरोंके द्वारा दिलाता है, उस दानका कोई फल नहीं है। वह तो भाडोत्री मनुष्योंको रखकर कमाये हुए धनके समान भाडोत्री दान है, उसे महर्षिगण तामसदान कहते हैं ॥ ११२ ॥

यः श्रमणानां न संतिष्ठेन्नोत्तिष्ठन्संस्थितोऽपि न ।
अनुत्थितः पात्रमीक्षन्स दाता गर्वितो यथा ॥ ११३ ॥

अर्थ—तामस दानी दाता गर्विष्ठ मनुष्यके समान पात्रोंके आग-

+ सुखी दुखं न सहते दुःखी दुखं सुखं सदा
यथा ताडनमुण्यं सहते कंटकाशनः ॥
धार्मिका यदि वर्तंते धर्मवित्तेषु वंचकाः ॥
तत्रस्थाधार्मिका धर्मं बहुव्याजाहृयंति च ॥
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतं ॥
दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥

अर्थ—जो दान साधुवोंकी प्रेरणासे किया गया है। एक घटिका मात्रके लिए, साधुवोंके उपदेशसे जिसका भ्रम दूर होकर, दिया गया है। सत्पात्रोंके द्वारा अनेक प्रकारसे वर्णन करनेपर, उस वर्णनरूपी रससे जिसका अंतरंग आर्द्र होकर दिया गया है, पात्रोंके द्वारा उपदिष्ट दयारसके कारणसे जिसका क्रोध व लोभ प्रशमित होकर दिया गया है उसे करुणाके व्यापार करनेवाले साधुजन राजसदान कहते हैं ॥ ११६ ॥

सात्विकदान

दृष्ट्वाभ्युत्थाय गत्वा मुनिपमपि परीक्ष्याशु नत्वा पदांघ्री।
दत्वा प्रक्षाल्य पीठं स्तुतिनतिगुणसंकीर्णनैः श्रांतिशांति ॥
कृत्वैवोल्लोल्य संतर्प्य च शुभहृदयं दत्तभक्त्या मुनींद्र-
स्तृप्तः स्याद्येन यत्तद्रचितमभिहितं सात्विकं दानमार्यैः॥११७॥

अर्थ—मुनिराजके आते ही उनको देखकर भक्तिसे उठें, उनको देखकर उनके चरणोंमें नमस्कार कर प्रतिग्रहण कर अंदर ले जावें, वहांपर उच्चासन देकर पादप्रक्षालन करें एवं अनेक प्रकार की स्तुति, भक्ति, पूजा आदि करके उनके मार्गश्रमको निवारण करें, तदनंतर उनको बहुत भक्तिसे, त्रिकरण शुद्धिसे आहारदान देकर संतुष्ट करें। साधुगण उसे सात्विकदान के नामसे कहते हैं ॥ ११७ ॥

उत्तमादि भेद.

सात्विकमुत्तमदानं मध्यमदानं तु राजसाख्यं च।
सर्वेषां दानानां जघन्यदानं तु तामसाख्यं स्यात् ॥११८॥

अर्थ—सर्व दानोंमें उत्तम दान सात्विक दान है, राजसदान मध्यम है, और सबसे जघन्य दान तामस दान है ॥ ११८ ॥

सात्विकराजसतामसमुत्तममध्यमजघन्यदानमिदम्।
द्रव्यव्यय एकोऽत्र त्रिकरणभेदेन तद्ध्येत्रिविधम् ॥११९॥

अर्थ—सात्विक, राजस व तामस जो उत्तम, मध्यम व जघन्य दानके भेदसे कहे गये हैं, उन तीनोंमें द्रव्यव्ययकी तो समानता है; अर्थात् द्रव्यव्यय तीनोंमें होता है। परंतु तीन प्रकारके परिणामोंके भेदसे उसके तीन भेद होते हैं ॥ ११९ ॥

असीमव्यवहारका फल.

देशयोगवृषादीनां वर्तन्ते येऽवधिं विना ॥
त एव नाशं गच्छंति सगरस्य सुता इव ॥ १२० ॥

अर्थ—देश, मन वचन, काय योग, धर्म, स्त्री, बंधुमित्र आदि के साथ जो, नीति की मर्यादाको उल्लंघन कर व्यवहार करते हैं वे सगर चक्रवर्ति के पुत्रोंके समान नष्ट होते हैं। अर्थात् उनको अनेक प्रकार से हानि उठानी पडती है ॥ १२० ॥

गर्वसे हानि.

मनुते तृणवल्लोकं सगर्वो निस्पृहो यथा ॥
स्वयं मुंचति भाग्यं च सगरस्य सुता इव ॥ १२१ ॥

अर्थ—अहंकारी मनुष्य निस्पृह मनुष्य के समान लोककी तृणवत् समझता है, उसकी करतूतोंसे वह स्वयं अपने भाग्यको खो देता है। जिस प्रकार सगर चक्रवर्तिके पुत्रोंकी हालत हुई ॥ १२१ ॥

यत्रास्ते निस्पृहोऽसौ तृणमिव भुवनं वोधवृ परस गर्वी।
धर्मं देवं गुरुं च स्वजनपुरजनान्भूपमंहो न पुण्यम् ॥
क्रुप्यः सुप्यः स सद्यः फलति परिभवं सर्वदुर्वीश्वरार्थि–
स्त्यक्त्वा गर्वं च तस्माद्भज मनुजरवं धर्ममार्गं स्वभावात्॥

अर्थ—जिस जिसप्रकार कषायेंद्रियादिको वर्धन करनेवाले लोकको एक निःपृहव्यक्ति तृणके समान समझता है उसी प्रकार गर्वीपुरुष

भी स्वर्गापवर्ग सुखसाधनसमर्थ इस लोकको तृणके समान समझकर, वह, मानकषायके कारणसे सन्मार्गप्रवर्तक, धर्म, हितोपदेशक, गुरु, स्वजन, पुरजन, राजा, स्वयंका बाप, पुत्र, आदि किसीकी भी परवाह नहीं करता है, वह अनेक लोगोंका कोपभाजन बनता है, लोग उसे शाप देते हैं। राजा आदिकेद्वारा भी वह दण्डित होता है। इसलिए आत्मकल्याणको चाहनेवाले हे भव्य! इस गर्वका परित्याग कर, स्वभावसे सद्धर्ममार्गका आश्रय करो। तभी तुम्हारा हित होसकता है ॥ १२२ ॥

मनरहित दान

मनोऽन्तरेण यो दानं करोति स जडो जनः ।
भोगाशक्तो महाभाग्यः षंढोऽन्यथस्त्रीजनो यथा ॥ १२३ ॥

अर्थ—मनकी भावनाके विना जो दान करता है वह वस्तुतः मनुष्य नहीं है, जड है। उसकी हालत महान् भाग्यशाली होनेपर भी भोगनेमें असमर्थ श्रीमंतके समान व भोगनेकी इच्छा होनेपर भी नपुंसक स्त्रीके समान है ॥ १२३ ॥

मनो विनैव कुरुते दानं पात्राय यः पुमान् ।
शिलास्नानमिवाभाति सुवर्णकलशो यथा ॥ १२४ ॥

अर्थ—मनकी भावनाके विना जो पात्रके लिए दान देता है वह दाता सुवर्णकलशके समान है, अर्थात् सुवर्णकलश होनेपर भी स्वतः सुवर्णकलशके लिए उसकी उपयोगिता नहीं है और वह जड ही है। एवं शिलास्नानके समान उस दाताका दान निरुपयोग है ॥ १२४ ॥

मन-वचनरहितदान

यद्वचःकारितं दानं भाति तद्यदुकादिवत् ।
यथा तुकारकः मस्यो मनसा वचसा विना ॥ १२५ ॥

अर्थ—मन व वचनके बिना केवल दूसरोंके कहने से काय से ही जो दान करता है वह दाता उस चमचेके समान है जो परोसे जानेवाले रसायनों के स्वादको नहीं जानता है। जिस प्रकार तोल, मापके सेर वगैरे तुलनेवाली चीजोंके मोल को नहीं जानते उसी प्रकार उस दाताकी हालत है ॥ १२५ ॥

उपरोधादुपालभाद्भीतेः कायदानिनः ॥
संक्लेशाः पशवो भारवाहाः केचिद्यथा तथा ॥१२६॥

अर्थ—दूसरोंके अनुरोध से व दूसरे निंदा करेंगे इस भयसे, जो केवल काय से दान देते हैं वे सदा क्लेश को सहन करनेवाले, भारवहन करनेवाले बैल घोडे आदि पशुओंके समान हैं ॥ १२६ ॥

पात्रे शंपेव या भक्तिर्येषां दानं कृतं च तैः ॥
राजयोग्यगजा अश्वास्त एव स्युर्भवांतरे ॥ १२७ ॥

अर्थ—पात्रोंके प्रति बिजलीके समान क्षणिक भक्ति को रखकर जो दान देते हैं वे उत्तरभवमें राजाके लिए बैठने योग्य हाथी, घोडा आदि होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२७ ॥

भिन्नभाववृत्तवान

भिन्नभावाःक्षणे भूत्वा दानेऽगेनाकृते फलम् ।
स्त्रीभावे तुग्भवो भिन्ने यथान्याभसुतो भवेत् ॥१२८॥

अर्थ—यदि दान देते समय दाताने मनमें भिन्न भाव रखकर केवल कायसे दान दिया तो उसकी हालत ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि पुत्रोत्पत्ति के समयमें स्त्रीने यदि मनमें परपुरुष की भावना की तो वह पुत्र भी दूसरोंके समान ही होता है ॥ १२८ ॥

मनोवचोविना केचिद्दासंत कायदानिनः ।
संक्लेशार्तागजोऽश्वोष्ट्राः केचिद्भारवहा यथा ॥

त्रिकरणशुद्धिकी आवश्यकता

चित्ते भाग्यसमिच्छवोऽपि चरितैर्भ्राशयंत्युक्तिभि-
र्वृत्तैः के मनसा वचोभिरिह के वाचैव हृद्वर्तनैः ।
हृद्वृत्तैः कतिचिद्वचोभिरपि के वाग्वर्तनैश्चेतसा ॥
वाग्वृत्तैर्मनसापि भाग्यमपि यत् पुण्यं सुपुण्येच्छवः ॥१२९॥

अर्थ—संसारमें प्रत्येक मनुष्य भाग्यकी अभिलाषा करते हैं। परंतु कोई मनमें भाग्यकी इच्छा करते हुए भी अपने आचरणसे उस भाग्य को बिगाडते हैं। कोई अपने आचरणसे उसकी इच्छा करते हुए भी वचनोंसे उसकी बिगाड करते हैं। कोई वचनसे उसे चाहते हुए भी मनसे उस भाग्यको बिगाडते हैं। कोई हृदय व चारित्र इन दोनोंसे उसकी अपेक्षा करते हुए भी वचनसे उसको बिगाडते हैं। कोई वचनसे उसकी अपेक्षा करें तो भी मन व वर्तनसे उसकी बिगाड करते हैं। इसी प्रकार पुण्यकी अपेक्षा करनेवाले सज्जन पुण्यको चित्तसे चाहने पर भी अपने आचरणोंसे उसका तिरस्कार करते हैं। अर्थात पापमय वृत्तिको धारण करते हैं। कोई अपने आचरणसे पुण्यकी आकांक्षा करते हुए भी वचनसे उसका घात करते हैं। कोई वचनसे पुण्यकी अपेक्षा करें तो भी वे मनसे उस पुण्यकी हानि करते हैं। कोई मन व आचरणसे पुण्यकी अपेक्षा करते हुए भी वचनसे उस पुण्यका नाश करते हैं। कोई वचनसे उस पुण्यकी अपेक्षा करें तो भी मन व आचरण से उसको बिगाडते हैं। कोई वचन व आचरणसे उसकी अपेक्षा करते हुए भी मनसे उसको बिगाडते हैं। कोई मनसे उसकी अपेक्षा करते हुए भी वचन व आचरणसे उसका नाश करते हैं। और कोई मन, वचन व कायसे पुण्यका अर्जन करें तो वे मन, वचन व कायसे ही उसका नाश भी करते हैं। त्रिकरणशुद्धिसे विकल होकर जो भी पुण्यार्जन करें वह व्यर्थ है। त्रिकरणशुद्धिपूर्वक किए गए कार्योंसे ही यथार्थ पुण्यबंध व उससे सौभाग्य प्राप्त होता है॥१२९॥

+ त्रिकरणशुद्धिपूर्वकदत्तदान

करणत्रयसंशुध्द्या कृतं दानं फलं भवेत् ।
तद्वैकल्यात्कृतं दानं विधवाप्रसवो यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—मन, वचन व काय इन तीनोंकी शुद्धिसे जो दान दिया जाता है वह सचमुचमें फलकारी होता है । उसकी विकलतासे दिया हुआ दान व्यर्थ है । वह विधवाकी प्रसूतिके समान है ॥१३०॥

+ त्रिकरणशुद्धिदत्तदानफलमन्यैरुक्तम् ।

सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् ।
फलाय यद्यपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्पते ॥ १ ॥
न्यग्रोधस्य यथा बीजं स्तोकं सुक्षेत्रभूमिगं ।
बहुविस्तीर्णतां याति तद्वद्दानं सुपात्रगम् ॥ २ ॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु भुंजते स्वेप्सितं सुखम् ।
मानवाः पात्रदानेन मनोवाक्कायशुद्धितः ॥ ३ ॥
ते तस्मादेत्य जायते चक्रिणां चार्द्धचक्रिणः ।
इक्ष्वाक्वादिषु गोत्रेषु पात्रदानभवा नरा ॥ ४ ॥
फलानां यावती वृद्धिस्तावती कौमुदीं विदुः ।
लोकस्यार्पयते त्यागं सतामिव निदर्शयत् ॥ ५ ॥
संपदस्तीर्थकर्तृणां चक्रिणामर्द्धचक्रिणां ।
भजते दानिनं सर्वाः पयोधिमिव निम्नगाः ॥ ६ ॥
केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।
आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ ७ ॥
तुरगशतसहस्रं गोकुलं भूमिदानं,
कनकरजतपात्रं मेदिनी सागरांता ॥
सुरयुवतिसमानं कोटिकन्याप्रदानं ॥
न भवति च समानं चान्नदानं प्रधानम् ॥ ८ ॥
कायास्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥ ९ ॥
तद्भोजनं यन्मुनिभुक्तशेषं स बुद्धिमान्यो न करोति पापम्
तत्सौहृदं यत्क्रियते परोक्षे दंभैर्विना यः क्रियते स धर्मः ॥

दाता वेश्याके समान हो

दत्वा द्रव्याय करणत्रयं प्रीतिं प्रकुर्वते ।
वारमुख्या यथा लोके संतः पुण्याय चार्हते ॥ १२१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें वेश्या स्त्री द्रव्यकेलिए अपने मन, वचन, व कायको अपने विटपुरुषको समर्पण कर प्रेम करती है, उसीप्रकार पुण्यार्जनके लिए सज्जन दाता अपने त्रिकरणोंको पात्रको अर्पण कर भक्ति करें ॥ १२१ ॥

पात्रानुसार द्रव्यपरिणमन

किंपाके विषतां सदा कटुकतां फोलेऽपि माधुर्यता-।
मिक्षावम्लकुजेऽम्लतां लवणतामंभोनिधौ तिक्तता ॥

ऋषीणां भुक्तिशेषस्य भोजने स नरो भवेत्
तुष्टिपुष्टिबलारोग्यदीर्घायुःश्रीसमन्वितः ॥ ११ ॥
सद्यः प्रीतिकरं दानं महापातकनाशनं ।
अभयतोयसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥ १२ ॥
पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि ह्यन्नमापः सुभाषितं ।
असुखं रत्नपाषाणे रत्नशब्दो निरर्थकः ॥ १३ ॥
भुक्तमसाक्षिकमफलं श्रुतमफलं दुर्विनीतस्य ।
कृपणस्य च धनमफलं यौवनमफलं दरिद्रस्य ॥ १४ ॥
बालेषु जीर्णातुरदुर्बलेषु भ्रष्टाधिकारेषु निराश्रयेषु ।
राजाभियुक्तेष्वपरायणेषु येषां कृपा नास्ति न ते मनुष्याः॥
योऽन्तस्तत्त्वपरव्यथाविघटन जानात्यसौ पंडित-।
संसारोत्तरणे विवेकपटुता यस्यास्त्यसौ पंडितः ॥
तत्त्वं शाश्वतनिर्मलं च सनयं जानात्यसौ पंडितः ।
शेषाः कामविडंबिना विषयिणः सर्वे जनाः खंडिताः ॥१६
य सत्पात्रसुभुक्तिशेषममृतं भुंजीत तस्याऽनिशम् ।
तुष्टिः पुष्टिररोगतातिबलता दीर्घायुरंहःक्षय. ॥
संपत्पूरितता गुणैरधिकता रत्नत्रयोज्जृंभता ।
स्यात्सौख्यं शुभभावता निपुणता निर्वाणसंपत्क्रमात्॥१७॥

तिक्तद्रौ च कषायके तुवरजां यद्यद्गुणं तद्गुणा- ।
नप्येकांबुजलं प्रयाति च यथा पात्रेषु दत्तं धनम् ॥१२२॥

अर्थ—जिसप्रकार एक ही कूएका मिष्टजल किंपाकवृक्षमें जाकर विषरूप, निंबके वृक्षमें कडुआ, ईखमें माधुर्य, इमलीके वृक्षमें खट्टा, समुद्रमें खारा, सौंठके वृक्षमें तीखा, कषायले वृक्षमें कषाय आदि जो जिसका जो गुण हो धारण कर लेता है। इसीप्रकार दाताके द्वारा दिये गये द्रव्य जैसा पात्र हो उस प्रकार के गुणोंको धारण करता है। इसलिए विवेकी दाताको चाहिये, कि वह पात्रभेदोंको अच्छीतरह जानकर दान देवें ॥ १३२ ॥

ग्रैष्मार्कतीव्रसंतापाद्यथा पद्माकरक्षयः ।
लोभोऽल्पोऽथ व्ययो भूरिर्दानं कुर्यात्सतां बहु ॥ १३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्मीके दिनोंमें सूर्यके उष्ण किरणोंसे सरोवर वगैरे सूख जाते हैं, उसीप्रकार सातिशय पुण्यके किरणोंसे लोभरूपी सरोवर सूख जाता है। इसलिए अधिक दान देकर पुण्यकी अर्जना करना चाहिये ॥ १३३ ॥

शूद्रान्नत्याग

शूद्रान्नं कुलनाशकं बहुवदन्विप्रोऽप्यकृत्पुण्यहृ-
द्दुःपापवक्त्रमशेषलोकरुग्णिकासार्द्रस्वभावोपमं ।
क्षेत्रग्रामजलाशयोपममिदं स्पृष्टं स्वर्नार्चितृहम्
नो सेव्यं यदि सेव्यसेवकजनो विप्रः कथं जायते ॥१३४॥

अर्थ—संपूर्ण लोकको धर्माचरणमें स्थिर रहनेके लिए उपदेश देनेवाला ब्राह्मण कभी शूद्रान्न, जल, तैल, घृत, नवनीतादिकका भक्षण न करें। यह कुलनाशक है। पापका संचय करनेवाला है, पुण्यको नष्ट करनेवाला है, वेश्याके मुखके समान अपवित्र है, उच्छिष्ट पात्रके

समान है, गामके पासमें रहनेवाले शौचोपयोगी जलाशयके समान है, उनके द्वारा स्पृष्ट गृह भी ब्राह्मणके लिए प्रवेश करने योग्य नहीं है । यदि उपर्युक्त बातोंका वह ब्राह्मण सेवन करे तो वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? ॥ १२४ ॥

ब्राह्मण्यस्य क्षयं विचारयसि जीवाय सर्वं न्यग्गतिं ।
किं नांगाय धनाय संचरसि संरधायां न्य संवर्तसं ॥
किं कर्मास्ति न तस्य नीचनृपतेः सेवां करोप्यरिह किं ।
नायं शूद्रगृहान्नभुक्तिरपदा पुण्याय किं योगिनाम् ॥१२५

अर्थ—सच्छूद्रके घरमें आहार लेनेसे ब्राह्मणत्वका नाश होता है और जीवको अक्षय नीचगतिकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना भूल है। हे द्विज ! तू नीच राजाकी सेवा करके शरीरपोषण करता है, धन कमाता है, ऐसे कर्म करनेसे अशुभ कर्म बंधनेसे क्या तुझे दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होगी ? अवश्य होगी । अतः सच्छूद्र का आहार लेनेमें दोष नहीं है । क्यों कि वे सच्छूद्र त्रिवर्णमेंसे ही उत्पन्न हैं। अतः आहारदान योग्य समझ कर मुनिजन उनके घरमें शुद्ध आहारको लेते हैं । और वह आहार लेनेवाले मुनिवर्यको और देनेवाले सच्छूद्र को पुण्यके लिए कारण होता है। पापकारण नहीं होता है ऐसा समझना चाहिए ॥ १२५ ॥

विप्रं दुर्गतिगामिनं बुधजना नीचं ब्रुवंति ध्रुवम् ।
नीचं सद्गतिगामिनं द्विजवरं पुण्याधिकं भूमिपं ॥
पापाचाररतं द्विजं परिहरन्त्यत्रैव तत्संगतिं ।
कर्माण्येव विनाशयंति मुनयः शूद्रैस्सुपुण्यार्थिभिः॥१२६॥

अर्थ—अनेक दुराचरणोंसे युक्त ब्राह्मणको बुद्धिमान् लोग नीच कहते हैं, वह इसी भवमें नीच होता है एवं आगेके भवमें भी नीच गतिको ही जाता है । इसी प्रकार सदाचरण, धर्माभ्यास आदिमें रत

ऐसे शूद्रको लोग प्रशंसाकी दृष्टिसे देखते हैं। इतना ही नहीं वह आगामी भवमें ब्राह्मण होगा। या सातिशय पुण्य के धारक राजा होगा। पापाचरण मग्न ब्राह्मण को इसी भवमें गुरुजन, बधुजन बहिष्कृत करते हैं जिससे उसे सत्संगति से वंचित होना पडता है। पुण्यकी अपेक्षा करनेवाले व्रतादि शुभ आचरणमें मग्न सच्छूद्र मुनिगणोंको आहार देकर अपने कर्मों को नष्ट करते हैं॥ १३६॥

विप्रा धर्मचितोऽधना नृपतयश्चोरा भवंति स्म ते।
वैश्यास्तत्र नृपद्वयाय ददते वित्तानि यत्नासते॥
शूद्रा दानपरा जिनोत्सवकरास्सद्धर्मधौरेयका–।
स्तेषां सद्मसु भुंजतेऽत्र मुनयो निर्मुक्तबंधक्रमाः॥१३७॥

अर्थ—कालके परिवर्तन से ब्राह्मण लोग दरिद्री होगये, क्षत्रिय दुष्टनिग्रह शिष्टपरिपालनके बजाय दूसरोंके धनको अन्यायसे अपहरण करने लगे, अतएव चोर बन गये। वैश्यजन जहां रहते हैं वहां अपने न्यायोपार्जित वित्तसे देव धर्मके लिए द्रव्य खर्च करते हैं, परंतु सच्छूद्र सदा दानतत्पर रहते हैं। अतएव उनके घरमें मुनिगण आहार लेते हैं॥ १३७॥

चातुर्वर्ण्यमहत्व

निधिदशरुद्रदिवाकरवर्णान्वितकनकसन्निभाश्चत्वारः॥
शूद्रोऽन्यक्षत्रियविप्राः स्युर्जिनमुनींद्ररक्षणयोग्याः॥ १३८॥

अर्थ—नवनिधि, दश, एकादशरुद्र, बारह सूर्य इन वर्णोंसे युक्त सुवर्णके समान तेजःपुंज रहनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सच्छूद्र जिनमुनियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। इतर नहीं॥ १३८॥

यो विप्रः स सुहृत्सुधीः सुचरितो ज्ञानी पुमान्ब्राह्मणः।
संसारार्णवतारकोऽनुपहतस्त्रैरत्नसंपच्चिमान्॥

भूदेवः सुतपोऽन्वितोऽप्यघहरः स्यादग्रजन्मा तत-।
स्त्रैलोक्याधिपपूजितांघ्रिकमलो देवोऽद्वितीयोऽनघः ॥१३९॥

अर्थ—जो निर्दोष सम्यक्त्वको धारण करता है वह विप्र कहलाता है, और जो बुद्धिमान् सम्यक्त्वके साथ व्रताचरण भी करता है वह ब्राह्मण कहलाता है। जो संसाररूपी समुद्रके लिए बडवाग्निके समान है, निर्दोष रत्नत्रयको धारण करता है वह भूदेव है। उच्च तपोंको धारण करनेवाला जो पापोंको नाश करता है, आगेके जन्ममें वह तीनलोकके द्वारा पूजितचरणकमलवाला पूज्य देव भी होता है ॥१३९॥

स्वर्गच्युतोंका लक्षण

निश्शंकता निर्भयतातिवाग्मिता।
+ निर्भंगता वादिजनास्यमूकता ॥
संघे नतिः साधुपदेषु सेवना।
रागो गुणेष्वेव दयांगिपूत्तमा ॥ १४० ॥

सत्संगो जिनपूजनं गुरुनतिर्दानप्रसंगः क्षमा।
भूतिर्धार्मिकतर्पणं स्वजनसंपूजातिमेधामतिः ॥
आरोग्यं कविता वचो मधुरता स्वप्नेषु तथ्यं रमा-।
द्वार्दं लक्ष्म भवेत्कलानिपुणता स्वर्गच्युतानामिदम् ॥१४१॥

अर्थ—शंकाराहित्य, निर्भयता, जनमनोहर भाषण, भंगरहितवृत्ति, वादिजनोंको मूक बनानेका सामर्थ्य, जैनसंघमें विनय, साधुजनोंके चरण कमलोंकी सेवा, गुणोंमें अनुराग, प्राणियोंके प्रति दया, सत्संगति, जिनेंद्रकी पूजा, मातापिता गुरु आदिका विनय, दानविधानका श्रवण, क्षमा, संपत्तिप्राप्ति, धार्मिकजनोंका सत्कार, स्वजनोंका आदर, कुशाग्रबुद्धि, आरोग्य, कवितागुण, वचनका माधुर्य, स्वप्न

+ निर्भंगता वादिजनोक्तिभंगिता इति पाठांतरम् ॥

देखनेपर फलकी निश्चिति, सातिशय सपाचि, कलानैपुण्य आदि बातें जिन व्यक्तियों में पाई जाय वे स्वर्गसे च्युत होकर आये हैं ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् स्वर्गच्युत जीवोंके ये लक्षण हैं ॥ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ *

दाताओंका परिणाम

दाक्षिण्याद्र्पवादतः शकुनतो मन्त्रास्तुमन्त्रौषधा-
चाटूक्तेः परिचर्यताऽनुतपनान्मानादुदासीनतः ।
आलस्याद्धुपरोधवर्णनयशोद्धुप्यपक्षपाताज्जनाः
खेदात्पक्षनिमित्ततश्च ददत पात्राय दानानि ते ॥१४२॥

अर्थ—लोकमें अनेक प्रकारके दाता रहते हैं। परिणाम शुद्ध रखकर केवल पुण्यार्जन करनेके लिए दान देनेवाले बहुत दुर्लभ हैं। कोई पात्रोंके वचन उल्लंघन न कर सकनेकी लिहाजसे दान देते हैं। कोई दूसरोंके अपवादक भयसे दान देते हैं, कोई शकुनके निमित्तसे तो कोई मंत्र यंत्राराधनाके निमित्त, कोई प्रियवचनके निमित्तसे, कोई सेवाकी अपेक्षासे, कोई मानसे, कोई औदासी-यभावसे, कोई आलस्यसे, कोई दूसरोंके दबावसे, कोई मिथ्यापक्षपातसे, कोई बडे दानियोंकी श्रेणीमें नाम लिखानेके लिए अर्थात् ख्यातिकी अपेक्षासे और कोई मनमें दुःखी होते हुए दान देते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकारके अभिप्रायोंको रखकर दान देते हैं ॥ १४२ ॥

* अनुलोमो विनीतश्च दयादानरुचिर्मृदुः।
सहसा मध्यमो यस्स मानुष्यादागतो नरः॥
बह्वाशी नव मतृष्णे मायावी च क्षुधाधिकः।
स्वप्नमूढोऽलसश्चैव तिर्यग्योन्यागतो नरः॥
विरुद्धता बन्धुजनेषु नित्यं सरोगता मूर्खजनेषु सङ्गः॥
अतीव रोषः कटुका च वाणी नरस्य चिन्हं नरकागतस्य॥

तिष्ठत्यंहस्तरक्षौ प्रविशति हृदि किं धर्मगौस्तत्प्रविष्टे ।
तस्मिन्मृत्युर्भवेत्तस्य च बलवदघद्वीपिनो धर्मगाश्च ॥
हत्वा न त्वां दयंते किमिव निजसुतान्सर्वथा भक्षयंति।
ज्ञात्वा ते धर्मगावस्तदुपजनसमा वीक्ष्य धावंति दूरात् ॥१४३॥

अर्थ—पापरूपी व्याघ्रके हृदयमें निवास करते हुए धर्मरूपी गाय उस स्थानमें प्रवेश कर सकती है ? कभी नहीं । यदि वह प्रवेश करे तो उसकी मृत्यु अवश्यमेव हो जायगी । गाय यदि व्याघ्रोंकी गुफामें प्रवेश करे तो क्या वे उस गायको न खाकर अपने बच्चोंके समान संरक्षण करते हैं ? कभी नहीं । वे खायेंगे ही, इस बातको जानकर वे गाय उन व्याघ्रोंकी गुफाओंको देखकर दूरसे जिस प्रकार भागती है उसी प्रकार पापी हृदयको देखकर धर्मरूपी गाय दूरसे ही भागती हैं ॥ १४३ ॥

द्वारं संश्रित्य दातुः प्रतिदिनमधमाः स्वस्थितिं संविहाय ।
म्लानास्याः कुंचितांगा विकृततनुवचोगद्गदध्वानकंठाः ॥
दीनांक्तीः संवदंतः कुलिशनिनदवचंडवाचो निशम्य ।
व्योमारमानो भवन्तः प्रतिफलितफलाः कुर्वते किं किमाशाः॥

अर्थ—कोई कोई याचकजन दाताओंके घरके पास पहुंच कर अनेक प्रकारसे याचना करते हैं । उस समय अपने मुखको म्लान कर, शरीरको सिकुड़ाकर, अपने वचनमें दीनता व्यक्त करते हुए, गद्गदकंठसे तोतले शब्दोंसे याचना करते हैं। दाताने यदि मेघगर्जना के समान क्रोधभरे वचनोंसे फटकारा तो भी सुन लेते हैं । आशा बड़ी बुरी चीज है, उससे मनुष्य क्या क्या नहीं करता है ॥ १४४ ॥

याचकत्व महाकष्ट है

कष्टं देहि ददामि दातृवचनं कष्टं न कष्टं ददे।
कष्टं याचितुराशये बहुतरः क्रोधाग्निरुज्जृम्भते ।

स्निग्धामत्र शिखीव दातृहृदये नीतिस्त्वमोघेत्यहो (?)
होकैनैकपुरं क्षयेन्न कुरुते पापस्य किं किं फलम् ॥१४५॥

अर्थ—लोकमें दूसरोंके पास जाकर "देहि" ऐसा कहना कष्ट है देता हूं यह कहना भी कष्ट है, नहीं देता हूं कहना भी कष्ट है। दाता यदि देनेके लिए संकोच करें तो याचक अनेक प्रकारके आशयोंको प्रकट करते हुए याचना करता है, तब दाताकी क्रोधाग्नि बढती है। जिस प्रकार अग्निपर तैल पडनेपर वह प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार दाताका क्रोध बढता है। एक ही व्यक्तिसे एक नगर नष्ट होता है, इस प्रकारकी कहावत है वह सत्य है, पापका फल क्या क्या नहीं होता है ? ॥ १४५ ॥

पूर्णे पूरितमानसे, स्थितधृतिश्रीर्हीयशोबुद्धयो ।
देव्यः पंच वसंति यस्य स नरो दातैव नो याचिता ॥
शुष्कं तच्च यदाभवद्यदि तदा निर्यांति ता देहि वा– ।
ग्द्वारेऽरुंधति दातरीह कुटवत्पापं शिखी स्यात्तयोः ॥१४६॥

अर्थ—जिसप्रकार मानससरोवरमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि इस प्रकार पांच देवियोंका निवास है, उसी प्रकार दाताके मनरूपी मानससरोवरमें धृति (धैर्य) श्री (संपत्ति) ह्री (लज्जा) यश (कीर्ति) बुद्धि (ज्ञान) नामक पांच देवियां निवास करती हैं। वह दाता हमेशा दाता ही बना रहता है, याचक नहीं रहता है। जब वह मानस सरोवर किसी कारणसे शुष्क होजाता है तो वे देवियां निकलजाती हैं, इसी प्रकार दाताके हृदयमें दानबुद्धि न रहे तो उपर्युक्त पंच देवियां भी निकल जाती हैं। यदि उस समय दाताने उनको रोकनेका प्रयत्न नहीं किया तो अग्नि जिस प्रकार मकानको जलाती है उस प्रकार दाता व पात्रको पापरूपी अग्नि जलाती है। सारांश यह है कि दाताको सदा अपने हृदयमें धृति आदि गुणोंको धारण करना चाहिये ॥ १४६ ॥

दान मौनसे देवें

के कुप्यंति शपंति वैरमनिशं कुर्वंति चास्यालयम् ।
प्लोषामः प्रभुणापि मंदिरमिदं निर्णाशयामःश्रियम् ॥
केनोपायशतेन के वयमिमं मार्गे कपामस्ततो ॥
नोवत्वा मा वद मा मनोगतधनं मौनेन देयं सदा ॥१४७॥

अर्थ—दुनियामें दान देनेके वचनको देकर फिर उस वचनका भंग करना यह महान् कठिन कार्य है। उस व्यक्तिका कोई विश्वास नहीं करते हैं। कोई उसके प्रति क्रोधित होते हैं, कोई गाली देते हैं, कोई सदा उसके साथ वैर बांधते हैं, कोई उसके घर को जलानेकी बात कहते हैं, कोई स्वामीके द्वारा उसके घरको नष्ट करानेकी बात कहते हैं। इतना ही क्यों ? हजारों उपायोंसे उस व्यक्तिको कष्ट देनेके लिए प्रयत्न करते हैं। इसलिए दान देनेके धन को एकदम अविचारित होकर नहीं बोलना चाहिये। बोलनेके बाद नकार नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान् दाताको उचित है कि वह जो कुछ भी दान देना चाहें मौनसे ही देवें ॥ १४७ ॥

दानरहितसंपत्तिकी निरर्थकता

पुण्यपुत्ररहितस्य जीवितं, ज्ञानदृष्टिरहितस्य संयमाः ।
दानमानरहितस्य संपदोऽरण्यपुष्पमिव निष्फलाः स्युराः ॥

अर्थ—पुण्यवान्, धर्मात्मापुत्रसे रहित मनुष्यजीवन, ज्ञानदृष्टि अर्थात् विवेकसे रहित संयम* और दान व सन्मानसे रहित संपत्ति, ये सब अरण्यपुष्पके समान व्यर्थ है। हा ! मनुष्य विवेकसे काम नहीं लेता है, और अपनी संपत्तिका योग्य स्थानमें उपयोग नहीं करता है ! आश्चर्य है ! ॥ १४८ ॥

---

* व्रतित्वमप्रमादित्वं सदयत्वं सुतमता ।
अनक्षेच्छानुवर्तित्वं संतः प्राहुस्सुसंयमं ॥

मानवीयमनोवृत्ति

देहसुखान्यनुभवितुं स्वीकृतदुर्ग्रंथमवितुमर्थमशेषं ।
दातुं ताम्यति नैपरस्यागो दण्डाय परिणयाय निजादेः॥ १४९॥

ऋणानुबंधात्परवित्तभुक्तिर्बलागतग्रंथसुरक्षणाय ।
व्ययत्यजस्रं सफलं धनं च क्लिश्नाति पुण्याय जडो जनोऽयम् ॥

अर्थ—अज्ञानी मनुष्योंकी मनोवृत्ति इस प्रकार रहती है कि वे अपने देहसुखको अनुभव करनेके लिए, अपने पासमें स्थित स्त्री, पुत्र, घर, वाहन आदि परिग्रहोंके संरक्षणके लिए चाहे जितना धन खर्च करते हैं, उनको उसमें जरा भी दुःख नहीं होता है, अपने लिए किसी अपराधमें दण्ड हुआ तो लाखों रुपये देनेके लिए तैयार रहते हैं। अपने व अपने पुत्रोंके विवाहमें लाखों रूपये फूंक देते हैं। ऋणानुबंधसे दूसरोंके द्रव्य आनेपर भी उसे बलात्कारसे प्राप्त परिग्रहोंके संरक्षणकेलिए ही लगाते हैं। इस प्रकार संसारवृद्धि के कार्यमें व्यय करते हुए उनको जरा भी खेद नहीं होता। अपितु धर्मकार्यके लिए, पुण्यार्जनके लिए, दान देना पडे तो बडा दुःख होता है। ॥ १४९ ॥ १५० ॥

दूसरोंको कर्ज देनेवाला.

यावत्पत्रं वसति निलये यस्य तस्याधमर्ण-
स्तावत्पुत्राः वृषहयखराभृत्यदासीः स्त्रियःस्युः ॥
तस्मिन्भिन्ने सपदि मरणं यांति ते मृत्युकाले ।
पत्रं दद्यात्सुकृतिपुरुषस्तानि पत्राणि भिंद्यात् ॥ १५१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंको कर्ज देता है; उस कर्ज लेनेवालेसे जो पत्र वगैरे लिखालेता है, वह पत्र जबतक अपने घरपर मौजूद हो तब अपनेलिए पुत्र, कलत्र, दासी, दास, बैल घोडा, आदि हरतरहकी

समृद्धि होती है। अर्थात् वह आनंदसे रहता है। परंतु जब वह पत्र फट जाय या छिन्न भिन्न होजाय तो उसका मरण ही होजाता है। कर्ज लेनेवाला पुरुष मरण सन्मुख हो तो धर्मात्मा सज्जन उसे उस ऋण पत्रको वापिस देवें, नहीं तो फाड डालें ॥ १५१ ॥

परार्थापहरणफल

येऽर्थान्यस्य हरंति तस्य सकला ग्रंथा भवे वाग्रिमे ।
भृत्यास्तेस्यु ऋणागता निभृतयः सेवास्सदा कुर्वते ॥
सत्पुण्यागतजंतवः सुकृतिनां पूतं वृषं स्वं कुलम् ।
रक्षंतीहशभेदवेदि विबुधोऽस्यार्थं त्रिधा वर्जयेत् ॥१५२॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके धनको अपहरण करते हैं वे इस भवमें या अग्रिम भवमें उस धनके स्वामीके यहां भृत्य होकर पैदा होते हैं, चेतन परिग्रह होकर उत्पन्न होते हैं। उनको तबतक उनकी सेवा करनी पडती है जबतक कि वे ऋणमुक्त हो जांय। पूर्वजन्मके पुण्यसे संपत्तिको पाकर जो उत्पन्न होते हैं वे अपनी संपत्तिसे सज्जनोंकी, अपने पवित्र कुलकी व धर्मकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार पुण्य व पापोंके विभागको समझकर विवेकी पुरुष परधन अपहरण करनेके कार्यको मन, वचन व कायसे वर्जन करें ॥ १५२ ॥

नीचव्यवहारत्याग

नीचस्यार्थं न गृह्णीयाद्दद्यान्नीचाय नोत्तमः ।
गृह्णीयान्यग्धनं नीच उत्तमस्यार्थमुत्तमः ॥ १५३ ॥

अर्थ—चांडालादि नीचोंको उत्तम पुरुष कर्ज न देवें एवं उन नीचोंसे कर्ज लेवें भी नहीं। वे चांडालादि अपने समान जातियोंसे ही इस प्रकारका व्यवहार करें, एवं उत्तम पुरुष उत्तम जातिके लोगोंसे ही व्यवहार करें ॥ १५३ ॥

ऋणनीति

तीव्रे गदेऽधमर्णस्य पत्रं भित्वा ददत्सुजा ।
गृह्णीयाल्लिखितं साधु सर्वनाशो विपर्ययात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—जिसने कर्ज लिया है वह मनुष्य तीव्र व असाध्य रोगसे पीडित हो तो उसके ऋणपत्रको फाडकर उसके पुत्रसे दूसरा पत्र लिखा लेना चाहिये । ऐसा न करें तो सर्व नाश होता है ॥ १५४ ॥

ऋणदोष

श्रुत्वोत्तमर्णवचनं मनुजस्तरक्षोः
श्रृण्वन्ध्वनिं मृग इवाविरतं स्खलद्वाक् ।
मूर्च्छन्ससन्निपतनोत्थितलक्षणः स्या–
द्विद्वान्विमुक्तपरवस्तुरिहापि पूज्यः ॥ १५५ ॥

अर्थ—जिसने किसीसे कर्ज लिया हो तो कर्ज देनेवालेके वचन को सुनकर वह भयभीत होता है, जिस प्रकार कि व्याघ्रकी ध्वनिको सुनकर हरिण भयभीत होता है, उसी प्रकार वह भी भयभीत होता है । उसके सामने बोलते समय स्खलित वाणीसे बोलता है । मूर्च्छित होता है, विशेष क्या ? सन्निपात ज्वरोंके लक्षण ही प्रकट होते हैं । ऐसी अवस्थामें दूसरोंसे कर्जा लेनेका जो त्याग करता है वही सचमुचमें विद्वान् है और पूज्य है ॥ १५५ ॥

मायाचारदोष.

यत्रास्ति वंचना तस्य न रत्नायार्थलाभता ।
विश्वसंति न सर्वे तं, पापवृद्धिः परा भवेत् ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिसके हृदयमें मायाचार या वंचकत्वभाव मौजूद है उसे कभी रत्नत्रय, पुण्य व अर्थलाभ नहीं होसकता है । उसे दुनियामें कोई भी विश्वास नहीं करते । और उसके पापकी वृद्धि होती जाती है ॥ १५६ ॥

दरिद्र

स्मृत्वा चेतसि गोपतिः क्षुदितवान् संपन्नसस्यां धरां।
गत्वा तत्र विचारयन्निव सदा वर्तेत योऽत्रीवके ॥
ग्रंथो दुःखकरो भवश्च मदनं नास्य व्ययायागमत् ।
काथिन्नो ऋणदोऽधमर्ण इह चान्यार्थान्हरेर्युर्भिपात्॥१५७॥

अर्थ—जिसप्रकार भूखसे पीडित बैल किसी सस्यसंपन्न खेतको स्मरणकर जाता है व उस खेतको खा डालता है एवं सदा इसी प्रकारके विचार में रहता है कि मुझे और कहां खेत मिलेगा। इसी प्रकार दुःखकर परिग्रहोंको एकत्रित करनेवाला एवं उसके संरक्षण व व्ययकेलिए धन जिसके पास नहीं है ऐसा दरिद्र सदा अनेक प्रकारकी बहाना बाजीकर दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करता है ॥ १५७ ॥

विभावभावसे युक्त युवती

श्रुत्वा पात्रमिहागतं च तरुणी पत्युर्वचस्तत्क्षणात् ।
स्फूर्जंती खलु वज्रवत् प्रसविनीव्याघ्रीव सा स्फोटिनी॥
घुष्टा शूलवतीव पातितधनेवाक्रंदिनी संमुखं ।
राहुग्रस्तरवींदुबिंबमिव निस्तेजोकरं निष्प्रभम् ॥ १५८॥

अर्थ—घरमें यदि क्रूर परिणामसे युक्त पत्नी हो तो वह पतिके द्वारा पात्रके प्रतिग्रहणके वचनको सुनकर एकदम क्रोधित होती है, बिजलीके समान गर्जती है, प्रसविनी शेरनीके समान स्फोटन करती है, शूलवतीके समान शब्द करती है। अपने धनके खोए हुए के समान रोती है, विशेष क्या ! उसका मुख राहुग्रस्त चंद्र व सूर्यबिंबके समान निस्तेज हो जाता है ॥ १५८ ॥

धर्मविध्वंसिनी स्त्री

रक्ताक्षी कुपितानना हतशिरा या विक्षिपंती हठात् ।
पुत्राद्यर्धचयं नटत्पदयुगा पात्रं शपंती क्रुधा ॥

साऽस्य स्यान्मृतिरथ तस्य सुकृतं निर्मूलयंती वधूः ।
ज्येष्ठा दुर्गतिदायिनी गुणहरी सद्धर्मविध्वंसिनी ॥१५९॥

अर्थ—इसी प्रकार और एक प्रकारकी स्त्री पात्रके आगमनको सुनकर आंखे लाल करलेती है, क्रोधसे मुखको फुला लेती है, शिर पीट लेती है, जबर्दस्ती बच्चे व बरतन वगैरेको इधर उधर फेंकने लगती है, चलते समय नाचनेके समान पैरके शब्द जोर-जोरसे करती हुई चलती है, इतना ही क्यों अनंतानुबंधी क्रोधके उदयसे उन मुनिराजों को खूब गालियां देती है। वह स्त्री सचमुचमें स्त्री नहीं, पतिके लिए मृत्युके समान है, वह आज पतिके संपूर्ण पुण्यको नष्ट करती है, ज्येष्ठा है, दुर्गति प्रदान करनेवाली है, समस्त गुणोंको नाश करनेवाली है एवं सद्धर्मको विध्वंस करनेवाली है ॥ १५९ ॥

न क्षीरं दधि नो न तक्रममलो नो तंडुलो नो घृतं ।
नो शाकं द्विदलं न तैललवणं नो नोपणं नेंधनम् ॥
भांडं नाभिनवं गृहं न शुचि न स्नाताहमन्या न मे ।
सामग्र्यं च विना करोमि गुरवे पाकमयत्नं कथम् ॥१६०॥

अर्थ—कोई कोई स्त्रियां आहार दान देनेकी इच्छा न हो तो बहानाबाजी करती है। घरमें दूध नहीं, दही नहीं, छाछ नहीं, अच्छे चावल नहीं, घी नहीं, शाकभाजी नहीं, दाल वगैरे नहीं, तेल नहीं, नमक नहीं, मिर्च नहीं, लकडी नहीं, नवीन बरतन नहीं, घर भी साफ सुथरा नहीं, मैंने भी स्नान नहीं किया, मुझे मदत करनेवाली दूसरी कोई नहीं, इसके अलावा मुझे योग्य सामग्री भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें मैं पात्रोंको आहारदान किस प्रकार करूं। इत्यादि प्रकार से कहती है ॥ १६० ॥

बहानाबाजीका प्रकार

भर्ता च गतः पुरे न नपरों न द्रव्यमेकं गृहे ।
वित्तं मे न करे पुरेऽत्र ऋणदो नैकात्र यात्रागते ॥

एका साश्रुरहं वचस्ययवती मायाविनी चिंतिता।
गेहं शून्यमिदं वपुः स्वहृदयं क्लिश्नाति लुब्धांगना॥१६१॥

अर्थ—और कोई स्त्री इस प्रकार बहाना करती है कि मेरे पति ग्राम में नहीं हैं, पुत्र भी नहीं है, मेरे लिए सहायता करनेवाले दूसरे कोई भी नहीं है, घरमें कुछ भी सामान नहीं है, मेरे हाथमें पैसा नहीं, यहां कोई उधार देनेवाला भी नहीं है, पात्रके आनेपर यहांपर कोई नहीं है, हा! मेरा दुर्दैव! इस प्रकार कहती हुई मायाचारसे लोभी स्त्री अपने हृदयमें संक्लेश परिणामको करती हुई रोती है। उसका हृदय व शरीर सब कुछ शून्य है॥ १६१॥

पात्रानादरफल

गृहागतं च यत्पात्रं यस्तिरस्कुरुते यदा।
आजन्मत्रितयं तेन दुःखमेवानुभूयते ॥ १६२ ॥

अर्थ—घरपर आये हुए पात्रका जो तिरस्कार करता है, वह तीन जन्मतक तीव्र दुःखका अनुभव करता है॥ १६२॥

गर्भिणी अनादर करें तो

गृहागतं पात्रमवेक्ष्य गर्भिणी।
नाथ स्ववारो वदते न निष्ठुरात्॥
तस्मिन्गते स्यात्स सुतो दिवन्धना।
जन्मत्रये दुःखमिहानुभूयते॥ १६३॥

अर्थ—घरपर आये हुए पात्रको देखकर गर्भिणीको हर्ष होना चाहिये। उसे विचार करना चाहिये कि मेरे व गर्भस्थ बालकके शुभचिह्नके रूपमें ये मुनिराज आये हैं। ऐसा न कर जो गर्भिणी उन ऋषियोंका तिरस्कार करती है, उसका बालक असंज्ञी, अंधा, पागला, बहरा आदि होकर उत्पन्न होता है। वह स्वतः तीन जन्मतक दुःख अनुभव करती है॥ १६३॥

अर्धअन्नदान

सद्द्रव्याधान्नदात्री या पात्रेभ्यः सा तु निर्धना ।
इहालाभा व्याधिता वा क्लिष्टचित्ता परत्र च ॥ १६४ ॥

अर्थ—घरमें भरपूर आहारद्रव्य व धनके होते हुए भी जो स्त्री साधुओंको अर्ध पेट ही आहार खिलाकर भेजती है, वह इस भवमें ही दरिद्री हो जाती है, उसको प्राप्त होनेवाले लाभ नहीं मिलते । अनेक प्रकारके रोगोंसे पीडित होती है, परभवमें भी अनेक दुःखोंको भोगती है ॥ १६४ ॥

क्रोधदत्ताहार

स्वकीयबंधून्परितर्प्य वाग्भिः पात्रस्य तृप्तिं च न कुर्वते ये ।
क्लिष्टाशयाःस्यु सततं दरिद्राः क्रोधेन काचिन्नरकं प्रयाता ॥
अर्थ—अपने बंधुवोंको उत्तम वचन व आहारादिकसे, एवं साधुवोंको मृदुवचन व आहारोंसे जो तृप्त नहीं करते हैं वे हमेशा दुःखी व दरिद्री ही रहते हैं । क्रोधसे किये हुए किसी भी कार्यका फल अच्छा नहीं हुआ करता है, पात्रके प्रति क्रोध करनेसे एक स्त्री नरकको गई है ॥ १६५ ॥

क्रोधेनोपकृतं च कार्यमखिलं व्यर्थं यथा जायते ।
क्षेत्रे मृष्टसुप्तबीजनिकरः संपद्यते नो यथा ॥
ज्ञेनद्वेपकृतं च दानमपि सद्वेष्टा यथा शर्करा ॥
कारुण्यार्द्रमनःकृतं च सकलं सार्थं भवेच्छाश्वतम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—हे भव्य ! जिसप्रकार जलेहुए बीजको खेतमें बोनेसे उसका कोई उपयोग नहीं हुआ करता है, उसी प्रकार क्रोधसे यदि पात्रके लिये उपकार किया जाय तो वह सर्व व्यर्थ होता है, जिसप्रकार शक्कर में विष मिलाकर खिलाया जाय तो वह प्राणको हरण करता है

इसीप्रकार द्वेषसे दिया हुआ दान सफल नहीं होसकता है। करुणासे आर्द्र हुए मनसे किये हुए सर्वकार्य सफल व शाश्वत होते हैं ॥१६६॥

पंक्तिभेदकृतफल.

पंक्तिभेदे कृते येन वह्निर्भुक्तिवर्जितः ।
भस्मकव्याधिवान्स स्याद्वह्निवत्सर्वभक्षकः ॥ १६७ ॥

अर्थ—यदि दाताने पात्रोंमें अमुकपात्र मेरा उपकारी है, अमुक उपकारी नहीं है इत्यादि प्रकारके विचारसे पंक्तिभेद अर्थात् आहार द्रव्यके देनेमें भेद किया तो उसके फलसे वे दंपति भस्मक रोगसे पीडितके समान तीव्र अग्निके रहते हुए भोजन रहित होते हैं। अग्निके समान भक्ष्याभक्ष्य सर्व पदार्थोंका भक्षण करते हैं ॥१६७॥

ये स्वस्वामिन्युदासीनास्त्रिकालविभवच्युताः ।
तथा देवे गुरौ वे स्युस्त्रिकालसुकृतच्युताः ॥ १६८ ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने स्वामीकी सेवामें उदासीनता को धारण करते हैं वे त्रिकालमें भी संपत्तिको पा नहीं सकते। इसीप्रकार जो सज्जन देव व गुरुकी सेवामें उदासीनताको धारण करते हैं, वे त्रिकालमें पुण्यार्जनकार्यमें च्युत होते हैं ॥ १६८ ॥

उपकारियोंका प्रकार

कार्पासबीजान्यास्वाद्य दत्ते क्षीरं यथा पशुः ।
ग्रहाः के फलमादाय धर्मकार्यं च कुर्वते ॥ १६९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कार्पास बीजको ग्रहण कर गाय भैंस वगैरे दूध देती हैं, एवं जिसप्रकार दूसरोंको कष्ट देनेवाले भूतपिशाच फलादिक ग्रहणकर संतुष्ट होते हैं, इसप्रकार कोई २ संसारमें उपकारी होते हैं ॥ १६९ ॥

दत्वानर्घ्याणि रत्नानि शूल्कन्काचांस्तुषं यथा ।
धर्मकार्याणि कुर्वंति धर्मबुद्ध्या न कुर्वते ॥ १७० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई सज्जन उत्तमोत्तम रत्नोंको देकर बदलेमें काचके टुकडोंको लेते हैं, इसी प्रकार कोई सज्जन धर्मकार्योंको तो करते हैं परंतु उसे धर्मबुद्धिसे न करके केवल ख्यातिलाभ पूजाके लिए करते हैं ॥ १७० ॥

वंचित्वात्मपतिं जारान्यस्योपकुरुते यथा ।
तथात्मपात्रं वंचित्वैवान्येभ्यो ददतेऽत्र के ॥ १७१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको ठग, करके अन्य पुरुषको उपकार करती है, उसी प्रकार कोई २ सज्जन अपने उत्तम पात्रोंको आहारदान न देकर दूसरोंको दे देते है ॥ १७१ ॥

दाताओंका प्रकार

केचित्कुर्वंति दानं पशव इव जनैस्संयता दुर्मनस्काः ।
केचिन्नित्यं च भृत्यैरिव कृपिकजनाबाधिता दुर्मनस्काः ॥
स्वामिभिर्प्याश्च केचिद्युवतय इव संकुप्यमानामनस्काः ।
केचित्कुर्वंति दानं धृतभृतिमनुजा ये यथा तेऽत्र बंधे ॥१७२॥

अर्थ—कोई मनुष्योंके द्वारा बंधे हुए पशुओंके समान मनके विचारको रखते हुए दान करते हैं । कोई नौकरोंके द्वारा बाधित कृपिकके समान हृदय रखते हुए दान करते हैं । कोई २ स्वामीके द्वारा कुपित स्त्रीके हृदयके समान विचार रखते हुए दान देते हैं । एवं कोई वेतनभोगी नौकरोंके समान दान देते हैं । इस प्रकार दान देते समय भिन्न २ प्रकारके परिणाम रहते हैं ॥ १७२ ॥

केचित्पात्रमवेक्ष्य चाटुवचनैः संतर्प्य यांत्यर्थिनः ।
केचित्पात्रमवेक्ष्य सद्मनि चिरं भीता इवासते ॥

केचित्सद्वचनं वदंतममलं निर्भर्त्सयंत्यद्भुतम् ।
उक्त्वा दैन्यवचोऽपि तेन कतिचित्कस्यालये ब्रूहि भो ॥१७३॥

अर्थ—कोई धनिक सज्जन पात्रोंको देखकर उनके साथ मीठी २ बातें बनाकर चलते बनते हैं। कोई उन पात्रोंको देखकर कर्ज दिये हुए साहुकारके आनेके समान भयभीत होकर घरमें बैठ जाते हैं। कोई निर्मल वचनको बोलनेवाले पात्रकी निर्भर्त्सना करते हैं। कोई दानी पात्रागमनकी सूचना देनेवाले सज्जनसे दीनताके साथ बोलते हुए पात्रको किसी घरमें लेजानेके लिए कहते हैं ॥ १७३ ॥

एकोऽहमस्यां पुरि किंच नान्ये
द्वाराग्रगेहं द्रुतमेपि दृष्ट्वा ।
कुप्यंतमेतं विबुधा वदंति
मन्येऽघदोऽयं समयोऽहमन्ये ॥ १७४ ॥

अर्थ—कोई दानी अपने घरके दरवाजे पर खडे होकर पात्रोंके आगमनको देखता है। यदि पात्र दूसरोंके घरको छोडकर अपने घरकी ओर आयें तो उस पात्रकी सूचना देनेवालेके प्रति वह क्रोधित होकर कहता है कि " क्या इस नगरमें मैं अकेला हूं, दूसरे कोई नहीं हैं। क्यों दूसरेके घरको छोडकर मेरे घरकी ओर ही आते हो"। इस प्रकार उसके प्रति क्रोधित होनेवाले दाताके लिए वह पापार्जन का समय है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। हम भी कहते हैं ॥ १७४ ॥

केचित्सत्पुरुषा द्विषंति कुपितान् कुप्यंति शप्यंत्यलं ।
केचिद्दुःपुरुषात्रमंति ददते शंसंति वित्तं स्वयम् ॥
पुण्याः पुण्यकरा भवंति दुरघाः पापातुरा विश्रुता ।
जीवंतोऽप्यगदं पिबंति विषमिच्छंतो मृतिं ये यथा॥१७५॥

अर्थ—कोई सत्पुरुषोंके प्रति द्वेष करते हैं, उनके प्रति क्रुद्ध होते

हैं, उनको अनेक प्रकारसे + गालियां देते हैं, कोई दुष्टपुरुषोंको नमस्कार करते हैं, एवं उनकी प्रशंसा करते हुए स्वयं उनको धन देते हैं। लोकमें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं। एक तो सदा पुण्यका अर्जन करते हैं। पुण्यमय कार्योंको करते है। पापकार्योंसे उपेक्षा करते हैं। कोई सदा पापक्रिया करते हुए पापार्जन ही करते हैं। जिस प्रकार जीनेकी इच्छा रखनेवाले औषधको व मरनेकी इच्छा रखनेवाले विषको पीते हैं, इसी प्रकार लोकमें पुण्यार्जन व पापार्जन करते हैं॥ १७५॥

मिथ्यादृष्टियोंको दानदेनेका फल

मिथ्यादृशे ये ददतेऽथ दानं शुद्धाश्च जैनाः सुदृशोऽपि तेषां।
यक्षा हरंति श्रियमर्थमन्ये दृग्बोधवृत्तानि क्षयं प्रयांति ॥१७६॥

अर्थ—शुद्धसम्यग्दृष्टि जैन दाता मिथ्यादृष्टियोंको पुण्यार्जनके निमित्त यदि दान देते हों तो उनकी संपत्ति आदिको यक्ष अपहरण करते हैं एवं दूसरे भी उनके द्रव्यको अपहरण करते हैं। उनके रत्नत्रय भी नष्ट होते हैं॥ १७६॥

स्वस्वाम्यरिभटेभ्योऽर्थं यो दत्ते स्वामिना स च।
हतो बद्धो दण्डितो वा, स्वामिद्रोहीत्युशंति तम् ॥१७७॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने स्वामीके शत्रुवोंको धनादिक देकर मदत करता है वह उसके स्वामीके द्वारा मारा जाता है, बद्ध होता है, एवं लोकमें उसे स्वामिद्रोही कहते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टियोंको धनादिक देकर मदत करता है वह आत्मद्रोह करता है॥१७७॥

भयप्रदत्त-दान

देहि देहि न मुंचेऽहं वदतां दानिनो जनाः।
बालरम्बलिदातार इव भांति महीतले ॥ १७८॥

+ दापनं जीवितं हंति ज्ञानं पुण्यं धियं श्रियं।
करोति मूकतां मांद्यं नीचैर्गोत्रं च दुर्गतिम् ॥

अर्थ—कोई याचक आकर किसी दातासे यह कहें कि मुझे दीजिये, दीजिये, मैं छोड नहीं सकता। उस हालत में उसको दान देनेवाला दाता ठीक उसी प्रकारका है जैसा कोई अपने बालक के रोग-शमनके लिए बलि देता हो ॥ १७८ ॥

व्याघ्ररूपदाता

चण्डोऽपवादभीतो यो वाचि क्रुध्यति चेतसि ।
बाधां न कुरुते भाति पंजरस्थतरक्षुवत् ॥ १७९ ॥

अर्थ—जो दाता याचकोंके प्रति मन व वचनमे अत्यंत क्रुद्ध होता है, परंतु अपवादके भयसे कोई बाधा नहीं पहुंचाता वह पंजरमें बद्ध व्याघ्रके समान है ॥ १७९ ॥

तरण्डमापूरितसर्वलोकं । नदीतटं तारयिताऽमनस्कः ॥
सदंतरस्थानपि सर्वलोकान् । शापन्कुप्यभिव दातृलोकः ॥१८०॥

अर्थ—जहाजमें भरे हुए लोगोंको दयासे समुद्र या नदीके किनारे पर न पहुंचाकर उनके प्रति क्रोधित होते हुए अनेक प्रकारसे गाली देनेवाला जो नाविक रहता है, उसके समान कोई दाता रहते हैं । आये हुए पात्रोंको दयाभावसे उचित दान देकर भेजनेके बजाय उनके प्रति क्रोधित होकर उनके साथ गालीगलौजका व्यवहार करते हैं यह बडे दुःखकी बात है ॥ १८० ॥

व्याजेनान्यार्थमाहृत्य पुण्याय ददते नृणाम् ।
तैलकर्पूरमिश्राया: केचिन्निर्णेजका इव ॥ १८१ ॥

अर्थ—जो लोग दूसरोंके धनको किसी बहानेसे अपहरण कर धर्मकार्यके लिए देते हैं, उनका पुण्य तेल कपूरके मिश्रके समान है उनकी वृत्ति धोबीके समान है ॥ १८१ ॥

अंसेव्यानि सर्जतूनि फलानि ददते बहु ।
यथा क्षीरिद्रुमाः केचिद्दोषयुग्दानिनस्तथा ॥ १८२ ॥
स्ववत्सपुष्टिबुद्धयैव न क्षरंति यथा नृणाम् ।
वंचक्यः पशवश्चण्ड्यः काश्चिद्युवतयस्तथा ॥ १८३ ॥
धनवंतस्तथा केचिन्निरर्था दानवर्जिताः ।
श्रीफलाः फलवंतोपि यथा सेव्या न चाम्रवत् ॥ १८४ ॥
या स्त्रियो ये नरा वृद्धैः स्वसेवां कारयंति ताः ।
दास्या भवेयुस्ते दासास्तद्युत्या जन्मजन्मनि ॥१८५॥

अर्थ---कोई दानी क्षीरिद्रुमादिक वृक्षोंके समान हैं, क्यों कि वे असेव्य बहुतसे फलोंको प्रदान करते है, इसीप्रकार कोई दानी दोषयुक्त अनेक द्रव्योंको दान देनेके लिए रखते हैं ॥ १८२ ॥

कोई २ मायाचारिणी गायें अपने बछडेके पोषणके लिए ही दूधको छोडती हैं, उसी प्रकार कोई २ स्त्रियां अपने बच्चोंके व घरके पोषणके लिए आहार द्रव्य रखकर पात्रोंके आनेपर उसके अभावको बतलाती है ॥ १८३ ॥

कितने ही धनवान् ऐसे रहते हैं कि धनके रहते हुए भी दान-कार्यको नहीं करते हैं । उनका धन भी निरर्थक है । जिस प्रकार कि बेलके वृक्षमें विशेष बेल फल रहने पर भी आमके समान सुगमता से वे फल नहीं खाये जाते ॥ १८४ ॥

जो स्त्रियां व पुरुष अपनेसे ज्ञान वय आदियों से वृद्धजनोंसे सेवा कराते हैं वे जन्मजन्ममें दास दासी होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १८५ ॥

यः क्लिश्यार्पितधनः सरा यदि भवेद्यत्तेऽहंसे दुर्दृशे ।
वेश्याद्दासकगीतिभंडभृतये देहाक्षसौख्याय च ॥
दुस्थाने भवनाय मूलधननिर्नाशोग्रपापाखिल-
स्तस्यार्थो घटते सदा न घटते धर्माय वित्तादिकः॥१८६॥

अर्थ—जो व्यक्ति दरिद्रताके कारण पात्रदानादिक न करसकनेसे सदा खेदखिन्न होता रहता है, यदि उसे किसी तरह धन मिलकर श्रीमंत हुआ तो फिर वह देव, धर्म आदिको भूल जाता है। उस समय वह पापकार्यमें, मिथ्यादृष्टियोंके लिए, वेश्या, विदूषक, गायक, भांड आदिके लिए अपने द्रव्य का व्यय करता है। एवं देह व इंद्रियभोगमें व्यय करता है। खराब स्थानोंमें, अपना घर वगैरे बनानेमें व्यय करता है। उसकी क्रियायें मूलधनके ही नाशके लिए होती हैं। उसे चाहे तो और भी लोग कर्ज वगैरे देते हैं। परंतु धर्मके लिए धनादिककी सहायता नहीं मिलती है, अर्थात् लोकमें पापकार्योंके लिए धन आदिकी कभी कमी नहीं होती है। परंतु धर्मकार्य, पात्रदान आदि करना हो तो उसके लिए धन आदिककी बडी अडचन रहती है॥ १८६ ॥

मिथ्यादृष्टिदत्तदानफल.

भुक्त्यादौ बहुपीतमंबु दहनं निर्नाशयत्युज्ज्वलम् ।
पश्चाद्भुक्तमहाशनं गरलवत्प्राणान्यथा हंति यत् ॥
सद्दृष्टिः कुदृशंपु पात्रमिति च मत्वा च दत्ते धनं ।
हत्वा दृक्सुकृतं पुनः कृतमघं संवर्ध्य तत्स्वं क्षयेत् ॥१८७॥

अर्थ—जिस प्रकार तीव्र भूख लगे हुए व्यक्तिने यदि भोजनके पहिले यदि खूब पानी पीलिया तो तीक्ष्ण उदराग्नि एकदम नष्ट होती है, और उसके बाद पुनः अधिक भोजन किया तो उसे पचाने योग्य अग्निके न होनेके कारण वह भोजन भी विषके समान होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य मिथ्यादृष्टिको भी पात्र समझकर दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्दर्शन व पुण्यको खो लेता है, और पापकी वृद्धि करता है। एवं अपने वंश इत्यादिकके विभवको नष्ट करता है ॥ १८७ ॥

दानं मिथ्यादृशे दत्तं दृष्टिं पुण्यं च नाशयेत् ।
साधितेऽरिपुरे शत्रुः कंटकद्रुन्वपन्निव ॥ १८८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके लिए दान देनेपर वह सम्यक्त्व व पुण्यका नाश करता है। शत्रुके नगरको साधन करने के बाद शत्रुराजा जिस प्रकार कंटकवृक्षोंके बीजको बोता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंको दान देनेपर अपनी हानिके लिए ही कारण होगा ॥ १८८ ॥

मुक्त्वा निजस्वामिनमेव वित्ताः ।
शत्रुं समाश्रित्य सभाति रास्ति (?) ॥
सायुर्विभूतिः स यथा विनश्येत् ।
सुदृक्तथा स्यात्कुदृगाश्रितश्च ॥ १८९ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने स्वामीको छोडकर शत्रुओंका आश्रय करता है वह अपनी हानि ही कर लेता है। और उसकी संपत्ति आदिक नष्ट होती है, इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टी जीव मिथ्यादृष्टियोंका आश्रय करता है उसकी हालत होती है ॥ १८९ ॥

ब्रह्मव्रते दर्शन एव नष्टेऽवग्रहतः स्यादिव लोक एषः ।
ज्ञाने तटाकादिविभेदवत्तद्व्रतेपि सस्यादिविनाशवच्च॥१९०॥

अर्थ—इस जीवका ब्रह्मचर्यव्रत व सम्यग्दर्शन यदि भ्रष्ट हुआ तो लोकमें बरसात न पडनेसे जो दुर्भिक्ष फैलता है उसके समान उसकी हालत होती है। ज्ञानके नष्ट होनेपर तालाब आदिके बांधके टूटने के समान होता है। अहिंसादि व्रतोंके नष्ट होनेपर खेतके सस्यादिकके नाशके समान होता है ॥ १९० ॥

एषामासां न दानेच्छेत्युक्त्वा यस्ताश्चिवारयेत् ।
स एव सर्व पापात्मा स्याच्छ्रित्रो जन्मजन्मनि ॥ १९१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति " अमुक पुरुषको दान देनेकी इच्छा नहीं है,

अमुक स्त्री को दान देनेकी इच्छा नहीं है " ऐसा कहकर दान देनेसे रोकता है, वह पापी व्यक्ति वे वे जन्म जन्ममें दरिद्र होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १९१ ॥

या स्त्री मृतेशा सकला यदा तां पौराः कपंतीह तदैव येन ।
सद्दृक्चरित्रं च यदा विनष्टं कर्माणि देवाश्च जनास्तदा तं ॥

अर्थ—कोई स्त्री मृतपति अर्थात् विधवा होती है तो उसे पुरवासी-जन यदि दुःख देंगे तो उन पुरुषोंने अपने सम्यग्दर्शन व चारित्र को नष्ट किया तथा उसके फलसे उनको पापकर्म, शासनदेवतायें व मनुष्य उनको मारते हैं अर्थात् उनकी अनेक प्रकारसे हानि करते हैं ॥१९२॥

भोक्तुं मार्थितभुक्तिं संस्थितं तद्गृहमागतं ।
तस्य दानांतरायः स्यात्स्त्रीः पुमांश्च विहापयेत् ॥ १९३ ॥

अर्थ—यदि कोई भोजनके लिए बैठा हो, या भोजनके लिए निमंत्रण पाया हो तो उसको निवारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोंको घोर अंतरायकर्मका बंध होता है ॥ १९३ ॥

कार्याय बद्धमशनं कुदृशे अनाय ।
नीचाय तंडुलपटिं दययैव दद्यात् ॥
जैनं विनात्मनिलये शयनं च भुक्तिं ।
नो कारयेदिव फलानि च विक्रयेतः ॥ १९४ ॥

अर्थ—अपने कार्यके निमित्तसे किसी मिथ्यादृष्टिको भोजन बंधा हो, एवं किसी नीचको चावल या धान्यकी वारी बंधी हो तो उनको दयाके भावसे ही देना चाहिये । अर्थात् पात्र समझ कर नहीं देना चाहिये । जैन कुलोत्पन्नको छोडकर अपने घरमें दूसरोंको भोजन कराना व शयन कराना ठीक नहीं है । बीजके लिए रखे हुए फलका विक्रय करना जिस प्रकार अनुचित है, उसी प्रकार सत्पात्रोंके दानके

योग्य द्रव्यको मिथ्यादृष्टियोंको प्रदान करना अनुचित है × ॥१९४॥

आहूय जैनान्बहिरालयेषु ये भोजयंत्येव त एव सर्वे ।
पापं लभंते न विशल्ययास्तज्ञोदासयेयुः कृतिनोऽपि जैनाः ॥१९५॥

अर्थ—अपने घरपर जैनियोंको बुलाकर जो उनको बाहरके सामान्य घरपर भोजन कराते हैं वे पापार्जन करते हैं। पुण्यका नाश करते हैं। पुण्यात्मा सज्जन जैनियोंकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥१९५॥

अशिक्षितकुदृग्भ्यो ये दानानि ददते नराः ।
महारण्ये भवेयुस्ते मदोन्मत्ता मतंगजाः ॥ १९६ ॥

अर्थ—जो सज्जन अशिक्षित व मिथ्यादृष्टियोंको दान देते हैं वे उस दानके फलसे बडे भारी जंगलमें मदोन्मत्त हाथी होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १९६ ॥

नो दद्यादपकारिणे च रिपवे धर्मद्विषे भीकृते ।
भृत्येभ्यः परिहासकाय यशसे भूपाय संगीतिने ।
नृत्ताया अपि विनोदकाय गणिकालोकाय दुर्वृत्तये ।
गोवृत्ताय खलाय धार्मिकजनो नैजं धनं धर्मतः ॥१९७॥

अर्थ—धार्मिक जनोंको उचित है कि वे धर्मबुद्धिसे अपकारी, शत्रु, धर्मद्वेषी, भयंकर, भृत्य, हास्यकार, स्तुतिपाठक, राजा, गायक, नर्तक, विनोदक, वेश्याजन, दुराचरणी, दुष्ट आदियोंको अपने धनको न देवें। अर्थात् धर्मबुद्धिसे इनको धन देना वह पाप संचयके लिए कारण है ॥ १९७ ॥

× जैनभुक्तिगृहाद्वित्यन्तरगेहेषु भोजयेम् ।
दापन च न कर्तव्यं कर्तव्यं स्वगृहेष वा ॥
सद्दुःस्थपचोराद्येस्तर्नानां पोषणे यदि ।
अपवादो भवेन्नृणां न स्वर्गदन्यमंदिरम् ॥

गायकवादकनर्तकयाचकपरिहासकादिलोकेभ्यः ।
सेवार्थं दाता धनमपवादभयेन चार्थिने दद्यात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—गानेवाला, बजानेवाला, नर्तन करनेवाला, स्तुति करनेवाला, हास्यकार, याचक, आदियोंको सेवा करनेके उपलक्ष्यमें, लोकमें अपवाद न हो इस भयसे ही धन देना चाहिये। उनको पात्र समझकर दान नहीं देना चाहिये ॥ १९८ ॥

प्रमत्तनागाः सृणिशिक्षितास्सदा ।
सुमंत्रतंत्रानुगता महोरगाः ।
कुधर्मजश्रीमदमत्तमानवाः ।
समंत्रतंत्रैरपि शिक्षिता न च ॥ १९९ ॥

अर्थ—मदोन्मत्त हाथियोंको अंकुशसे वशमें कर सकते हैं। काले सर्प भी मंत्रतंत्रोंसे अनुकूल होते हैं। परंतु कुधर्म अर्थात् अपात्रदानादिकके फलसे उत्पन्नसंपत्तिके मदसे जो मदोन्मत्त हैं उन पुरुषोंको कोई भी मंत्र तंत्रोंसे वशमें नहीं कर सकते हैं ॥ १९९ ॥

अनियतकरणान्ये मानवास्तर्पयंती-
त्यनियतकरणास्ते दुर्विनीता भवेयुः ।
दुरितकरणशक्ता ध्वस्तपुण्यार्थभक्ता ।
नियतकरणवृत्ताः पालनीयाः स्ववित्तैः ॥ २०० ॥

अर्थ—जो व्यक्ति पंचेंद्रियविषयों में अनियमितवृत्तिके धारक इंद्रिय लोलुपी असंयमियोंका पोषण करते हैं, वे पापार्जनमें सहायता पहुंचाते हैं। इंद्रियलोलुपी व असंयमी स्वेच्छाचारी व अष्टकर्मोंके अर्जन करनेमें समर्थ होते हैं। एवं पुण्य व पुण्यात्म वोंको कष्ट भी देते हैं। इसलिए हमेशा नियतकरण-वृत्तिवाले अर्थात् इंद्रियदमन करनेवाले संयमियोंका ही अपने द्रव्यसे पोषण करना चाहिये ॥ २०० ॥

विचार करता है, सामुद्रिक लक्षण आदिको देखता है, उन लक्षणोंको देखनेके लिए उसे स्पर्श करता है। परंतु वह व्रती विवाहित होनेके बाद उसे स्पर्श नहीं करता है। क्यों कि उसका दान दूसरोंको दे चुका है। इसी प्रकार देव व ऋषियोंको जो धन दानमें दिया जा चुका है उसका मन, वचन व कायसे परित्याग करें ॥ २०५ ॥

आक्रांतत्युढकन्यां यस्तं हंतारो न के पुरि ।
पौराः निंदन्ति हंतीशो दंडयंति नृपा यथा ॥ २०६ ॥

अर्थ—यदि किसी विवाहित कन्यापर किसीने आक्रमण किया तो पुरजन उसे मारे बिना नहीं छोड सकते। पुरजन उसकी निंदा करते हैं। जिस प्रकार राजा दंड देता है उसी प्रकार उस स्त्रीका पति भी दंड देता है। इसलिये दूसरोंको दिए हुए परद्रव्य पर भी आक्रमण नहीं करना चाहिए। लोकमें उसकी निंदा होती है। पुरवासीजन उसे कोसते हैं। राजा भी दंड देता है ॥ २०६ ॥

त्रीणि गंधांबुपुष्पाणि सेव्यान्येव जिनाश्रितैः ।
जिनार्चिताखिलार्थेषु नान्यवस्तूनि सर्वथा ॥ २०७ ॥

अर्थ—जिन भक्तोंको उचित है कि जिनेंद्रको अर्चन किए हुए द्रव्योंमें से तीन ही पदार्थ अर्थात् गंध, उदक व पुष्प सेवन करने योग्य हैं। अन्य पदार्थोंको सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २०७ ॥

स्वक्षेत्रोप्तफले हृते न च नृणां धान्यादिलाभो यथा।
सत्यंकारधने हृते न वणिजां लाभः स पात्रार्पिते ॥
आदत्ते द्रविणेन पुण्यमतुलं सत्पुण्यभाजां नृणां ।
दत्ताद्दारमितार्पितामिव गुणां पात्रार्पितं न स्पृशेत् ॥२०८॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें देखा जाता है कि अपने क्षेत्रमें बोये हुए बीजको यदि निकाल लिया तो उसने कोई धान्यादिक का लाभ

नहीं हो सकता है, किसी साधुको भिक्षित करनेके लिए दी हुई साडी का ही यदि व्यापारीने अपहरण कर लिया तो उसको कोई लाभ नहीं हो सकता है। इसी प्रकार पात्रके लिए दिए हुए धनको ग्रहण करने पर विपुल पुण्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो सज्जन शुद्ध पुण्य का अर्जन करना चाहते हैं, उनको उचित है कि जिस प्रकार दिए हुए आहारको पुनः स्पर्श नहीं करते एवं दी हुई कन्याको पुनः ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार पात्रोंको दिए हुए दानद्रव्यका पुनः स्पर्श न करें ॥ २०८ ॥

दत्तद्रव्यग्रहणनिषेध

सुक्षेत्रोप्तसुतुंगपूगपनसव्रीह्यादिबीजानि च।
किं गृह्णाति कृषीवलः स्मरति किं बीजं सद्रुप्तं मम।
सोऽग्रे सर्वफलानि तानि मनसि स्मृत्वैव तृप्तो भवे-॥
द्दत्तद्रव्यमुदर्कद तु सदया जैना उदर्केपिण ॥ २०९ ॥

अर्थ—अच्छी भूमिमें बोए हुए नारियल, सुपारी, पनस, धान आदिके बीजको क्या कोई किसान ग्रहण करता है? कभी नहीं, वह उन के उत्तर फलोंको मनमें स्मरण करते हुए संतुष्ट होता है। इसी प्रकार दयालु प्रशस्त दाताको भी उचित है कि वह दानके उत्तरफल को ध्यानमें रखते हुए दिए हुए द्रव्यका पुनः ग्रहण न करें ॥ २०९ ॥

भूगोनद्याकनद्यब्धिशुक्त्यम्बर्धांघुद्रुमा यथा।
न स्मरंति न गृह्णन्ति दत्तद्रव्याणि दानिनः ॥ २१० ॥

अर्थ—जिस प्रकार भूमि, गाय, तालाब, नदी, समुद्र, सीप, आकाश, कुआं और वृक्ष परोपकार करते हैं और दिये हुए पदार्थको वापिस नहीं लेते हैं, उसी प्रकार दानी भी दिए हुए द्रव्योंको न स्मरण करते हैं और न ग्रहण करते हैं ॥ २१० ॥

विशेषार्थ—भूमि—यह जमीन बहुत से प्रकारके धान्यादिकों को उत्पन्न कर दूसरोंके उपकारके लिए दिया करती है। परंतु उनको कभी वापिस नहीं लेती है, धान्योंकी उत्पत्ति के लिए स्वयं की छाती पर यह हल चलाने देती है, अनेक प्रकारसे कष्ट सहन करती है, यह सब किस लिए? परोपकारके लिए।

गौ—जिस प्रकार गाय घास और पानीको ग्रहण कर दूध देती है, उसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है, उसी प्रकार दानियोंकी वृत्ति होनी चाहिये।

तटाक—तालाब अपने पानीके द्वारा समस्त खेतके सस्यों की वृद्धिमें सहायता करता है, उसीप्रकार दातृजन भी अपने धनके द्वारा परोपकार करते हैं।

नदी—जिसप्रकार नदीसे पानी कोई ले जाकर उसे कम करें, चाहे कोई शत्रु आकर उससे पानी लेजाय, बंध बांध देवें, तो उसके साथ या चाहे जैसी अनुचितवृत्तिको धारण करनेवालोंके साथ लडती नहीं, भिडती नहीं, अन्यथा विचार नहीं करती है, इसी प्रकार उदार हृदयी दानियों की वृत्ति रहती है।

समुद्र—जिसप्रकार समुद्र गंभीर रहता है, उसके पास जो रत्न हैं उन्हें कोई लेजावें तो भी उसकी महत्तामें कोई अंतर नहीं आता है, इसी प्रकार दानियोंकी गंभीर मनोवृत्ति रहती है।

शुक्ति—सीपके अंदर पडे हुए मोतीके समान दाताजनोंकी आत्मा मुक्तिस्थित सिद्धके समान शुद्ध रहती है।

* मेघ—जिसप्रकार बादल अयाचित होकर ही पानी बरसाती है, एवं लोकको संतुष्ट करती है उसी प्रकार दाताओंकी वृत्ति रहती है।

---

* अयाचितात्प्रशिकरो रसाकरः सत्पायलीतापहरः पयोदः।
कृतावधानः शिशुरोऽत्रधात्रीजनो यथा दातृजनस्तथा स्यात् ॥

कूप——भू, शिला, मट्टीके खोदनेसे उत्पन्न कूप जिसप्रकार अमृतके समान मिष्ट जलको प्रदान करता है, इसी प्रकार दानियोंकी वृत्ति होनी चाहिये।

द्रुम——स्वयं धूपमें खडे होकर दूसरोंको छाया प्रदान करते हुए दूसरोंके उपकारकेलिए फल छोडते हैं ऐसे वृक्षोंके समान दाताओंकी वृत्ति होनी चाहिये।

दत्तद्रव्याग्रहणफल

यो देवार्षर्पितं द्रव्यं नादत्ते न च वांछति।
सत्यंकारधनं दत्तं मुक्त्यै तेन विदुर्बुधाः॥ २११॥

अर्थ——जो मनुष्य देव व ऋषियोंको दानमें दिए हुए द्रव्यको ग्रहण नहीं करता है और न चाहता है उसने दान नहीं दिया, अपितु मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह करनेके लिए सत्यकार धन [साही] दिया ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं॥ २११॥

दत्तद्रव्यग्रहणफल

येन यस्मै धनं दात्रा दत्तं तेनाहृतं पुनः।
तत्सर्वमपि बंधूनामुत्सवे दत्तवस्तुवत्॥ २१२॥

अर्थ——यदि किसीको दिए हुए द्रव्यको उस दानी ने वापिस लिया तो वह दान नहीं है, बंधुओंके घरमें उत्सवके समय दी हुई सहायता है॥ २१२॥

यो दत्तद्रव्यमादत्ते तस्योत्तरफलं न च।
उप्तबालफलो दातृमूढवद्धार्मिको भवेत्॥ २१३॥

अर्थ——जो मनुष्य दिए हुए द्रव्यको ग्रहण करता है, उसको उस दानका उत्तर फल बिलकुल नहीं हो सकता है। उसकी हालत ठीक

उसी प्रकारकी है जिस प्रकार कि एक मनुष्य बोए हुए नारियलको निकालकर खाता है। उसी प्रकारका यह मूढ़ धार्मिक है ॥ २१३ ॥

अन्यद्रव्यग्रहणनिषेध

योऽशेषवस्तुमकरोपकर्त्ता तद्वस्तुलेशांशकयाचितश्चेत्।
शप्यत्यलाभे यदि कुप्यति नित्यं स एव मूर्खो न कृतिर्न धर्मवान् ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने धनसे दूसरोंको उपकार करता है, यदि उसने उस द्रव्यके कुछ अंशको अपने लिए याचन किया तो उसने दिया तो ठीक है, नहीं दिया तो उसके ऊपर क्रोधित होता है, गाली देता है, वही मूर्ख है, वह सज्जन नहीं, धार्मिक नहीं। क्यों कि दूसरोंको दिए हुए द्रव्यपर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है, इस बातका वह विचार नहीं करता है ॥ २१४ ॥

गर्तादोऽन्यपचितं कुमूलनिहितं धान्यं यथाऽत्त्यन्वहम् ।
दारिद्र्योद्भवदुःखभाजनमनोऽन्यार्थं तथा सेवते ।
यद्दानारशतांशतस्करजनो दत्ते नृपायाखिलम् ।
तस्मादन्यधनं च साधिपतृणं धन्यो जनो न स्पृशेत् ॥ २१५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार गरोट (चूहेके समान जमीनके अंदर रहनेवाला जंतु) कुमूलमें भरे हुए धान्यको सदा खाता है, उसीप्रकार दारिद्र्यके दुःखसे पीडित मनुष्य अनेक उपायोंसे परद्रव्यको अपहरण करते हैं। उसका फल बहुत बुरा भोगना पडता है। जिसप्रकार एक चोरने एक शतांश द्रव्यकी चोरी की तो भी राजाके द्वारा दिया हुआ दंड तो उस से शतगुणा अधिक होता है, और उसे देना ही पडता है। इसलिए परधनको धन्य सज्जन कभी भी स्पर्श न करें, इतना ही क्यों? जिस घासका मालिक हो उस घासको भी नहीं छूवें ॥ २१५ ॥

देवाय गुरवे राज्ञे दत्तं पात्राय यद्धनं ।
दातृभिस्तद्य न ग्राह्यं स्वस्तेत्रेणुबीजवत् ॥ २१६ ॥

अर्थ—देव, गुरु, राजा व सज्जनोंको दिये हुए धनको दाताओंग मनवचनकायसे ग्रहण न करें, जिसप्रकार अपने मेतमें बंधे हुए बीजको यह ग्रहण नहीं करता है ॥ २१६ ॥

आत्मीयमन्यदीयं स्व दानं यः कुरुतेऽधमः ।
दातुस्वर्गानि कुर्याच्च प्रायश्चित्तफलप्रदम् ॥ २१७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके द्रव्यको अपने द्रव्यके रूपमें सज्जनपर दान करता है वह पापके लिए कारण है । उससे दातृत्वकी हानि होती है । परस्त्रीके समान परद्रव्यको भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २१७ ॥

देवगुरुसेवाफल

दत्त निर्यूफल राजामुत्पाद्य करुणां हृदि ।
दत्तं तैरधिकं वित्त देवगुर्वोस्तथाधिकम् ॥ २१८ ॥

अर्थ—राजाके पास जाकर प्रतिनित्य निर्यू फलको भेटमें देवें तो उसके द्वारा वह प्रसन्न होकर उनके हृदयमें करुणा धारण कर उस नौकरको अनेक सपत्ति प्रदान करता है । इसी प्रकार देवगुरुओंकी सेवा करनेपर, उनके प्रसादसे अनेक शुभ संपत्ति मिलती है ॥२१८॥

स्व स्व देवाय संकल्प्य स्वयमेव व्ययस्तद् ।
स्वानर्थाय भवेत्कन्यादानवत्सोऽनरि स्मरेत् ॥ २१९ ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने द्रव्यको देवताकार्यके लिए संकल्प करके उसे अपने लिए उपयोग करता है, उससे उसका अनर्थ होता है, यदि कन्यादान करके भी उस कन्याको पतिगृह में नहीं भेजे तो प्रिय दामाद भी शत्रु हो जाता है ॥ २१९ ॥

देवद्रव्यग्रहणफल

देवकालिर्तरहारे चेर वेनोद्दरि रुम्रं ।
पाप पुण्यक्षयं तिर्यग्गति गच्छेत्स नारकीम् ॥ २२० ॥

अर्थ—जो मनुष्य देवसंकल्पित द्रव्यको अपहरण करता है, उसके प्रति बंधु राजा आदि उससे वैर विरोध करते हैं। उसके तेजका क्षय होता है, रोगादिबाधा बढती है, पापकी वृद्धि होती है, पुण्यका क्षय होता है, वह तिर्यंच या नरकगतिमें जाता है ॥ २२० ॥

प्रशंसाहतदान

कृतात्मवर्णनं पात्रैः श्रुत्वा हृष्टाशयार्पितं ।
दानं सर्वं प्रशंसाकृद्वंदिभ्यो दत्तदानवत् ॥ २२१ ॥

अर्थ—पात्रोंके द्वारा की [redacted] अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर दिया हुआ दान बंदीजनोंको दिए हुए दानके समान प्रशंसाकर दान है ॥ २२१ ॥

निष्फलद्रव्य

अत्युच्चाः पाटलाः स्थूला निष्फलाः कुसुमोद्भवाः ।
साध्वयोग्या भवेयुस्ते दातारः कतिचिद्यथा ॥ २२२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पसे उत्पन्न पाटल वृक्ष बहुत ऊंचा, बडा, होनेपर भी निष्फल हुआ करता है, इसी प्रकार किसी सज्जन के पास बहुत धन कनक रहने पर भी वह साधुके लिए अयोग्य हुआ करता है, अर्थात् पात्रदानके काममें उसका धन नहीं आता है। अतएव व्यर्थ है ॥ २२२ ॥

देवादिद्रव्यहरणफल

देवगुर्वादिभव्यानां योऽर्थानपहरत्यपि ।
स भिन्नपद्माकरवत्स्यात्पुण्यरहिताशयः ॥ २२३ ॥

अर्थ—जो देव, गुरु आदिभव्योंके अर्थको अपहरण करता है उसकी हालत टूटे हुए तालावके समान है। उसके हृदयमें पुण्यका अभिप्राय नहीं है। अर्थात् वह पापी है ॥ २२३ ॥

स्मरणकर न देनेका फल

यो ददामि धनं स्मृत्वा न दत्ते स भवांतरे।
वंध्यद्रुम इवामाति कर्माशक्त उदंभरिः ॥ २२४ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दान देता हूं ऐसा मनमें स्मरणकर पीछे उसे नहीं देता हो तो वह आगेके भवमें वंध्यद्रुम (बेकारवृक्ष) के समान बन जाता है। और उसे अपना पेट भरना भी कठिन होता है ॥२२४

ध्यातं वित्तं न दत्तं यैर्येषां कालावधिर्मुदा।
ध्यातं तैर्न फलं कार्यं तेषामिष्टं न कुत्रचित् ॥ २२५ ॥

अर्थ—दूसरोंको देनेके लिए विचार किये हुए धनको योग्य समयमें संतोष से यदि नहीं दिया तो उस शुभ विचारका कोई फल नहीं हुआ करता है, और ऐसे लोगोंको कोई विश्वास नहीं करते। अतएव उनकी इष्टसिद्धि कहीं भी नहीं होती है ॥ २२५ ॥

लिखितादत्तदानफल

लिखितं तु न दत्तं यैर्येभ्यस्तेषां बहुव्ययः।
नष्टः स्यादुद्यमः सर्वः स्वात्मीयायबहुक्षयः ॥ २२६ ॥

अर्थ—किसी को धन देनेके संबंधमें लिखकर देनेपर भी बादमें जो व्यक्ति नहीं देता है। उसे बहुत खर्चेका सामना करना पडता है, उसके सर्व उद्योग नष्ट होते हैं और पुण्यका भी क्षय होता है॥२२६

वचन देकर न देनेका फल

यस्तु द्रव्यं ददाम्युक्त्वा न दत्ते स भवांतरे।
शाल्मलीवृक्षवज्जाति निष्फलोद्यमतत्परः ॥ २२७ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दान देता हूं ऐसा कहकर बादमें नहीं देता हो तो वह आगेके जन्ममें विना प्रयोजन उद्यम करनेवाले शाल्मली वृक्षके समान होकर उत्पन्न होता है ॥ २२७ ॥

मर्यादाके भीतर नहीं देना

विचमुक्त न दत्तं यैर्येषां मागवधेर्मुदा ।
उक्त तैर्न फलं कार्यं तेषामिष्टं न कुत्रचित् ॥ २२८ ॥

अर्थ—जो सज्जन देनेकी बात कहकर मुदतके अदर नहीं देते हैं उनका कहना व्यर्थ है। उन्हें कोई भी विश्वास नहीं करता है। अत• उनके मनोरथकी सिद्धि कहीं भी नहीं होती है ॥ २२८ ॥

अयोग्यधनग्रहणफल

योऽदायं दायमाहृत्य वर्तते स भवेद्धनम् ।
सक्लेशो निष्फलोद्योगो मृतपुत्रांगनेशवत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—जो अपने लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे धनको अपहरण कर धनवान् कहलाता है, वह सदा दुःखी रहता है। संतान के मृत होनेके बाद स्त्रीका पति बने रहना जिस प्रकार निष्फल व दुःखकर है उसी प्रकार उसको होता है ॥ २२९ ॥

कृतसेवाधिक वित्तं येषां दत्त पुरा च यै ।
ते सर्वे किंकरास्तेषामधिश्रीणां भवांतरे ॥ २३० ॥

अर्थ—जो राजा वगैरे अपने सेवकोंको उनकी सेवासे भी अधिक धन देकर संतुष्ट करते हैं या पूर्वजन्ममें देकर संतुष्ट किया है, वे भृत्य पुनः अन्यभवमें भी उन श्रीमतोंके ही ईमानदार नौकर होकर उत्पन्न होते हैं ॥ २३० ॥

स्मृत्वा न दत्तमुक्त्वा दत्तं द्रव्यं समाहृतं येन ।
त्रिभिरेतैर्हानि स्यात् दानस्यायस्य तस्य नास्ति फलम् ॥ २३१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति देनेका विचार कर नहीं देता हो, देनेकी बात कहकर नहीं देता हो एवं दिए हुए को पुन. अपहरण करता हो, वह

पापी है, इन तीनों प्रकारोंसे उसकी हानि होती है। और उसके दान व पुण्यका क्षय होता है, एवं उसका कोई फल नहीं है ॥ २३१ ॥

पुण्यपापभेद

यथा करोतीह सुगंधपुष्पं मनोहरत्वं सुकृतं तथैव ।
यथा करोतीह कुगंधपुष्पं मनोजुगुप्सां दुरितं तथैव ॥२३२॥

अर्थ—जिस प्रकार सुगंध पुष्प अपने सुगंधके द्वारा मनुष्य के मनको हरण कर लेता है अर्थात् मनुष्यको अच्छा लगता है उसी प्रकार पुण्यकर्म भी मनुष्यको सुख पहुंचाता है। दुर्गंधपुष्प जिस प्रकार घृणा उत्पन्न करता है उसी प्रकार पापकर्म मनुष्यको दुःख पहुंचाता है ॥ २३२ ॥

दाताओंकी शक्ति देखकर याचना करें

यावत्पशूधसि पयोऽस्ति विहाय सर्वं ।
पाकाय तस्य पयसोऽर्धमुपाहरंतः ।
गोपा इवात्र भुवि दातृजनस्य शक्तिं ।
याचेत चित्तमधिगम्य गुणं च मर्त्यः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ग्वाले लोग गायके स्तनसे सर्व दूधको न निकालकर उसके अर्धभाग ही अपने कामके लिए लेते हैं उसीप्रकार दाताओंकी शक्ति, मनोवृत्ति व गुणको जानकर ही उनसे धनकी याचना करें ॥ २३३ ॥

वा फलति न फलतीति क्षेत्रे भूपा यथा हरंति धनम् ।
धनमधनमजानंतो दानमिति द्रव्यमाहरंति जनाः ॥ २३४ ॥

अर्थ—खेतमें उत्पन्न अच्छा हुआ है या नहीं इस बातको न जानकर ही राजा लोग धनको वसूल कर लेते हैं। इसी प्रकार यह धनवान् है या निर्धन है यह न जानते हुए ही उन लोगोंसे याचकजन धन लेते हैं ॥ २३४ ॥

दाताके प्रति क्रोध नहीं करनेका उपदेश

पापाद्देहीति कष्टं यदि फलति वचो मुद्दवेन्निष्फलं त- ।
दुःखं मा मा च कोपं कुरु दुरितफलं जातमेतत्क्षमस्व ।
अक्षंत्वा दातृलोकं शपति शपति किं प्राक्कृतैनोवनौघ- ।
प्राबल्यायैव वृष्टिः क्षरति बहुतरा विद्धि भो भावय त्वं॥२३५॥

अर्थ—"देहि" इस प्रकारका वचन पापकर्मके उदयसे ही बोलना पडता है, महान् कष्ट है, यदि यह वचन सफल हुआ तो हर्ष होता है, निष्फल हुआ तो दुःख होता है। परंतु हे भव्य! निष्फल होनेपर भी दुःख मत कर, क्रोध मत कर, यह पापकर्मके उदयसे हुआ, इस लिए क्षमा कर। यदि क्षमा न कर दातावोंको गाली दें तो क्या होता है। पूर्वजन्ममें किए हुए पापके फलसे ही ये सब कुछ होते हैं। इस लिए विचार करो। व्यर्थ ही किसीके प्रति क्रोधित मत होवो॥२३५॥

सफलजीवन

भूरि जीर्णमिदं सर्वं येन साधु कृतं तदा ।
तस्यैव स्यात्फलं सर्वमिति चिंतां प्रचिंतयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ—यह सब कुछ जीर्ण हो चुके हैं, अतः साधुवोंके योग्य नहीं है, ऐसा विचार सदा करना चाहिए उसीका जीवन सफल है॥२३६॥

सार्थो जीर्णमिदं कृत्स्नं मुदा साधुकरोम्यहम् ।
स्मृत्वा न कुर्यादुक्त्वा च चिंतामिति न चिंतयेत्॥२३७॥

अर्थ—यह पदार्थ अत्यधिक जीर्ण हो चुका है, इस लिए साधुवों को संतोषसे दे डालता हूं इस प्रकार के विचार मनमें व वचन में कभी नहीं लाना चाहिए ॥ २३७ ॥

प्रसादलक्षण

देवाय पात्राय निजोचितानि यावंति वस्तूनि वसंति गेहे ।
तावत्सु चैकैकमवं मदद्यात्स्वेयं प्रसादं प्रवदंति जैनाः ॥ २३८ ॥

अर्थ—देव व पात्रोंके लिए उपयोग में आनेवाले जितने पदार्थ घर में मौजूद हैं उन में से कुछ अंशको पहिले से दानमें देना चाहिए बाकी बचे हुए को अपने उपयोग में लेना चाहिए । उसे ऋषिगण प्रसाद कहते हैं ॥ २३८ ॥

पुण्यात्माओंकी वृत्ति

यद्याघुष्टं निशम्याप्यतिपटुवणिजो यत्र यत्रास्ति वित्तं ।
गत्वाहृत्यापणं तत्सकलसमुचयं तत्र निक्षिप्य कृत्वा ।
शुल्कर्णमातिभावैर्तलवरनृपदायादिचोरादिकानां ।
चानम्योक्त्वा चटूक्तीरिदमखिलधनं जागरूकाश्च गुप्ताः ॥२३९॥

क्रीत्वार्थे द्वारमाश्रित्य च नमितकराः कांश्च मासांश्च नीत्वा ।
निर्वृद्धं किंच किंच प्रशमितमनसो दीनचाटुप्रवाचः ।
सर्वद्रव्यं गृहीत्वा व्यवहृतिनिपुणाः स्वस्वगेहं गता ये ।
षण्मासाद्वत्सराद्वा तदुपरित इवाचिन्वते यं च जैनाः ॥ २४० ॥

अर्थ—किसी स्थान में कोई बडी यात्रा—उत्सव हो, वहांसे निमंत्रण मिले तो व्यापार कार्यमें कुशल वैश्य उसी दिनसे इधर उधर जाकर रुपये एकत्रितकर जहां जहां जो चीज उत्पन्न होती है उन को खरीदकर उस महोत्सवके स्थानमें दुकान लगाता है । वहांपर टेक्स लेने वाले, कर्ज देनेवाले, उधार लेनेवाले, कोतवाल, राजा, राजसेवक, दायाद, चोर आदियोंसे बहुत प्रेम से बंटता है, एवं अपने धन का संरक्षण करता है, और व्यापार करता है, तदनंतर कुछ समयतक वहां रहकर अपने व्यापार से द्रव्य कमाकर छह महीने में या वर्ष में अपने स्वदेश को पहुंचता है, उसी प्रकार की वृत्ति पुण्यधनको कमानेवाले की होनी चाहिए । बहुत उपायसे सत्कार्योंको करते हुए किसी के हृदय को न दुखाकर पुण्यका अर्जन करना चाहिए ॥२३९-४०॥

देव व ऋषिसेवाफल

जैनं बिंबमिहोपलेन तरुणा छोहेन चैत्यालयम् ।
कृत्वा मृत्तिकया च भांडमखिलं कृत्वैव लोकोचितं ॥
पुण्यं लौकिककार्यमाशु लभते सर्वो जनः पामरः। .
पात्रं स्वामिपदानुरक्तमपलं संप्राप्य धन्यो भवेत् ॥२४१॥

अर्थ—इस लोकमें दूसरे लोग जैनबिंबको पत्थरसे, काष्टसे बनाकर, चैत्यालयको लोहा, मिट्टी, चूना आदिसे बनाकर व इतर तदुचित पात्रोंको बनाकर उसके बदलेमें विपुल धनको पाकर संतुष्ट होते हैं। फिर साक्षात् देव व ऋषियोंकी सेवा करनेवाले विपुल पुण्यको क्यों नहीं प्राप्त करेंगे। अवश्य ही उन देव गुरुओंके चरणोंकी सेवा कर वे धन्य होते हैं ॥ २४१ ॥

देव व गुरु आदिके प्रति दुर्वचननिषेध

योऽपथ्यः सरुजो यथा समनुजो दुर्वाक्समंतुर्यथा ।
दुष्कर्माणि कृतानि येन स पुरा दुःखं लभेताद्भुतं ॥
दुष्टाष्टादशदोषवृत्तिरहिते जीवेऽपि देवे गुरौ ।
निर्दोषाःस्युरिवात्र सव्रतयुतास्तिष्ठंति संतस्सदा ॥२४२॥

अर्थ—रोगीने यदि अपथ्य किया तो उसका रोग बढता है, उसको भयंकर दुःख भोगना पडता है। यदि अपराधीने राजसेवकोंके साथ दुर्वचनका प्रयोग किया तो उससे उसको भयंकर दुःख अनुभव करना पडता है। पूर्वजन्ममें जिसने दुष्कर्मोंका आचरण किया उसको भयंकर दुःख भोगना पडता है । दुष्ट रागादि अठारह दोष जिनके हृदयमें नहीं है, ऐसे जीवोंके प्रति—देव व गुरु निर्दोष हैं उनके प्रति दुष्ट वचनोंका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये ॥ २४२ ॥

अन्योंसे द्वेष करनेका निषेध

येऽन्यद्विषः सुतर्पाता जीवंति स्वपरिग्रहे ।
तेषां न भातिर्मनः स्वास्थ्यं रोगादिभिर्वृथा ॥२४३॥

अर्थ—जो व्यक्ति दूसरोंका द्वेष करते हैं एवं अपने परिग्रहपर स्नेह करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं उनका हृदय अच्छा नहीं है, उनका स्वास्थ्य भी रोगादियों से युक्त होनेसे उनका जन्म व्यर्थ है ॥२४३॥

अन्यस्त्रीगुणरक्षण

सत्स्त्रीगुणमवंत्यन्ये येऽन्यस्त्रीगुणरक्षकाः ।
येऽन्यस्त्रीगुणहर्तारस्तत्स्त्रियोऽन्ये हरंत्यपि ॥ २४४ ॥

अर्थ—जो दूसरोंकी स्त्रियोंके गुणको संरक्षण करते हैं उनकी स्त्रियोंके भी गुण दूसरे रक्षण करते है। जो दूसरोंकी स्त्रियोंके गुणोंको अपहरण करते हैं दूसरे भी उनकी स्त्रियोंके गुणोंको अपहरण करते हैं॥२४४॥

पापरतोंको सुख नहीं मिलता है

षंढाः स्त्रीजनमेव राज्यमधना वृद्धाः स्त्रियो नंदना- ।
नारोग्यं गतजीविताश्च कुदृशो मोक्षं दिवं पापिनः ॥
मूकास्सद्वचनं सुशास्त्रहृदयं सत्वस्वरूपं जडाः ।
वांछंतीव जनास्सुखं सुखकरं द्रव्यं च पापरताः ॥२४५॥

अर्थ—इस लोकमें सांसारिक प्राणियोंकी परिपाटी है कि वे हमेशा उल्टे मार्गका अनुसरण करते हैं। नपुंसक लोग स्त्रियोंकी इच्छा करते हैं। दरिद्रीलोग राज्यकी कामना करते हैं, वृद्धस्त्रियां पुत्रोंको चाहती हैं। बिलकुल मरणसन्निकट मनुष्य स्वास्थ्यको चाहता है, मिथ्यादृष्टि-लोग मोक्षको चाहते हैं, पापीलोग स्वर्गको चाहते हैं। मूक लोग सुंदर वचनको बोलना चाहते हैं। अज्ञानी व मूर्ख शास्त्र व तत्व-ज्ञानकी लालसा करते हैं। इसी प्रकार पापकार्य में संलग्न सज्जन सुख व सुखकर साधनोंकी अपेक्षा करते हैं। परंतु जब उनका उद्योग उल्टी दिशा पर है तो वह सुख किस प्रकार मिल सकता है? ॥२४५॥

केवल्यादिकी निंदाका निषेध

केवल्यागमसंघदेववृषनिर्वादाद्वनादानतो ।
मर्मस्थानभवक्षतादिव सरत्यात्माप्यपुण्यो भवेत् ।

वीराक्रांतरवींदुबिंबमिव मंदाग्नौ रुजौघो यथा ॥
वर्द्धतेऽल्पबलं नृपं त्वनियतं हंति स्वसेना यथा ॥२४६॥

अर्थ—भगवान् केवली, निर्दोष आगम, चतुर्विध धार्मिकसंघ, चतुर्णिकायामर देव, सर्वहितकारी धर्म, इनकी निंदा करनेसे व इनके संबंधके धन का अपहरण करनेसे इस प्राणीको महान् दुःख भोगना पडता है। मर्मस्थानमें मार लगनेसे जिसप्रकार इस शरीरसे आत्मा निकल जाता है, उसीप्रकार यह आत्मा पुण्यरहित होता है। राहु केतुके द्वारा ग्रस्त चंद्रसूर्यके मंडलके समान निस्तेज होता है, मंदाग्नि की प्रबलता होनेपर जिसप्रकार रोगका समूह बढता है, हीनशक्तिवाले व अनियमितवृत्तिके धारक राजाको उसकी सेनाही जिसप्रकार मारती है, उसीप्रकार केवल्यादिककी निंदा करनेवालोंको दुःख भोगना पडता है ॥ २४६ ॥

देव, गुरुके प्रति विघ्न न करनेका उपदेश

विघ्नो हंत्यभवच्च रावणमृतिर्लक्ष्मणेनैव तं ।
स्मृत्वा चेतसि संविचार्य विलयो येनास्य समेरितः ॥
विघ्नदः स्वरिपौ रिपुः सुकृतिनां चोरो यथार्थे हरे- ।
द्विघ्नो यत्र भवेदविघ्नसुजनस्तेनैव नश्येरस च ॥२४७॥

अर्थ—दूसरोंके पुण्य कार्य में विघ्न उपस्थित करना व परनिंदा करना यह महान् पाप बंधके लिए कारण हुआ करता है। इसी विघ्न के कारण से लक्ष्मणके द्वारा रावण का मरण हुआ। भवितव्य टल नहीं सकता है। कहां रामचंद्र ! कहां रावण ! कहां अयोध्या और कहां लंका। दशरथके कैकयीके साथ वचनबद्ध होना, रामचंद्र और सीता को वनवासके लिए भेजना, शंबुकुमारका तपश्चर्या, लक्ष्मणको चंद्रहास खड्गकी प्राप्ति, सूर्पनखाके द्वारा रावणका बहकना, सीताप-हरण, आंजनेयके द्वारा सीतासंदेश, लंकाप्रयाण व लक्ष्मणके द्वार

रावणमरण यह सब बातें विधिके वैचित्र्यको सूचित करती हैं। रावण को विघ्नका फल भोगना ही पडा। इन बातोंको विचार कर अपने शत्रुओंके प्रति भी कोई विघ्न व अंतराय करनेके लिए प्रयत्न न करें। पुण्यात्माओंके प्रति दुष्टजन विघ्न उपस्थित करते हैं जिस प्रकार कि चोर दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करता है, परंतु वह दुष्टजन दूसरोंको विघ्न करनेमें स्वयं नष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि अपनी भलाई चाहनेवाले देव, गुरु, धर्मके प्रति कोई विघ्न उपस्थित न करें ॥२४७॥

विधिकी विचित्रता

कोऽयं किं बलमस्य केऽत्र सुहृदोऽपिशः कियंतस्सुता।
दक्षाः किं क इनः स्वबांधवजनाः के तेऽर्थिनः पेशलाः।
स्मृत्वांतक्षतिरेव कैरिति सदा तत्रैव तैः कारयेत्।
साचेत्कैरपि नास्तिवैरमखिलेष्वेवं विधिस्तामयात् ॥२४८॥

अर्थ—विधि बहुत विचित्र है, वह मनुष्यको किस समय क्या दुःख देना है इसकी व्यवस्था पहिलेसे कर लेता है, वह पहिलेसे विचार करता है यह कौन है ? इसकी शक्ति क्या है ? इसके मित्र कौन है ? वे कितने हैं, इसके शत्रु कौन हैं ? और कितने हैं, पुत्र कितने हैं ? और वे स्वधर्मव्यवहार कार्यमें कुशल हैं या नहीं ? इसके स्वामी कौन हैं ? कौन इसके बांधव हैं ? याचकजन कौन हैं ? इत्यादि बातोंको विचार कर यह भी विचार करता है कि इस समय किनसे इसका अहित हो सकता है, उनसे अहित कराता है। यदि उस समय कोई अहित करनेवाले नजर न आवें दुष्ट रोगादिक बाधाओंको लाकर पटक देता है ॥ २४८ ॥

धर्मकार्योंमें विघ्न न करनेका उपदेश

स्वस्वार्थं स्वसुतं स्वदं स्वपितरं स्वां मातरं स्वानुजं।
स्वां दासीं स्वपशुं च हंति दहति स्वावासमेषां गदान् ॥

आद्त्तेऽर्थहरान्नृपादिभिरलान्यकारयत्यन्वहम् ।
स्वं गेहं स्वपुरं स्वदेशमखिलं विघ्नो कृपाणोर्जितः ॥ २४९ ॥

अर्थ—धर्मकार्यके लिए उपस्थित किया हुआ विघ्न बहुत बुरे फलको अनुभव कराता है । अपने, अपने पुत्र, अपनी भार्या, अपने पिता, अपनी माता, अपने भाई, अपनी दासी, द्विपद चतुष्पदादि पशु, आदिको वह मार डालता है, अपने आवास स्थानको जला डालता है । उसके घरपर अनेक भयंकर रोगोंको उत्पन्न करता है । चोरोंको प्रवेश कराता है, राजाके द्वारा अपमान कराता है, अपने घरपर, नगर में, देशमें सर्वत्र उसे कष्ट उठाना पडता है । इसलिए देव, ऋषि, धर्मकार्यमें विघ्न उपस्थित नहीं करना चाहिये ॥ २४९ ॥

मृत्युः सर्वबलस्य नास्ति समरे केषांचिदस्त्यंगिनां ।
भुक्तानां न गदोस्ति नामयवतामंतोऽखिलास्सूनवः ॥
किं जीवंति वसंति किं युवतयो भोगोचिताः किं जनाः ।
श्रीमंतः किमिमे भवंति महता विघ्नेन नानाविधाः ॥२५०॥

अर्थ—युद्धमें जितने जाते हैं उन सबका मरण नहीं हुआ करता है, उनमेंसे किसीका मरण होता है । भोजन करनेवाले सबको रोग नहीं हुआ करता है । किसी किसीका होता है। उत्पन्न हुए पुत्र सबके सब जीते नहीं, कोई कोई जीते हैं । स्त्रियां सबके सब भोगोचित नहीं हुआ करती हैं । उनमेंसे कोई ही हुआ करती हैं । मनुष्य सबके सब श्रीमंत नहीं हुआ करते हैं । कोई २ ही हुआ करते हैं । इस प्रकार देव, गुरु व धर्मके प्रति किए हुए विघ्न व अपराधके फलसे अनेक प्रकारकी विचित्रता लोकमें देखी जाती है । तदनुसार फल इस जीवको अनुभव करना पडता है ॥ २५० ॥

चोरस्तस्करागतं धनमरिर्हस्तागतं हंति वा ।
व्याघ्रो गोनिवहंक्रमेन रुणयः सेनाजनैकं यथा ॥

दोषोऽन्तरायमनोरथागतमिदं द्रव्यं सजीवादिकं ।
गेहं वा पुरमेव वा स्वविषयं संदापयेच्छत्रवे ॥ २५१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चोर अपने हाथमें आये हुए द्रव्यको अपहरण कर ले जाता है, शत्रु हाथमें आये हुएको मार डालता है, व्याघ्र पशुओंके समूहको मारता है, बाण सेनाजनको मारता है, उसी प्रकार पुण्यकार्य में किये हुए अंतरायका दोष मनुष्यके मनोरथको मारता है अर्थात् उसकी इष्टसिद्धि नहीं होने देता, धन अपहरण करता है। सजीव द्विपद चतुष्पदादिजीवोंको मारता है, अपने घर, नगर व देशको शत्रुवोंके हाथमें दिलाता है, इस प्रकार अंतरायका बहुत बुरा फल होता है ॥ २५१ ॥

स्वामिन्नोऽस्ति पुरः किमस्ति विलयः केनापि द्वीपायना-
न्मृत्युस्ते जलविष्णुना यदिदिमां श्रुत्वा तदुक्तिं तदा ।
द्वैपः स्वामिनि चोदपादि वदतो विष्णोर्वचस्तौ श्रुते—
र्भूत्वैकः शबरो मुनिः खलु तयोर्निर्जग्मतुस्तत्पुरात् ॥२५२॥
द्वारावतीं सा मुनिनैव दग्धा कृष्णस्य मृत्युर्जलविष्णुनैव,
विघ्नस्य वैचित्र्यमिदं प्रसिद्धं विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥२५३॥

अर्थ—कृष्णचंद्रने जाकर मुनिनाथसे पूछा कि स्वामिन् ! क्या हमारी द्वारावतीका नाश किसीके द्वारा होगा ? मुनिराजने उत्तर दिया कि द्वीपायनके द्वारा द्वारावतीका नाश होगा। मेरा मरण किससे होगा, यह पुनः कृष्णने पूछा। मुनिराजने उत्तर दिया कि जलविष्णुके द्वारा होगा। इस प्रकार मुनिराजके वचनको सुनकर उन मुनिराजोंके प्रति ही क्रुद्ध होते हुए जो वचनको कृष्णचंद्र बोल रहा था, उसे सुनकर द्वीपायन व जलविष्णु उस नगरसे बाहर निकल गये। उनमेंसे एक तो भिल्ल बनकर चला गया और एक मुनिदीक्षा लेकर चला गया। प्रकृतिके वैचित्र्यको देखिये।

द्वारावती तो अशुभ तैजसऋद्धिप्राप्त उस मुनिके द्वारा ही जलगई। और कृष्णचंद्रका मरण भी उसी जत्कुमारके द्वारा ही हुआ। अंतरायका वैचित्र्य लोकमें प्रसिद्ध है, वह फल दिये विना नहीं छोड सकता। लोकमें यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि विनाशकालमें मनुष्यको विपरीत बुद्धि सूझा करती है। मनुष्य चाहता है कुछ, होता है और कुछ, सब कुछ विधिविलसित हुआ करते हैं। उससे अघटितघटना विघटित होती है। इसप्रकार विचार कर मनुष्यको सदा शुभ आचरणमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ २५२-२५३ ॥

मतं समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतै-
प्रभासुरं पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ २५४ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले दानी श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २५४ ॥

इति करणत्रयलक्षणलसिताहारदानविधिः

—*—

औषधदानविधानम्

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

नत्वा जिनं जिनमुनीनखिलागमज्ञान् ।
वक्ष्ये मुनींद्रतनुरोगहरीं चिकित्साम् ॥
यूषैः कषायखलचूर्णसुकल्कपथ्यै-
स्तां दोषशांतिकरणैर्यतिनां प्रकुर्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री जिनेंद्र भगवंतको एवं संपूर्णशास्त्रोंके पारगामी मुनीश्वरोंको नमस्कारकर मुनीश्वरोंके शरीर में उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी चिकित्साका निरूपण करेंगे । ऋषियोंको निर्दोष औषधिको सेवन करना पडता है, अतः उनकेलिये योग्य यूष, कषाय, खल, चूर्ण, कल्कोंसे शरीरके वात पित्त कफादिक दोषोंकी उपशांति करनी चाहिये ॥

उत्कृष्टजैन

आधिं पूतवचोभिरिष्टधनदानैर्योचयित्वैव यः ।
सौचित्तीकरणं करोति खलु वैयावृत्यमुक्तं जिनैः ॥
पात्राणां विमलौषधैरनुगुणैः पथ्यैः सुखैस्तैर्गदान् ।
भक्त्या वत्सलतागुणेन सुकृती जैनोऽधिकः सन्स च ॥२॥

अर्थ—पात्रोंके मनमें संक्लेश परिणाम है उसे भक्तिपूर्ण मृदुवचनोंसे एवं उनके योग्य संयमोपकरण व ज्ञानोपकरणको प्रदान कर, उनके परिणामको निर्मल बनाना उसे वैयावृत्य कहते हैं । पात्रोंको शरीरमें जो रोग है उनको उनके लिए अनुकूल पथ्य, सुखकर औषधियोंको देकर भक्ति व वात्सल्यगुणसे दूर करें । उसीको उत्कृष्ट जैन कह सकते हैं ॥ २ ॥

वात्सल्यगुण

भक्तिसंपचिरर्थित्वमिष्टोक्तिः सक्रियाविधिः ।
स्वधर्मस्वक्षिसौचित्त- कृतिर्वात्सल्यमूचिरे ॥ ३ ॥

अर्थ—दाताके हृदयमें जो भक्ति है, उदारता है, पुण्यफलापेक्षता है, प्रियवचन है, दान देनेकी यथार्थविधि है एवं पात्रोंके हृदयको प्रसन्न करनेकी भावना है, उसे वात्सल्य कहते हैं ॥ ३ ॥

पुत्रस्तातं सुतमिव पिता रोगिणं प्राणकांतां।
ग्लानां भर्ताप्यनुगुणगणैर्बंधुवर्गैश्च धृत्वा ॥
काश्चित्क्षीरं दधिघृतमिदं ग्राहि निंबूफलेक्षून्।
वैयावृत्यं रचयति सदा रोगिणां योगिनां च ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुत्र पिताकी सेवा करता है, पिता रोगी पुत्रकी परिचर्या करता है, रोगपीडित भार्याकी पति जिस प्रकार अपने बंधुबांधवोंकी सहायतासे रक्षा करता है, इसी प्रकार दही, दूध, घृत, निंबूफल, इक्षु आदि प्रदान करते हुए रोगी व योगियोंकी सेवा शुश्रूषा करें। अर्थात् योगियोंकी रोगावस्थामें हरतरहसे सेवा करनी चाहिये। आहारके समय, उनकी प्रकृतिके अनुकूल भोजन व निर्दोष औषध प्रदान करना चाहिये ॥ ४ ॥

आदरगुण.

स्वाध्याये स्वाध्यायिनि संयमिनि गुरुषु संघे च।
अनतिक्रममौचित्यं कृतयोगः प्राहुरादरं विनयं ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने साथी यतियोंके साथ, अर्जिकाओंके साथ, गुरुओंके साथ, संयमियोंके साथ एवं संघके साथ औचित्यको उल्लंघन न करके व्यवहार करना उसे आदर कहते हैं या विनय कहते हैं ॥५॥

यथोचितं संयमवेक्ष्य धार्मिकः करोति तोषं विनयं न जातुचित्।
स एव मूर्खः स च नैव धार्मिको न च व्रती नो समयी सुदृक् च न ॥

अर्थ—जो व्यक्ति संघको देखकर संतुष्ट नहीं होता है एवं संघका विनय नहीं करता है, वही मूर्ख है, वह धार्मिक नहीं है।

व्रती भी नहीं है, शास्त्रज्ञ भी नहीं है, सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। संघका आदर विनय करना सम्यग्दृष्टि भव्योंका कर्तव्य है ॥ ६ ॥

साधुओंको औषधि देनेकी विधि

यावज्जीर्यति भेषजं रसभवं पीतं तु भुक्त्वाशनं।
तावत्तिष्ठति सामयो हरति तद्रोगं विधत्ते बलम् ॥
भुंक्ते भेषजमन्नमेकसमयेऽजीर्णेपि तस्मिन्यते-।
स्तद्रोगाधिकतां च कानपि गदान्कुर्यात्सदा संहिताम् ॥७॥

अर्थ—आयुर्वेदशास्त्रका सामान्य नियम ऐसा है कि जो औषध ग्रहण किया जाता है, उस औषधिका पचन होनेके बाद ही आहारको ग्रहण करना चाहिये। तभी उस औषधिसे अनेक रोग दूर होते हैं एवं शरीरको बलप्रदान करता है। यदि औषधिके जीर्ण होनेके पहिले ही आहार ग्रहण किया तो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जैनमुनि एकवार ही भोजन करते हैं। भोजनके समय ही औषध भी उनको लेना पडता है, औषध और आहार एक साथ लेनेके कारणसे औषधके जीर्ण न होनेसे रोगकी वृद्धी होनेकी संभावना है व इतर अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी संभावना है। इसलिए जैन साधुओंको आहारके समय औषध देना हो तो संहिताप्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥ ‡

भक्तादि औषधिसेवनफल.

प्रातरिहौषधं बलवतामखिलामयनाशकारणं।
प्रागपि भक्ततो भवति शीघ्रविपाककरं सुखावहम् ॥
ऊर्ध्वमथाशनादुपरि रोगगणानपि मध्यगं।
स मध्याशयगान्विनाशयति दत्तमिदं भिषजा विजानता ॥८॥

---

‡ भुंक्ते मुनिस्त्वशनभेषजमेककाले
तस्मात्तदौषधफलं न हि किंचिदस्ति।
जीर्णौषधं हरति तत्कुरुते बलं चा-
जीर्णं रुजाधिकमतो न रसः प्रशस्तः ॥

अर्थ—जिनमुनियोंकी चिकित्सामें प्रवीण वैद्यको जानना चाहिये कि प्रातःकाल लिया हुआ औषध जिनका कोष्ठ, अग्नि व देहकी शक्ति विशिष्ट हो उनके समस्त रोगोंको नाश करता है, भोजनसे पहिले लिया हुआ औषध शीघ्र भोजनको पचाता है व सुखकर है। भोजनके बाद लिया हुआ औषध बादमें आनेवाले सर्व रोगोंको दूर करता है। भोजनके बीचमें लिया हुआ औषध कोष्ठमध्यमें स्थित अनेक रोगोंको दूर करता है ॥ ८ ॥

अंतरभक्तादिफल

आंतरभक्तमौषधमथाग्निकरं परिपीयते तथा।
मध्यगते दिनस्य नियतोभयकालसुभोजनांतरे ॥
औषधरोपिबालकृशवृद्धजने सहसिद्धमौषधैः।
र्देयमिहाशनं तदुदितं स्वगुणैश्च सभक्तनामकं ॥ ९ ॥

अर्थ—अंतरभक्त उसे कहते हैं जो सुबह शामके नियत भोजनके बीच ऐसे दिनके मध्यसमयमें सेवन किया जाता है। यह अंतरभक्त अग्निको अत्यंत दीपन करनेवाला, [हृदय-मनको शक्ति देनेवाला पथ्य] होता है। जो औषधोंसे साधित [क्वाथ आदिसे तैयार किया गया या भोजनके साथ पकाया हुआ] आहारका उपयोग किया जाता है उसे सभक्त कहते हैं। इसे औषधद्वेषियोंको [दवासे नफरत करनेवालोंको] व बालक, कृश, वृद्ध, जनोंको देना चाहिये॥९॥

भोजनसमय

विण्मूत्रे च विनिर्गते विचलिते वायौ शरीरे लघौ।
शुद्धेऽपींद्रियवाङ्मनःसुशिथिले कुक्षौ श्रमव्याकुले ॥
कालासम्यग्दानं मति प्रतिदिनं ज्ञात्वा सदा देहिना-।
माहारं विदधीत शास्त्रविधिना वक्ष्यामि युक्तिक्रमं ॥ १० ॥

अर्थ—जिस समय शरीरसे मलमूत्र का ठीक २ निर्गमन हो, अपानवायु भी बाहर छूटता हो, शरीर भी लघु हो, पांचों इंद्रिय

प्रसन्न हो, लेकिन बचन व मनमें शिथिलता आगई हो, पेट भी श्रम (भूक) से व्याकुलित हो, तथा भोजन करने की इच्छा भी हो, तो यही भोजन का योग्य समय जानना चाहिये। उपर्युक्त लक्षण की उपस्थिति को ज्ञात कर उसी समय आयुर्वेदशास्त्रोक्तभोजनविधिके अनुसार भोजन करें। आगे भोजनक्रमको कहेंगे ॥ १० ॥

भोजनविधि.

स्निग्धं यन्मधुरं च पूर्वमशनं भुंजीत भुक्तिक्रमे।
मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चात् शेषान्रसान ॥
ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतलं स्वच्छे स्थिरस्तत्परः।
क्षिप्रं कोष्णमयं द्रवोत्तरतरं सर्वर्तुसाधारणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—भोजन करने के लिये जिसपर सुखपूर्वक बैठ सके ऐसे साफ आसनपर स्थिरचित्त होकर अथवा स्थिरतापूर्वक बैठें। पश्चात् अपनी प्रकृति व बलको विचार कर उसके अनुकूल थोडा गरम [अधिक गरम भी न हो न ठण्डा ही हो] सर्व ऋतु के अनुकूल ऐसे आहार को, शीघ्र ही [अधिक विलंब न भी हो व अत्यधिक जल्दी भी न हो] उस पर मन लगाकर खावें। भोजन करते समय सबसे पहिले चिकना, व मधुर अर्थात् हलुआ, खीर, बर्फी, लड्डू आदि पदार्थों को खाना चाहिए। तथा भोजन के बीचमें नमकीन, खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजोंको व भोजनान्त में दूध आदि द्रवप्राय आहार खाना चाहिये ॥ ११ ॥

भुक्त्वा वैदलमुग्मभूतमशनं सौवीरपायीभवे- ।
न्मर्त्यस्त्वोदनमेवचाभ्यवहरंस्तक्रानुपानान्वितः ॥
स्नेहानामपि चोष्णतो यदमलं पिष्टस्य शीतं जलं ।
पीत्वा नित्यसुखी भवत्यनुगतं पानं हितं प्राणिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—भोजनमें दालसे बनी हुई चीजोंका ही, मुख्यतया उपयोग करना

चाहिए। खाते वखत कांजी पीना चाहिये । भात आदि खाते समय, तक्र (छाच) पीना योग्य है। घी आदिसे बनी हुई चीजोंसे भोजन करते हुये; या स्नेह पीते समय, उष्ण जलका अनुपान करलेना चाहिये। पिट्टी से बने पदार्थोंको खाते हुए ठण्डा जल पीना उचित है। प्राणियों के हितकारक इस प्रकारके अनुपान का जो मनुष्य नित्य सेवन करता है वह नित्य सुखी होता है ॥ १२ ॥ *

औषधिदानफल

दत्तं येन सुभेषजं मविमलं पथ्यं गुरुभ्यां सतां ।
मुक्तास्तेन गदास्ततोऽति विमलं चित्तं सुरत्नत्रयम् ॥
पूतं जातमखंडितं धृततपोध्यानं हतं दुष्कृतम् ।
लब्धं तेन समस्तमेव सहसा नित्यं सुखं लभ्यते ॥१३॥

अर्थ—जिस पुण्यवान् दाताने साधुवोंको उनके रोग, शरीरप्रकृति आदिको देखकर आहारके समय योग्य, पवित्र, पथ्यकर, औषध दे दिया, उससे वे साधु रोग मुक्त होते हैं, इतना ही नहीं उनका चित्त निर्मल होता है, उससे रत्नत्रयकी विशुद्धि होती है, उससे अखंडित तप व ध्यानकी सिद्धि होती है। दुष्कृत अर्थात् पाप नष्ट होता है। पापके नष्ट होनेसे ध्यानकी सिद्धि होती है, उससे नित्य सुखको वे प्राप्त करते हैं। औषधदानके देनेवाले दाताके उस निर्मल दानसे उस पात्रको जब साक्षात् मोक्ष मिलता है तो फिर दाताको उत्तम फल क्यों नहीं मिलेगा ॥ १३ ॥

* टीप—इस प्रकरणके श्लोक नं. ८-९ उग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक के २० वें अध्यायमें १८ व १९ वें श्लोक हैं। उक्त कल्याणकारकके चौथे अध्यायमें १६-१७-१८ वे श्लोक हैं।

× भेषजदानफलोदयतः स्यात्सत्त्वपरः सकलामयदूरः ।
शंखरवींदुझषांकुशपद्माद्यक्षयलक्षणकाशितगात्रः ॥ १४ ॥

अर्थ—औषध दानके फलसे यह मनुष्य समस्तरोगोंसे रहित होकर हृष्ट पुष्ट शक्तियुक्त शरीरको प्राप्त करता है। उसके शरीरमें शंख, सूर्य, चंद्र, मत्स्य, अंकुश, कमल आदि उत्तम लक्षणोंके चिन्ह रहते हैं, वह भाग्यशाली होता है ॥ १४ ॥

‡ पात्रनिंदासे रोग दूर नहीं होता है.

रोगी मुंचति भेषजोऽत्र भिषजा दत्तौषधैरेव सोऽ-
प्यंहोजस्त्वगदैर्न मुंचति पुनर्दानार्हदर्चादिभिः ॥
नो रुक्साधुजनव्यथामयकृतावज्ञाभरो मुंचते ।
गर्भिण्यावधिपीततैलविभवो तत्कालबन्धीव सा ॥ १५ ॥

अर्थ—संसारीजीवोंको योग्य वैद्यने औषध दिया तो उस औषधिसे वह रोग दूर होता है। यदि वह रोग पात्रदूषणादिसे उत्पन्न पापसे प्राप्त हो तो वह औषधप्रदानसे दूर नहीं होता है। और यदि पात्रदान, अर्हत्पूजादिकी अवहासे एवं साधुजनोंके रोगको देखकर भी तिरस्कार परिणामकर उत्पन्न हुआ हो तो वह औषधसे भी दूर नहीं होता है। जिस प्रकार गर्भिणीके द्वारा पीया हुआ तैल उसकी प्रसव

× चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायविनयौ नयः।
सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्तं येनौषधं सतां ॥ १ ॥
सद्भेषज्यसुदानतः परभवे मुक्तस्त्रिपीडादितो।
नीरोगश्चकुलानलोऽतिबलवान् स्वेदादिबाधोज्झितः॥
शंखार्केदुझषांकुशांबुजमुखाद्यक्षूणलक्ष्मांकितः
स्यात्सत्पुण्यभवप्रभावबलतो निर्मुक्तशत्रुः सदा ॥ २ ॥
‡ पात्रादिरोगमाकर्ण्य य उदासीनं ईक्ष्यते ॥
न चिकित्सति तस्यापि रोगोऽसाध्यो भवे भवे ॥ १ ॥

वेदनाको दूर करता है, इसी प्रकार काललब्धिके आनेपर ही यह रोग दूर होता है ॥ १५ ॥

दुष्टजन

भूपे सेवकसंकुलेऽत्र धनिके ग्रामप्रजामेपके ।
चाकृष्टे धनहर्तरीह सशमास्तिष्टंति मौनान्विताः ॥
निर्बीजं विवदंति चोभयभवस्वात्मार्थपुण्यार्थिभि- ।
स्त्वाक्रोशंत्यतिदूषयंति कुदृशस्तान्पापवित्तार्थिनः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस कलिकालमें काष्ठांगारके समान मिथ्यात्वसे दूषित व्यक्ति पापसे द्रव्यार्जन करनेकी इच्छासे दुष्ट राजाने, सेवकोने, धनिकोने, गांवके प्रजासंरक्षकोने या चोरोने कोई धनका अपहरण किया या कोई गालियां दी तो कुछ भी प्रत्युत्तर न देकर शांति धारण कर मौनसे बैठे रहते हैं। परंतु उभयभवके हितको साधन कर देनेवाले अपने धर्मात्मा बंधुवों के साथ अकारण ही विवाद करते हैं। उनको गाली देते हैं। उनका दूषण करते हैं ॥ १६ ॥

श्रुत्वा ज्ञात्वा पुराणं प्रतिदिनमपि नः श्रेणिकादिप्रपंचं ।
यात्यात्मैकां गतिं वानृतमिदमखिलं काललब्धिप्रधानं ॥
धर्मः सर्वो वृथा स्यादिति विदितजना जैनबंधूनधाज्ञं ।
घ्नंत्याक्रोशंति निंदंति हि सकलधनं दंडयंत्याहरंति ॥१७॥

अर्थ—पापक्रिया करनेकी इच्छा रखनेवाले पापी रात्रिदिन विचार किया करते हैं, प्रतिदिन पुराण व शास्त्रको सुनकर व जानकर भी श्रेणिकादि अपने कर्मके अनुसार किसी गतिमें गये अर्थात् नरकमें गये। इसलिए यह सब झूठा है। काललब्धि एक मात्र प्रधान है। धर्म वगैरह सर्व व्यर्थ है, ऐसा अपने अज्ञानसे समझकर व्यर्थ ही अकारण अपने हितैषी बंधुवों को कोसते हैं, मारते हैं, उनकी निंदा

करते हैं, दंड देते हैं, धन अपहरण करते हैं। यह कालकी विचित्रता है ॥ १७ ॥

मतं समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतैः
प्रभासुरं पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ १८ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमाने की इच्छा रखनेवाले दानी श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ १८ ॥

इत्यौषधदानविधानम् ॥

—०—

अथ शास्त्रदानविधानम्.

शास्त्रकी निरुक्ति

शास्त्वनुशिष्टौ धातुः शास्ति हितं भव्यजीवसुखहेतुं ।
शासनमिव तत्रायत इति शास्त्रमदोषमखिलदोषहरम् ॥ १ ॥

अर्थ—शास धातु अनुशासन अर्थ में प्रयुक्त होता है । अर्थात् वह भव्य जीवोंके लिए सुखके हेतुभूत हितको उपदेश देता है । एवं शासनके समान भव्य प्राणियोंकी रक्षा करता है, अत एव वह शास्त्र समस्त अज्ञानादिक दोषको दूर करनेवाला होने से निर्दोष है ॥१॥

शास्त्रका महत्व

शास्त्रादेव हि तत्त्वार्थ-श्रद्धानं ज्ञानमांजसम् ।
ज्ञानपूर्वं हि चारित्रं धर्मः शास्त्रादिति स्थितिः ॥ २ ॥

अर्थ—शास्त्रोंके पठन व श्रवण करनेसे ही तत्वार्थश्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन व निर्मलज्ञानकी प्राप्ति होती है । ज्ञानपूर्वक चारित्र होता है । इसलिए रत्नत्रयात्मक धर्मकी स्थिति शास्त्र से ही होती है ॥२॥

धर्मक्रियायोंकी सिद्धि

दानं पूजा तपः शीलं साधुसम्यक्त्वपूर्वकम् ।
तच्च शास्त्रादतः शास्त्र-मूलधर्मक्रियाखिला ॥ ३ ॥

अर्थ—दान, पूजा, तप व शील ये सब गुण सम्यक्त्वपूर्वक प्राप्त होते हैं । वह सम्यक्त्व शास्त्र के श्रवण व पठन से प्राप्त होता है। इसलिए संपूर्ण धर्मक्रियायें शास्त्रमूलक ही सिद्ध होतीं हैं ॥ ३ ॥

केवलज्ञानकी सिद्धि

एकतः शेषदानानि पूजा शीलं तपोऽखिलं ।
एकतः शास्त्रदानात्स्यात् केवलज्ञानसाधनम् ॥ ४ ॥

अर्थ—एक ही शास्त्र दानसे अन्य सभी दानोंकी सिद्धि होती है। विशेष क्या ? केवल शास्त्रदान से केवलज्ञानकी भी प्राप्ति होती है ॥

मिथ्याज्ञाननाश

मिथ्याज्ञानतमोमूढो बंभ्रमीति भवार्णवे।
मिथ्याज्ञानतमोध्वंसी शास्त्रज्योतिर्न चापरम् ॥ ५ ॥

अर्थ—मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारसे यह मूर्ख जीव इस संसारसमुद्रमें परिभ्रमण करता है। यह शास्त्र ही मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेके लिए उज्ज्वल दीपकके समान है। अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ५ ॥

शास्त्रप्रकाशन

शास्त्रप्रकाशने तस्माद्ध्रुवं धर्मः प्रकाशितः।
धर्मे प्रकाशिते सर्वे पुरुषार्थाः प्रकाशिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—शास्त्रके प्रकाशन करने से उससे धर्मका प्रकाशन अपने आप होता है अर्थात् लोग धर्मके तत्वसे परिचित होते हैं। धर्मका प्रकाशन करनेपर समस्त पुरुषार्थ प्रकाशित होते हैं। अर्थात् समस्त जीवोंका उपकार होता है। इसलिए शास्त्रप्रकाशन का महत्व अधिक है ॥ ६ ॥

लोकका उपकार

पुरुषार्थोपदेशे हि लोकस्योपकृतिर्भवेत्।
ततो लोकोपकारार्थं शास्त्रमार्या वितन्वते ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम व मोक्षपुरुषार्थके उपदेश देने से लोकका उपकार होता है। इसलिए लोकके उपकारके लिए सज्जन लोग शास्त्रदान करते हैं एवं इसीलिए पूर्वाचार्य शास्त्रकी रचना व व्याख्यान करते हैं ॥ ७ ॥

लोकका उद्धार

अपि तीर्थकरास्तीर्थमुद्धरंति जगद्धितम् ।
अत एव हि ते पूज्याः सर्वलोकैश्च योगिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें तीर्थंकर परमेष्ठी भी द्वादशांगादिशास्त्रका उद्धार जगत्के हितके लिए ही करते हैं। इसलिए ही वे समस्त संसार के प्राणियोंसे व मुनीश्वरोंके द्वारा पूज्य होते हैं ॥ ८ ॥

शास्त्रप्रतिष्ठा

शास्त्रे प्रतिष्ठिते साक्षान्ननु धर्मः प्रतिष्ठितः ।
स्वात्मा प्रतिष्ठितो भव्यलोकश्चापि प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

अर्थ—शास्त्रकी प्रतिष्ठा करनेपर साक्षात् धर्मकी स्थापना होती है। अपने आत्माकी प्रतिष्ठा होती है। जिसमें भव्य लोगोंकी भी प्रतिष्ठा होती है ॥ ९ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन धर्मः शास्त्रात्प्रवर्तते ।
ततो धर्मार्थिनः शास्त्रमुद्धरंतु प्रयत्नतः ॥ १० ॥

अर्थ—इस संबंधमें विशेष क्या कहें ? धर्मकी प्रवृत्ति शास्त्रसे ही होती है। इसलिए धर्मको चाहनेवाले सज्जन यत्नपूर्वक शास्त्रका उद्धार करें ॥ १० ॥

शास्त्रदानफल.

ये संलिखंतीह विलेखयंति व्याख्यांति शृण्वंति पठंति शास्त्रम् ।
अर्चंति शंसंति नमंति तेऽर्थान्पचंछंति शास्त्राब्धितटं गताः स्युः ११

अर्थ—जो सज्जन शास्त्रको लिखते हैं, लिखाते हैं, व्याख्यान करते हैं, सुनते हैं, पढते हैं, पूजा करते हैं, प्रशंसा करते हैं, नमस्कार करते हैं, शास्त्रके निमित्तसे द्रव्यका दान करते हैं, वे शास्त्रसमुद्रके तटपर पहुंचते हैं अर्थात् समस्तशास्त्रमें पारंगत होते हैं ॥ ११ ॥

विद्वद्भ्यो ददते नित्यं लिखिताऽलिखितानि ते।
पुस्तकान्युचितानि स्युः शास्त्रवाराशिपारगाः ॥१२॥

अर्थ—जो सज्जन लिखित व अलिखित शास्त्रोंको ज्ञानोपार्जन करनेके लिए विद्वानोंको प्रदान करते हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी होते हैं ॥ १२ ॥

लिखितं पुस्तकमलिखितमंबरनाराचकंटगुणमंजूषाः।
ये ददते ते पुरुषा जिनशास्त्रपयोधिपारगा एव स्युः ॥१३॥

अर्थ—जो सज्जन साधुसंतोंके लिए ज्ञानार्जनके साधनभूत लिखित शास्त्र, अलिखित शास्त्र, वस्त्रवेष्टन, लोहकंटक आदि दानमें देते हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी होते हैं ॥ १३ ॥

भक्ती राज्ञि वृथा भवेद्बहुविधा यच्छंति सेवा यथा ।
सप्तांगं सफलं तथा जिनपतौ धर्मप्रभावोत्सुके ॥
धर्मे धर्मवलद्वये गुरुवरे साधौ सदा धार्मिके । ..
शास्त्रे शास्त्रिणि पुस्तकेषु पठति व्याख्यातरि श्रोतरि॥१४॥
पापं नाशयितुं सुखं च सुकृतं लब्धुं सुबोधांबुधेः ।
पारं गंतुमिमां रुजां जडमतिं हंतुं स भव्यो जनः ॥
वर्णाभ्यासकरे तुजां जनपतौ नार्थव्ययस्यावधिं ।
कुर्यात्सेत्रविधाविमास्तदुचिताः पूतक्रिया भक्तितः॥१५॥

अर्थ—जिसप्रकार राजाके प्रति की हुई सेवारहित भक्ति व्यर्थ होती है, यदि वही भक्ति सेवासहित की गई तो उससे अनेक प्रकारके फल मिलते हैं। इसीप्रकार जिनेंद्रभगवंत, धर्मप्रभावनातत्पर साधर्मी भाई, धर्म, धर्माश्रित स्वपर बंधुगण, गुरुजन, साधुगण, धार्मिकजन, शास्त्र, शास्त्री, पुस्तक, पढनेवाले, व्याख्यान करनेवाले, और श्रोता आदिकी सेवा भव्यजन पापके नाशकेलिए, पुण्यकी वृद्धिकेलिए, सुखकी

प्राप्ति के लिए, ज्ञानसमुद्रके पार जानेके लिए, समस्त रोग व अज्ञानको दूर करनेकेलिए, अवश्य करें। जिसप्रकार अपने पुत्रके विद्याभ्यास व अपनी खेतके संरक्षणकेलिए मनुष्य धनव्ययका विचार नहीं किया करता है उसी प्रकार इन पवित्र कार्योंकेलिए धनव्ययकी मर्यादा नहीं रखनी चाहिये ॥ १४ ॥ १५ ॥ +

विनयका महत्व

अंकुरयति पल्लवयति व्याप्नोति पुत्रजडबुद्धिः।
बहुफलति सरसगोहलवीर्येणलेव विनयधनदानात् ॥१६

अर्थ—जिसप्रकार जमीनमें खातके डालनेसे सस्यकी समृद्धि होती है, उसीप्रकार अज्ञानी बालकोंकी जडबुद्धिमें विनयरूपी धनके प्रदान करने से वह अंकुरित होती है, पल्लवित होती है। उसका विकास होता है। अतः विनयगुणको धारण करना आवश्यक है ॥ १६ ॥

शास्त्रपठनयोग्यस्थान

सौधे नगे वने रम्ये मंदिरे विमले स्थले।
शास्त्राणि पठतां नित्यं बुद्धिरंकुरयत्यहो ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य! प्रतिनित्य महलमें, पर्वतपर, वनमें, मल मूत्र उच्छिष्टादिरहित निर्मलस्थानमें जो प्रतिनित्य शास्त्रका स्वाध्याय करता है, उसकी बुद्धि अंकुरित होती है, अर्थात् उसके ज्ञानमें निर्मलता बढती है ॥ १७ ॥

पुस्तकादि दानफल

पठतामुपदेष्टॄणां पुस्तकगृहंचित्रदेहरक्षणविधिः।
यः कुरुते सुमनस्त्वं सम्यग्ज्ञानं स मोक्षमपि लभते ॥१८॥

+ संप्रत्यत्र न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-।
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिताः ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालंबनं।
तत्पूजा जिनवाक्यपूजनतया साक्षाज्जिनः पूजितः ॥

अर्थ—जो सज्जन पढनेवाले व उपदेशदेनेवाले विद्वानोंको पुस्तक, घर, देहसंरक्षणके साधन आदिको प्रदान कर उनको निराकुल बनाते हैं, वे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करते हैं, एवं क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करते है ॥ १८ ॥

गुरुभक्तिका फल

निजगुरुपदसद्भक्तिर्यस्य सदा वसति बुद्धेर्जाड्यम् ।
सुगुरुप्रसादमेनोस्तमोऽपसरतीव सुमतिमालभते ॥१९॥

अर्थ—जिसकी भक्ति अपने गुरुके चरणोंके प्रति सदा काल रहती है उसकी बुद्धि की जडता शीघ्र ही गुरुके प्रसादसे दूर होती है। जिसप्रकार सूर्यके उदयसे अंधकार दूर होता है उसी प्रकार उसका अज्ञान दूर होकर वह सुबुद्धि को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

सज्जन कभी शास्त्राध्ययन छोडते नहीं

मर्त्या दीपनमस्ति नैव भुवने मुंचंति किं भोजनम् ।
रोगोऽसाध्य इहाभवद्यदहितं जेमंति किं लौकिकाः ॥
उद्योगो बहुदोषदोपि सकलोद्योगांस्त्यजंतीति किं ।
यच्छास्त्रश्रुतिपाठमल्पमतयस्संतस्त्यजंतीति किं ॥२०॥

अर्थ—इस लोकमें पाचनशक्ति न हो तो क्या मनुष्य भोजन करना छोडते हैं ? नहीं । रोग असाध्य हुआ जानकर अपथ्यपदार्थोंका सेवन करते हैं ? कभी नहीं । बहुतसे दोषपूर्ण उद्योगोंको जानकर समस्त उद्योगोंको छोडते है ? कभी नहीं । इसी प्रकार अपनी बुद्धि मंद व अल्प जानते हुए भी सज्जन शास्त्रोंका श्रवण व पठनको छोडते हैं ? कभी नहीं ॥ २० ॥

पुत्रका अज्ञान दूर करनेका उपदेश

तमो निवार्य सकलमिवार्को दर्शयन्करैः ।
तुजां पितेव ज्ञानार्को जीवादिद्रव्यमुल्बणम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अंधकार को दूर करके समस्त पदार्थोंको अपने करों (किरणों) से दिखाता है, उसी प्रकार ज्ञानसूर्यरूपी पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रका अज्ञानांधकार दूर कर अपने हाथसे जीवादि द्रव्योंको स्पष्ट रूपसे दिखलावें॥ २१ ॥

शास्त्रदानफल

स्वाध्यायोचितवस्तुभिर्विनयवागुत्साहनानंदनै-।
र्ये बुद्धिं परिवर्धयंति यतिनां रक्षंति शास्त्रामृतैः ॥
ते साधून्जिनभाषितागमधरान्कुर्वंति शंसंति ता-।
नर्चंत्यर्थचयैः स्तुवंति विनमंत्यग्रे श्रुतज्ञानिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो सज्जन स्वाध्यायोचित पुस्तक वेष्टन आदि द्रव्योंको प्रदान कर विनयवचन, उत्साह व आनंदके द्वारा साधुवोंकी बुद्धिकी वृद्धि करते हैं, एवं शास्त्ररूपी अमृतसे साधुवोंकी रक्षा करते हैं, वे साधुवोंको जैनागमके धारक बनाते हैं, एवं जो उन साधुवोंकी अनेक प्रकार के द्रव्योंसे पूजा करते हैं, प्रशंसा करते हैं व नमस्कार करते हैं, वे आगेके भवमें श्रुतज्ञानी होते हैं अर्थात् सकल श्रुतज्ञान को प्राप्त करते हैं ॥ २२॥

जिनबिंबपूजाफल

जिनरूपधरं बिंबं सद्द्रव्यैरर्चयंति ये ।
जिनपूजाफलं तेऽत्र लभंतेऽनेकधा पुरः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो सज्जन भक्तिसे जिनेंद्र भगवंतके रूपको धारण करनेवाले जिनबिंबकी भक्तिसे अनेक उत्तम द्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे इसी जन्ममें साक्षात् जिनेंद्रकी पूजा करनेके सातिशय फलको प्राप्त करते हैं। एवं आगेके जन्ममें अनेक प्रकारसे ऋद्धिसहित संपत्ति सुख आदि फलको प्राप्त करते हैं ॥ २३ ॥

साधुसेवाफल

जिनरूपधरं साधुं ये स्वार्थैरर्चयंति ते ।
फलं लभंते बहुधा जिनपूजाफलादिकम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो सज्जन जिनेंद्र भगवंतके रूपको धारण करनेवाले जैनसाधुयोंकी बहुत भक्तिसे अपने अनेक उत्तमद्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे उससे साक्षात् जिनेंद्रकी पूजा, पंचाश्चर्य आदिके रूपमें अनेक उत्तम फलोंको प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

तद्वराङ्जिनशास्त्राणि ये स्वार्थैरर्चयंति ते ।
लभंते विमलज्ञानं केवलज्ञानसाधनम् ॥२५॥

अर्थ—जो सज्जन लोकहितकारक पवित्रशास्त्रोंकी एवं उन शास्त्रोंको धारण करनेवाले संयमियोंकी अनेक उत्तम द्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे केवलज्ञानको प्राप्त करने योग्य निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

अल्पानल्पगुणियोंकी पूजा

अल्पगुणानमितगुणानल्पज्ञानखिलवेदिनो मत्वा ये ।
उचितं सत्कारं ते पुण्यं बोधं स्वधर्मवर्धनबुध्या ॥ २६ ॥

अर्थ—जो सज्जन अल्पगुणियोंको विशिष्ट गुणी समझ कर एवं अल्पज्ञानियोंको अखिलज्ञानी समझकर धर्मवृद्धिकी बुद्धिसे उचित सत्कार करते हैं वे सातिशयपुण्यको व विशिष्ट निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

अल्पानल्पज्ञानियोंकी पूजा

अल्पज्ञानल्पज्ञानल्पानल्पधियो नृपानिव सर्वान् ।
नृपनामानो मत्वा मज्ञाः कृतिनो बुधाश्च पुण्यं ज्ञानम् ॥२७॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि कम संपत्ति व अधिकसंपत्तिको धारण करनेवाले राजावोंको सबको राजाके नामसे उल्लेख कर उनका आदर, विनय किया जाता है, इसी प्रकार अल्पज्ञानी व महाज्ञानी साधुवोंको भेद न कर साधुवोंके नामसे उनका विनय, आदर, व भक्ति करें तो वे सज्जन बुद्धिमान्, विद्वान् होते हैं एवं सातिशय पुण्य व निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्यसहायसे विद्वान् तैयार करानेका फल

सतीव दीपं प्रज्वाल्य सर्वनेत्रांधतां हरेत् ।
जातो येन बुधस्तेनभव्यचित्तांधता हृता ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी सतीने एक दीपक लगाया उससे अनेक लोगोंके नेत्रकी अंधता दूर होकर वे पदार्थोंको देखते हैं, उसी प्रकार कोई सज्जन अपने द्रव्यादिकको दान देकर किसी एकको विद्वान बनाता है तो उससे भव्योंके हृदयका अज्ञानांधकार दूर होता है। उसका श्रेय उस व्यक्ति को भी मिलता है जिसने उसे विद्वान् बनानेके लिए सहायता दी है। इसलिए शास्त्रदानकी महिमा अपार है ॥ २८ ॥

दान देते समय सज्जन प्रमाण नहीं करते

क्षेत्राय योद्ध्रे विदुषे तरुण्यै भृत्याय सेवाकुशलंपटाय ।
सुताक्षराभ्यासकराय वित्त-दानप्रमाणं विबुधा न कुर्युः ॥ २९ ॥

अर्थ—बुद्धिमान व पुरुषार्थी सज्जन खेतके लिए, योद्धाके लिए, विद्वानोंके लिए, अपनी स्त्रीके लिए, सेवाकार्यमें तत्पर सेवकके लिए, अपने पुत्रको विद्याभ्यास करानेवालेके लिए, द्रव्यदान करते समय कोई प्रमाणका विचार नहीं करते हैं। दिल खोलकर देते हैं ॥ २९ ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टरैवादान्वीक्ष्य यौल्किकाः ।
धनान्याददते मद्दानिकी दानमाचरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—जिसप्रकार करदेमें महसूलको लेनेवाले अधिकारी उस मार्गसे आनेवाले उत्तम, मध्यम व जघन्य धान्य वस्त्रादि पदार्थोंको देखकर महसूल वसूल करते हैं; उसीप्रकार धार्मिक दानी सज्जन भी पात्रोंके भेदको देखकर तदुचित दान देवें ॥ २० ॥

दानहीनमनुजस्य धनान्यायांति यांति किमिमानि निरर्तुजः ।
वंशहानिरिव पुण्यनाशनं स्यादरण्यकुसुमानि वृथैव ॥ २१ ॥

अर्थ—जो सज्जन कभी दानक्रिया नहीं करता है, उसको संपत्तिका आना नहीं आना दोनों बराबर है। संपत्ति व्यर्थ ही है। जिस प्रकार पुत्ररहितकी वंशहानि होती है, उसी प्रकार दानरहितकी पुण्यहानि होती है। उसकी संपत्ति अरण्यपुष्पके समान व्यर्थ है। २१ ॥

विद्वानोंका अपमान न करें

स्याज्जैनेंद्रागमांभोनिधिपरिमथनं तद्विशद्दूषणं कृत् ।
तत्स्वाध्यायप्रणाशो जिनगुरुभजकावर्णवादो विरोधः ॥
हिंसाप्रायोपदेशो जिनपतिघृपसन्मार्गसम्यग्दिशंतम् ।
धिक्कृत्याहं प्रवेत्ता बुधपरिभवनं ज्ञानविध्वंसहेतुः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिनेंद्र भगवंतके द्वारा प्रतिपादित शास्त्ररूपी समुद्रको मंथन करना, उसके उपदेशकोंका दूषण करना, स्वाध्याय करनेवालोंको अंतराय करना, देव, गुरुवोंकी उपासना करनेवालोंपर आरोप करना व उनसे विरोध करना, हिंसा व मिथ्यात्व आदि पापोंका उपदेश देना, एवं जिनधर्मके मार्गको योग्यरूपसे बतलानेवालोंको धिक्कार कर मैं ही बडा विद्वान् हूं ऐसा समझकर जो विद्वानोंका अपमान करता है वह उसकी क्रिया ज्ञानके नाशके लिए कारण है ॥ २२ ॥ +

+ जिनोक्तशास्त्रस्वाध्यायशीलिनः परिभूय च ॥
स्वाध्यायनाशो मात्सर्याच्छुद्धज्ञानविनाशकृत ॥

शास्त्र पढनेवालोंको इतर काममें लगानेका फल

शास्त्राणि पठतां नित्यं प्रयोक्तारोऽन्यमुद्यमम्।
मूढाः स्युरिह तेऽमुत्र दृग्ज्ञानावृतयोऽधनाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो सज्जन प्रतिनित्य शास्त्र पढनेवालोंको गुरुसेवा शास्त्रस्वाध्यायसे बाह्य अन्य उद्यममें लगाते हैं वे इसी भवमें हिताहित विवेकरहित मूर्ख होते हैं। एवं परभवमें दर्शनावरण, ज्ञानावरण से युक्त होते हैं एवं दरिद्री होकर उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥ *

प्रसिद्धगुरुका नाम लेना

अप्रसिद्धेन गुरुणा बुधो भूत्वा महात्मना।
बुधोऽभवं ब्रुवन्नेवं ज्ञानरत्नं विलुंपति ॥ ३४ ॥

अर्थ—अप्रसिद्ध सामान्य गुरुसे विद्वान् होकर किसी लोकप्रसिद्ध बडे महात्मा गुरुसे विद्वान् हुआ हूं ऐसा कहनेवाला अपने ज्ञानरत्नको नष्ट करलेता है ॥ ३४ ॥

ज्ञानसाधनापहरणफल

पुस्तकालेखासिक्तं तु मंजूषादीन्हरंति ये।
भवेद्ज्ञानावृतिस्तेषां पुस्तकानि क्षयंत्यरम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो सज्जन दूसरोंकी पुस्तक, लेख, वेष्टन, डोरा, पेटी आदि ज्ञानोपकरणको अपहरण कर लेते हैं, उनको ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मका बंध होता है। एवं उनकी पुस्तकादिक ज्ञानसामग्री शीघ्र ही नष्ट होती है ॥ ३५ ॥

ज्ञानसाधनदहनफल

यदैव जिनशास्त्राणि दग्धान्यपि परैः स्वयम्।
स्यात्तथैव च तत्कर्म ज्ञानदृक्पुण्यनाशनम् ॥ ३६ ॥

---

* शास्त्रपाठधुर्नि येषां मोचयित्वान्यमुद्यमम् ॥
प्रधांकारत्सन्निर्वर्क दीपराहुर्गिरपरम् ॥

अर्थ—जो सज्जन शास्त्रोंको स्वयं या दूसरोंके द्वारा जलाते हैं वे उसीप्रकारके कर्मको अनुभव करते हैं, एवं उनका ज्ञान, दर्शन, व पुण्यका नाश होता है ॥ ३६ ॥

गुरुवोंके अविनयका फल

शास्त्राणां पठने श्रुतौ पटुतरा, बुद्धिर्मुनीनां सतां ।
तान्दृष्ट्वा विनयोक्तिभक्तिविनतिर्द्रव्यैर्मुदं ये मुदा ॥
नो कुर्वंति न कारयंति तनुवाक्चित्तैरलं वंचकाः ।
षण्मासावधि भूरिवित्तचलपनं तेषां भवेद्दक्षता ॥ ३७ ॥

अर्थ—शास्त्रस्वाध्याय जहां चला है वहां, जहां शास्त्र सुनरहे हैं वहां, एवं निर्मलबुद्धिके धारक साधुवोंके पासमें जानेके बाद वहां, जो उनको देखकर विनयपूर्ण वचन, भक्ति, विनय आदि नहीं करते हैं, एवं अपने द्रव्यसे व मन, वचन, कायकी विशुद्धि से उनका सत्कार नहीं करते हैं, और दूसरोंसे नहीं कराते हैं वे वंचक हैं। उनको उनके पापके फलके रूपमें छह महीनेके अंदर उनके धनका नाश होता है एवं उनका ज्ञान मंद होता है एवं वे विवेकभ्रष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥

अज्ञानी उल्लू

जिनधर्मामलाकाशे उदिते शास्त्रभास्वति ।
घूका इवांधा नेक्षंते सन्मार्गं मोक्षसाधनम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनधर्मरूपी निर्मल आकाशमें शास्त्ररूपी सूर्यके उदय होनेपर उल्लूके समान अज्ञानी जीव मोक्षसाधनसमर्थ सन्मार्गको देख नहीं सकते हैं ॥ ३८ ॥

आगमपर मलिनवस्त्राच्छादनफल

आगमशास्त्रावासस्योपरि मलिनांबरादिभारारोपः ।
येन कृतस्तस्य महाज्ञानार्कबिंबमस्तमेति क्षिप्रम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो सज्जन शास्त्र व शास्त्र रखनेकी पेटीको मलिनवस्त्र व सोनेकी चटाई, दरी आदिसे ढकते हैं उनका ज्ञानसूर्य बहुत जल्दी अस्त होता है अर्थात् बुद्धि भ्रष्ट होती है ॥ ३९ ॥

अविनयफल

स्वासनाधःस्थले पादाधःस्थले भूतलेऽशुचौ ।
कटादौ पुस्तकन्यासादस्तमेति चिदंशुमान् ॥ ४० ॥

अर्थ—आगमोंको अपने बैठनेके आसनके नीचे, पैरके नीचे, अशुचि भूमिपर, चटाई आदिपर रखनेसे उनका अविनय होता है । उस अविनयीका ज्ञानसूर्य अस्त होता है ॥ ४० ॥

हसंति मूढाः परिहासयंति ।
मज्ञा न चाज्ञाः स्वकृतोऽनुयोगः ॥
ब्रुवंति नाग्रे च वृथा स्वदृष्टि-
ज्ञानावृतिं ते स्वयमाप्नुवंति ॥ ४१ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अपनी कृतिका फल आगे क्या होगा इन बातोंको विचार नहीं करते हैं । कोई अपने हाथसे गलती होनेपर भी हम बुद्धिमान् ही हैं, अज्ञ नहीं हैं, युक्तिशास्त्राविरोधि परमागमकी प्रशंसा नहीं करते हैं, अपितु अनेक प्रकारकी कल्पना कर उसकी हसी उडाते हैं । दूसरोंके द्वारा उस परमागमकी हसी कराते हैं, वे ज्ञानावरणकर्मके द्वारा बद्ध होते हैं ॥ ४१ ॥

साधुजनोंकी परोक्षमें निंदा न करें

ये शंसंति नमंति साध्विव पुरो भक्त्या भवेगुर्मदाः ।
पश्चार्जनजनास्थिरत्नसहितान्कुर्वंत्युपालंभनम् ॥
शून्यग्रामनिविष्टकाष्ठनिगलपाक्षिप्तपादो यथा ।
शंसन्नप नुवन्नमन्करनिरो दैन्यं व्रजन्मूढधीः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति सामने साधुजनोंको देखकर प्रशंसा करता

है; नमस्कार करता है, एवं पीछेसे उन रत्नत्रयधारियोंकी निंदा करता है; वह अज्ञानी जीव है। उसकी दीनता, भक्ति आदि ठीक उसी प्रकारकी है जैसे कोई सूने ग्राममें बंधनकाष्ठमें किसीके पैरको फसाने पर रास्ते चलनेवालोंको देखकर वह दीनताको धारण करता है, स्तुति करता है, प्रशंसा करता है, हाथ जोडता है, आदि अनेक मायाचार पूर्ण क्रिया करता है। इसी प्रकार साधुओंकी प्रशंसा सामने कर पीछेसे निंदा करनेवाले की दशा है ॥ ४२ ॥

गुरुके प्रति क्रोधका निषेध

सद्दृष्टिं विबुधं दयालुममलं चारित्रवंतं गुरुं ।
ये कुप्यंति शपंति चेतसि सदा प्रद्वेषमाकुर्वते ॥
तेषां सर्वधनं हरंति यदघं सज्ज्ञानमाहंति सद्-
ग्रस्तेऽर्के तमसा यथा जगदिदं तद्ग्रस्तचित्तो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि, विद्वान्, दयालु, निर्मल, व चारित्रधारी अपने गुरुवोंके प्रति क्रोधित होते हैं, उनको गाली देते हैं, एवं चित्तमें सदा द्वेष करते हैं, उनके सर्व धनको चोर आदि अपहरण करते हैं, एवं उसके ज्ञानको पापचोर नष्ट करता है। जिस प्रकार सूर्यके राहु-ग्रस्त होनेपर यह लोक अंधकारसे आवृत होता है, उसी प्रकार उसके चित्तकी दशा होती है, अर्थात् अज्ञानांधकारसे आवृत होता है॥४३॥

अन्यनिंदाफल

ज्ञानं पुण्यमयं श्रियं शुभधियं तेजोऽभिधानं गुणं ।
बंधुत्वं शपनं निहंति सुगतिं स्नेहं चरित्रं दृशम् ॥
क्षुत्पोन्नीचगतिं परिग्रहरुजां दैन्यं विषादं सतां ।
मृत्युं बंधनवैरताडनमिहैकाद्विविबंधादिकं ॥ ४४ ॥

अर्थ—दूसरोंको एवं साधुवोंको गाली देनेसे ज्ञान व पुण्यका नाश होता है, पुण्यकारक परिणामोंको नाश करता है। संपत्ति, शुभबुद्धि, तेज,

अभिमान, दानादिक गुण, बंधुत्व आदि नष्ट होते हैं। प्रेम नहीं रहता है, चारित्र व सम्यक्त्वका नाश होता है, उत्तमगति भी उसे नहीं हो सकती है। एवं उसके व्यवहारसे नरकादि नीचगतिका बंध होता है। परिग्रह व रोगकी वृद्धि होती है, दीनता बढती है, सज्जनोंके हृदयमें विषाद बढता है, कदाचित् मृत्यु ही इसकी होती है। बंधन (कारागृह) वैर, ताडन आदियोंसे एक दो या तीन दुःख प्राप्त होते हैं। इसलिए विवेकीको उचित है कि वह दूसरोंकी निंदा न करें और गाली न देवें ॥ ४४ ॥

मूर्खोंका शाप कुछ नहीं करसकता है.

मूर्खाणां शपनं शांतं मौनिनं न च बाधते।
शपंतं बाधते सत्यं रावणोत्क्षिप्तचक्रवत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—मूर्ख मनुष्य यदि किसी शांत व मौनीको गाली देवें तो वह गाली उस मौनीको कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकती है, उल्टा उस गाली देनेवालेको ही उससे हानि होती है। जिस प्रकार रावणके द्वारा छोडा हुआ चक्र उसीके मरणके लिए कारण हुआ, उसी प्रकार वह गाली उसी व्यक्तिके लिए बाधक है ॥ ४५ ॥

गाली देनेवालोंके लिये प्रायश्चित्त नहीं है.

प्रायश्चित्तं न शपतां शप्तानां नाघहानितः।
शोधनं सर्वथा देयं श्रोतॄणां योगभेदतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गाली देनेवालोंके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है, क्यों कि गाली देनेवालोंके पापकी निवृत्ति नहीं होती है। तथापि उनके आत्माको शोधन करनेके लिए गाली सुननेवालोंके योगके भेदको हृदयमें रखकर प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४६ ॥

विना शुद्धिके दानपूजा व्यर्थ है

नष्टाग्नेः प्रबलाहारभुक्त्या तीव्रा गदा यथा।
शुद्धिं विना दानपूजास्तस्य येन कृताः क्षयाः॥ ४७॥

अर्थ—उदराग्निके नष्ट होनेपर गरिष्ठ आहारके सेवन करनेसे तीव्ररोगकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मन वचन व कायकी शुद्धिके विना दानपूजा करना व्यर्थ है, उससे अनेक अनर्थ होते हैं॥४७॥

शास्त्रादिकके प्रति उदासीन न होवें.

चक्रे भाग्यक्षयं स्त्रियां सुतजनिं देवेऽपि धर्मे गुरौ।
दौर्गत्यं द्रविणार्जनेषु विलयं लाभस्य मूलस्य च॥
शास्त्रे शास्त्रिणि पुस्तकेऽपि पठति व्याख्यातरि श्रोतरि।
प्रेक्षानाशमिहैव तस्य यदुदासीनं करोतीति यः॥ ४८॥

अर्थ—यदि राजाने अपने सेनाचक्रके संरक्षणमें उदासीनता की तो उसका भाग्य नष्ट होता है, अपनी स्त्रीमें मनुष्यने उपेक्षा की तो पुत्रोत्पत्ति नहीं हो सकती, देव, धर्म व गुरुवोंके प्रति अनादर किया तो दुर्गतिकी प्राप्ति होती है। धनके कमानेमें आलस्य किया तो लाभ व मुद्दल दोनोंका नाश होता है, इसी प्रकार शास्त्र, शास्त्री, पुस्तक, पढनेवाले, व्याख्यान करनेवाले, श्रोताके प्रति उदासीनता धारण करें तो इस लोकमें ही उसका ज्ञान नष्ट होता है॥ ४८॥

शास्त्रपठननिषिद्धस्थान

सूतकोच्छिष्टविण्मूत्रे नीचसंवेष्टिते स्थले।
शास्त्राणि पठतां नित्यं मंदबुद्धिः प्रजायते॥ ४९॥

अर्थ—जन्ममरण सूतकीसे व उच्छिष्टसे स्पृष्ट स्थानमें, मलमूत्रसे युक्तस्थानमें एवं चांडालादि नीच कुलोत्पन्नोंसे युक्तस्थानमें जो शास्त्र बांचता है वह मंदबुद्धि होता है॥ ४९॥

मूर्खलोग विद्वानोंका अनादर करते हैं :

लोकोपकर्तॄन् कृषिकान् पोषयंति यथा नृपाः ।
लोकोपकर्तृविबुधान्न्यक्कुर्वंति तथा जडाः ॥ ५० ॥

अर्थ—लोकको उपकारकरनेवाले किसानोंको जिसप्रकार राजालोग पोषण करते हैं उसी प्रकार मूर्खलोग लोकोपकार करनेवाले विद्वानोंका अपमान करते हैं ॥ ५० ॥

शास्त्रोपदेशकके अभिप्रायका घात न करें

शास्त्रोपदेष्टराकूतघातनादतितानवान् ।
श्रोतॄणां श्रुतशास्त्राणां पक्वबुद्धिश्च नश्यति ॥ ५१ ॥

अर्थ—शास्त्रोपदेश देनेवालोंके अभिप्रायको घात करनेसे उनको अत्यधिक दुःख होकर श्रोता व अनेकबार शास्त्र सुनकर जो बुद्धिमान् हुए हैं उनकी पक्वबुद्धि भी नष्ट होती है ॥ ५१ ॥

उपदेशकोंके प्रति उदासीन नहीं होवें

यावद्यावदुदासीनमुपदेष्टरि कुर्वते ।
तावत्तावद्विप्रकृष्टं निर्गच्छति सरस्वती ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह मनुष्य शास्त्रके उपदेशको देनेवाले उपदेशकोंके प्रति जितना २ उदासीन होता जाता है, उतना ही उससे सरस्वती दूर चली जाती है ॥ ५२ ॥

उदासीनलक्षण

विघ्नात्तदस्पृतिर्याभ्रंशकाविद्वेषणर्वकलम् ।
दुर्मेधात्वमित्यष्टावौदासीनलक्षणम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—(१) शास्त्र सुननेमें अंतराय उत्पन्न होना, (२) निरंतराय होनेपर भी शास्त्र सुननेकी इच्छा न होना, (३) निरंतराय व सुन-

नेकी इच्छा होनेपर भी श्रुतविषयका स्मरणाभाव व बुद्धिका भ्रंश होना, (४) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति आदिके होनेपर भी रोगयुक्त शरीरके होना, (५) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति व आरोग्यके होनेपर भी गुरुशिष्योंमें आपसमें द्वेष होना, (६) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति, आरोग्य व गुरुशिष्योंमें प्रेम होनेपर भी गुरु शिष्योंमें मनोविकलताका होना, (७) उपर्युक्त सभी बातोंके होनेपर भी दुर्बुद्धि उत्पन्न होना, (८) कदाचित् उपर्युक्त बातोंके साथ सुबुद्धि रही तो भी जडता अर्थात् मंदबुद्धि होना, ये आठ बातें उदासीनताके लक्षण हैं। ये आठ बातें संसारमें सम्यग्दृष्टि व विद्वानोंके प्रति की गई उदासीनतासे मनुष्यको प्राप्त होती हैं ॥ ५३ ॥

विद्वानोंके अनादरसे होनेवाली दस बातें

सद्वापि क्रुध्दूर्तताक्षानुवृत्तिनिद्रातंद्राजृंभणं विस्मृतिश्च ।
पाठाशक्तिर्मूर्खतास्पष्टवाक्स्युरज्ञानोद्भूतजाता विकाराः ॥५४॥

अर्थ—सम्यग्मार्गके उपदेश देनेवालोंके प्रति क्रोधित होना, धूर्तता, इंद्रियोंके आधीन होना, शास्त्रश्रवणके समय निद्रा आना, आलस्य आना, जंभाई आना, विस्मरण होना, कितनी ही बार पाठ करनेपर भी पाठ न होना, मूर्खता, तोतली बोली, ये दस बातें विद्वानोंके अनादरसे होती हैं, या यों कहिये ये दस बातें * अज्ञान भूतसे उत्पन्न विकार हैं ॥ ५४ ॥

अल्पवेतनका निषेध

सुतानामुपदेष्टॄणां दत्वाल्पं वैर्द्यमान् ।
ये कारयन्ति तेषांश्च ज्ञानपुस्तादिनाशनम् ॥ ५५ ॥

---

* भूतास्त्यजन्ति बलिदानगुणेन मर्त्यं ।
त्याज्याः सुमंत्रिजलरक्षणदक्षमंत्रैः ॥
जाड्यप्रदा न बलिदानगुणेन मर्त्यं ।
त्याज्या न दिव्यमुनिदत्तगुणैश्चिरस्तैः ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने पुत्रोंको पढानेवाले विद्वानोंको अल्प वेतनको देकर उनसे बहुतसे उद्योग कराते हैं, उनके व उनके पुत्रोंके ज्ञान, पुस्तक आदिका नाश होता है। यदि शब्दसे द्रव्यनाश भी होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

पुस्तकादि न्यासापहरणनिषेध

न्यस्तं दत्तं पतितं विस्मृतमिह पुस्तकादि वंचित्वा ।
यो नास्ति वदति तस्य ज्ञानावरणं च दर्शनावरणम् ॥५६॥

अर्थ—जो सज्जन अपने पास दूसरोंकी रक्खी हुई, दी हुई, पडी हुई, भूलकर रही हुई पुस्तकादिज्ञानसाधनको ठगकर 'हमारे पास नहीं है', ऐसा कहता है उसे ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मका बंध होता है ॥५६॥

इससे ज्ञानदर्शनावरणकर्मका बंध होता है ।

ज्ञानविषयस्सर्वो ज्ञानावरणं पटस्यदीप इव ।
दृशमावृणोति सर्वो दृग्विषयो रविमिवावृणोत्यब्दः ॥५७॥

अर्थ—ज्ञानके संबंधमें जो मनुष्य दोष करता है उससे वस्त्राच्छादित दीपकके समान ज्ञानावरणके द्वारा उसका ज्ञान आवृत होता है। इसीप्रकार दर्शनके संबंधमें जो दोष करता है उससे दर्शनावरणसे उसकी दर्शनशक्ति आवृत होती है जिसप्रकार मेघसे सूर्यबिंब आवृत होता है ॥ ५७ ॥

मिथ्यादृष्टि

सद्दग्वचनसंदर्भं यो निराकुरुते यदा ।
तदा कुदृष्टिस्तस्यापि दृष्टिर्ज्ञानावृतिर्भवेत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टियोंके हितकारी वचनोंका जो निराकरण करता है वही मिथ्यादृष्टि है, उसे भी ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मका बंध होता है ॥ ५८ ॥

कलिकालमें शास्त्रस्वाध्यायकी दशा

शास्त्रं पठंतो न च संति ते चेत्सम्यग्दिशंतो न च संति तेऽत्र ।
अध्यापयंतो न च संति तेऽज्ञास्तत्तं च तान् संति विनाशयंतः॥५९॥

अर्थ—इस पंचमकालमें पहिले शास्त्रको पढनेवाले ही नहीं हैं। पढनेवाले कदाचित् मिले तो उन शास्त्रोंके गूढरहस्यको अच्छी तरह समझानेवाले नहीं हैं। वे भी मिले तो उन पढनेवाले व प्रवचन करनेवालोंकी रक्षा कर उनसे पढवानेवाले नहीं है। कदाचित् इन सबकी प्राप्ति होजाय तो उस शास्त्रको, शास्त्र पढनेवाले, उपदेश देनेवाले व उनको रक्षण करनेवाले सज्जनोंको कष्ट देकर नाश करनेवाले मूढजन बहुत हैं ॥ ५९ ॥

यावद्यत्र सुवक्रबुद्धिरुलया तावच्च तस्याशये ।
किंचिच्छुद्धमतिस्सुदृक्सुचरितं ज्ञानं च भावः शुभः ॥
भक्तिर्वत्सलता विचारविनयः पुण्यं च धर्मक्रिया ।
नासीमोऽत्रवतीह सर्वमफलं दोषाय पार्श्वे यथा ॥६०॥

अर्थ—जबतक इस मनुष्यके हृदयसे मायाचार-पूर्ण बुद्धि नष्ट नहीं होती अर्थात् निर्व्याज धर्मसेवनकी भावना नहीं आती है तबतक उसके चित्तमें शुद्ध निर्मलबुद्धि, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान, शुभभाव, भक्ति, वात्सल्य, विनय, पुण्य और धर्मक्रिया आदि कोई भी उत्पन्न नहीं होती है, होनेपर भी व्यर्थ हैं। पार्श्वमुनिके समान * वक्रपरिणामसे की हुई उसकी सर्व क्रियायें व्यर्थ व निष्फल हैं ॥६०॥

दुराचारी विद्वानोंको कष्ट देते हैं.

के मूढाः कतिविज्ज्ञदा गतघना दुष्टामया दुःखिनो ।
भाग्याढ्याः सुखिनः प्रमत्तमनसः कामेच्छवो गर्विताः ॥

---

* जाराचित्तमाविच्छिन्नालातवद्यस्य चेतसि ।
शाश्वती वक्रबुद्धिस्तन्मिथ्यात्वं शल्यमुच्यते ॥

दुर्वृत्ताः शमनोक्तयः कुमतयो निधाक्रियाः संक्रुधः ।
प्रज्ञास्संति न संति चात्र कुदृशस्तान्मारयंति ध्रुवम् ॥६१॥

अर्थ—संसारमें कोई मूर्ख होते हैं, कोई अज्ञानी, कोई दरिद्री, कोई असाध्य रोगसे पीडित, कोई दुःखी, कोई भाग्यवान्, कोई सुखी, कोई प्रमादी, कोई कामी, कोई अहंकारी, कोई दुराचारी, कोई शांत बोलनेवाले, कोई दुर्बुद्धि, कोई निंद्यक्रिया करनेवाले और कोई क्रोधी होते हैं। परंतु सन्मार्गका उपदेश देनेवाले विद्वन् होते हैं या नहीं यह नहीं कह सकते हैं, अर्थात् प्रशस्तमोक्षमार्गके उपदेश देनेवाले विद्वान् बहुत कम होते हैं। यदि कोई हों तो मिथ्यादृष्टि अविवेकी उनको अनेक प्रकारसे कष्ट देते हैं ॥ ६१ ॥

जिनागमकी रक्षा करो.

दायादचोरकुसुतस्त्रीजलकृमिधूलितैलदहनाद्यैः ।
स्याज्जिनशास्त्रविनाशस्तेभ्यस्तद्रक्ष सर्वयत्नेन ॥६२॥

अर्थ—दायाद, चोर, कुपुत्र, दुराचारिणी स्त्री, जल, कीडे, धूल, तेल, अग्नि आदिसे जिनागमका नाश होता है। इसलिए हे भव्यात्मन् ! इनसे जिनागमोंकी रक्षा कर, जिससे इस लोकमें सम्यग्ज्ञानका साधन बना रहे ॥ ६२ ॥

मतं समस्तं ऋषिभिर्यदार्हतैः
प्रभासुरं पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य सत् ॥ ६३ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले दानी श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ ६३ ॥

इति शास्त्रदानविधानम् ।

भावलक्षणविधानम्

राजाकेसमान पुण्यपरिकरोंको मिलाना चाहिये।

यत्कर्मार्जितमुच्चयेन समुदा सत्सावधानं सदा।
तं भावं च तमुद्यमं तदुचितं देशं सहायं च तम् ॥
तन्मित्रं च तमीश्वरं च तमृषिं तान्सेवकांस्तत्कुलं।
तं ग्रंथं च नियोज्य तच्च कुरुतेऽरिष्टं च भूपालवत् ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य यहांपर पुण्यक्रियावोंको करता है उसको बहुत आनंद व सावधान होकर उन क्रियावोंको करनी चाहिए। उन क्रियावोंके योग्य भाव, उद्योग, उचितदेश, योग्य सहायता, अनुकूल मित्र, हितैषी स्वामी, निस्पृहगुरु, अनुकूलसेवक और तदनुकूल परिग्रह आदि को योग्यरूप से मिलाकर पुण्यकार्योंको करना चाहिए। तभी उसमें सफलता मिलती है जैसा कि योग्य राजा राज्यकार्यमें सर्वपरिकरोंको मिलाया करता है ॥ १ ॥

दुष्टोंके हृदयमें जिनमुनि आदिके प्रति दयाभाव नहीं रहता।

जैनः पूतगुणाकरो विगुणिनो दुष्टाः कुतर्कापिणोऽ-
प्यानंतादिकषायिणः सम्रपना-बंधुद्रयाघातिनः ॥
दाक्षिण्यं दयया गुणेन च विना ये यत्र यत्रासते।
सत्स्नेहं सहवासवर्तनसहालापान्सदा तैस्त्यजेत् ॥ २ ॥

अर्थ—लोकमें ऐसे कितने ही लोग हैं जिनके हृदय में जिनमुनि व विद्वानोंके प्रति कोई दाक्षिण्य नहीं है अर्थात् उन की कोई परवाह ही उनको नहीं रहती है। इसी प्रकार उनके हृदय में कोई भी प्राणियोंके प्रति दयाभाव नहीं रहता है। इसलिए उनके हृदयमें विनयादिक गुण नहीं हुआ करते हैं। वे दूसरोंको सदा दोष लगाते रहते हैं, सज्जनोंके साथ कुतर्क करते हैं। अनंतानुबंधि

आदि कषायोंसे युक्त रहते हैं, साधुजनोंको गाली देते हैं, और अपने धर्मबांधवोंको कष्ट देते हैं। ऐसे दुष्ट जहां रहते हैं उनका सहवास पवित्र गुणोंको धारण करनेवाले जिनभक्त कभी न करें॥ २ ॥

जीवानां भावभेदाः स्युः स्वादुवच्च कषायवत्।
तिक्तवत्कटुवत्केचित्केचित्कटुवदम्लवत् ॥ ३ ॥
रसानामिह सर्वेषामेको द्वौ वा यथा त्रयः।
चत्वार इव पंचैव षड्रसा इव भूतले॥ ४ ॥

अर्थ——जीवोंके परिणाम अनेक प्रकारके होते हैं। जिस प्रकार रसोंके भेद स्वादु, कषाय, तीखा, कटु, लवण, अम्लके रूपमें होते हैं उसी प्रकार जीवके परिणामोंमें भी अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं॥ ३ – ४ ॥

यथा स्निग्धो यथा रूक्षो यथा शीतो यथोष्णकः।
गुरुवल्लघुवत्केचिन्मृदुवत्खरवत्सदा ॥ ५ ॥

अर्थ——किसीका परिणाम स्निग्ध रहता है, किसीका रूक्ष रहता है, किसीका शीत तो किसीका उष्ण, और किसीका गुरु तो किसीका लघु रहता है। और किसीका मृदु परिणाम रहता है और किसीका कर्कश परिणाम रहता है अर्थात् आठ प्रकारके स्पर्शोंके समान जीवोंके परिणाम भी होते हैं॥ ५ ॥

सेव्यं बालयुवात्वमध्यफलमेवाचोचितं कार्कटं।
वृद्धं चेद्धिरिष विशिखति यथाद्भुच्च केचिज्जनाः॥
सेव्यं वृद्धमिवाथ संस्कृतिवशात्केचिच्च कूष्मांडिकं।
बालं यद्विपवद्वदंति भिषजः सेव्यं न संस्कारतः ॥ ६ ॥

अर्थ——ककडी बिलकुल कोमल, थोडा कठोर तथा कोमलकठोर ऐसी अवस्थाओंमें भी सेव्य है। परंतु जब वह पूर्ण कठोर होती है तब उसे कोई भी मनुष्य नहीं खाता है। उसी तरह कितनेक मनुष्य, बाल,

तरुण व मध्य अवस्थामें सेवा योग्य होते हैं। जब वे वृद्ध होते हैं तब वे सेवाके लिए अयोग्य हो जाते हैं। अर्थात् उन के परिणाम निर्मल नहीं होते हैं। लोभादिकसे दूषित होते है इसलिए वे आदर योग्य नहीं रहते हैं। कुष्मांड फल जब पूर्ण पक हो जाता है तब उस को संस्कृत करके अर्थात् शक्करकी चासनी वगैरह मिलाकर उसका सेवन करते है। परंतु जब वह बिलकुल कोमल रहता है तब उसको संस्कार करके भी खाना योग्य नहीं है। क्यों कि वह बाल्यावस्था में विषतुल्य है ऐसा वैद्य कहते हैं॥ ६॥

जीवाः केचिदिवाद्य चिर्भटफलं सेव्यं न संस्कारतः।
सेव्यं केवलमेव सेव्यमखिलं स्याद्वृद्धमन्तेऽमृतम्॥
केचित् पूज्यसुसेव्यमेव फलमप्यूर्वारवं सर्वदा।
दोषाणां सरुजां न पथ्यमिह तद्द्वेषम्यभाजां सदा॥ ७॥

अर्थ—कितनेक जीव कचरियाके समान सेवनीय ही होते हैं। उनके ऊपर संस्कार करने की आवश्यकता नहीं होता है। अर्थात् उनके परिणामोंमें निर्मलता संस्कारके विना ही रहती है। कचरिया जब पक जाती है तब अमृतके समान मीठी होती है। उसी तरह कितनेक जीवोंके परिणाम अमृतके समान पूर्ण पापरहित तथा हितकारक होते हैं। फूट नाम का फल [ककडी विशेष] नीरोग आदमी को हितकर होता है। परंतु रोगीको वह पथ्य नहीं है। उसी तरह कितनेक जीव सदोष लोगोंसे सेवनीय नहीं होते हैं। यदि वे उनकी सेवा सहवास करेंगे तो उनका अहित होगा॥ ७॥

मूलं च कायः कुसुमं फलं च श्वेतं च जम्ब्वाः परिणामकाले।
रक्तं सुकृष्णं सरसं फलं च सुस्वादुमिष्टं भवभेदि शीतम्॥८॥

अर्थः— जंबूवृक्षका मूल, काय, पुष्प, फल ये सबके सब श्वेत हैं, परंतु वह पकते समय लाल होकर फिर काला होता है। परंतु

खाते समय स्वादिष्ट व मीठा लगता है। व परिणाम शीत है। इस प्रकारके परिणामको धारण करनेवाले कोई जीव होते हैं ॥ ८ ॥

सेवासमये सरसं वदनं विरसं करोति वस्त्वाखिलम्।
सरसं विरसं वक्त्रं रुणद्धि कंठं पुरीषमूत्रं च ॥ ९ ॥

अर्थः—उस फलको सेवन करते समय सरस मालुम होता है, परंतु मुखको विरस करता है। एवं समस्त अन्य सरस पदार्थके खाने पर भी उसे विरस कर देता है। मुखको विरस करता है। कंठ व मलमूत्रको रोकता है ॥ ९ ॥

केचित्कंका यथा जंतुघातका मित्रभेदकाः।
केचित्कंका इवाभान्ति केशदोषापहारिणः ॥ १० ॥

अर्थः—कोई कंघे जिस प्रकार शिरपर रहे हुए जू आदि प्राणियोंका नाश करते हैं, इस प्रकार कोई २ मित्रोंको भेद करनेवाले होते हैं। कोई कंघे जिस प्रकार केश के दोषोंको दूर करते हैं, उसी प्रकार कोई २ मनुष्योंका परिणाम रहता है ॥ १० ॥

भेदकृज्जन्तुहा कश्चित्सस्नेहे सति कंकवत्।
निस्नेहेऽपि च जन्तुघ्नस्तस्मिन्नाभिमुखः सदा ॥ ११ ॥

अर्थ—कोई कंघा जिस प्रकार शिरपर तेलके रहनेपर जू आदि को भेद करनेवाला व उसे नाश करनेवाला होता है। उसी प्रकार कोई २ अत्यधिक स्नेह रहनेपर भी वहां भेदभाव उत्पन्न करते हैं व उन को हानि पहुंचाते हैं। कोई कंघा तेल न रहने पर भी जंतुका नाश करता है। इसी प्रकार कोई प्रेम न रहनेपर भी दूसरोंकी हानि की करते हैं। इस प्रकार इन दोनोंसे हमेशा दूर रहना चाहिए ॥ ११ ॥

आदत्ते दोषिणां दोषान् निर्दोषो विमुखोभवेत्।
सदोषो रक्तं पिवति निर्दोषं नैव रक्तपाः ॥ १२ ॥

अर्थ—हमेशा दोषी ही दोषियोंके दोषको ग्रहण करता है।

निर्दोषी दोषको ग्रहण करने के लिए प्रयत्न नहीं करता है । दोषी जलौक ही दुष्ट रक्त को पीते हैं । निर्दोषी कभी नहीं पीते ॥ १२ ॥

शुष्कास्थिदशनादस्रं पिबन्वेत्ति न कुक्कुरः ।
केचिदत्र न जानन्ति पुरोऽपि बहुवेदनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डीको खाते हुए अपने दांत व मुखसे निकलनेवाले रक्त को पीते हुए भी उसे नहीं जानता है, उसी प्रकार कितने ही सज्जन अपने सामने अनेक प्रकार के दुःख होने पर भी उसे नहीं जानते हैं ॥ १३ ॥

गेहं यत्र गते शुनीह मनुजैर्याते भपस्यद्भुतं
नांमुंचत्स गृहमवेशमपि ते दण्डाहतिं नात्यजत् ।
ते चिन्वन्त्यघमेव सोऽप्यघफलं भुङ्क्ते यथा विप्रिये
भुञ्जानास्सकला भवन्ति दुरितं पश्चाशयन्त्यैहिकम् ॥ १४॥

अर्थ—कोई कुत्ते अपरिचित मनुष्यके घरमें घुस जाते हैं तब उस घरका मालिक उनको पीटता है । उस समय वे कुत्ते भोंकने लगते हैं । परगृहमें घुसनेका स्वभाव कोई कुत्ते नहीं छोडते हैं । अतः वे हमेशा डंडेसे पीटे जाते हैं । पीटनेवाला आदमी तथा कुत्ते दोनों ही अपने अपने कार्यसे पापसंचय ही करते हैं । उसी तरह कोई जीव प्राणियोंको दुःख देते हैं । प्राणी अपने पूर्व कृतकर्मका फल भोगते हैं तथा दुःख देनेवाले भी अपने इहपरलोक को बिगाडकर पाप संचय करते हैं । इस प्रकार विचार कर जीवोंको दुःखित करना योग्य नहीं है, ऐसा मनमें विचार करना चाहिये ॥ १४ ॥

मा कुरु शुचं कृतघ्नप्राणिष्वहमधम इति बुधा ब्रुवेत ।
भवतोऽपि निकृष्टतरं दृष्ट्वा श्वानं कृतघ्नमानम् ॥१५॥

अर्थ—हे जीव ! मैं कृतघ्नप्राणियों मे अधम हूं । इस प्रकार की चिंता मत करो । तुमसे भी अधिक निकृष्ट कृतघ्न कुत्ते को देख कर अपने मन में समाधान कर लेना चाहिए ॥१५॥

श्वानो जानन्ति दुर्गंधं ज्ञानेन क्ष्मागतं शवम् ।
न निधानं तथा नीचा दोषान् पश्यन्ति नो गुणान् ॥१६॥

अर्थ—कुत्ता अपने ज्ञानबल से भूमिके अंदर रखे हुए शव के दुर्गंध को जान सकता है। परंतु भूमि में कोई निधि हो तो उसे नहीं जान सकता है। इसी प्रकार नीचमनुष्य दोषको ही ग्रहण कर सकते हैं। गुण को ग्रहण नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

अवन्त्यदन्ति हिंसन्ति विक्रीणन्त्यामिषाशिनाम् ।
जाबाला इव बस्तादीन् वर्तन्ते कतिचिज्जनाः ॥ १७ ॥

अर्थ—मेंडिये लोग बकरे आदि को संरक्षण करते हैं, खाते हैं, मारते हैं एवं मांसभक्षकों को बेचते भी है। इस प्रकार के परिणाम के भी कोई दुष्ट रहते हैं ॥ १७ ॥

स्वकीयधर्मानुगुणास्त एव पुण्येऽधिकेऽतिमतिकूलवृत्ताः ।
किंचिन्न जानन्ति हिताहितं स्वं मत्तास्तु मीना इव केचिदत्र ॥१८॥

अर्थ—कोई कोई पुरुष पूर्वजन्मके धर्माचरणसे अधिक पुण्यशाली हो जाते हैं। परंतु वे प्रतिकूल आचरण करते हैं। जलमें सुखसे विहरने वाले मत्स्य जैसे मत्त होकर अपना हिताहित नहीं जानते हुए मरणवश होते हैं उसी तरह वे पुरुष भी अपना हिताहित नहीं जानते हैं ॥

अन्योऽन्यलंघनविघूर्णितरोधवृत्ता
नित्यव्यथाः सततरुग्नपुनर्भवाश्च ।
विण्मूत्रकण्टकसन्नर्करकीलपङ्क-
चर्मानुरक्तचरणा इव केचिदत्र ॥ १९ ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष आपसमें पावोंसे लडते हैं तब उनके पांव व्यथित होते हैं। उनके नसोंमें दर्द होने लगता है। तथा जिनके पांवोंमें विष्टा, मूत्र, कांटे, कीचड वगैरहसे तकलीफ हो रही है ऐसे मनुष्योंके समान जो जीव आपसमें विरोध करते हैं उनको इस लोक में

द्वेषविकार से दुःख होता है तथा परलोकमें भी पापोदय से दुःख भी भोगना पडता है । अतः आपसमें द्वेष ईर्ष्या वगैरह छोडने चाहिये जिससे उभय लोकमें सुख होता है ॥ १९ ॥

ये स्वस्वानाश्रितास्तेषां मनोऽनुगुणवर्तिनः ।
अभेदविषयासक्ताः केचिद्वेश्याजना इव ॥२०॥

अर्थः—जिस प्रकार वेश्या जो धन देते हैं उनके मनके अनुकूल बर्ताव करती है एवं अभेदरूपमें विषयासक्त होती है उसी प्रकार इस संसारमें कोई २ सज्जन होते हैं ॥ २० ॥

वृथा मृत्युं गता मीनाः पललेशाशया यथा ।
विवेकरहिताः केचिद्विनष्टा ईषदाशयाः ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसे मांसके टुकडेके लोभसे मछलियां अपने प्राणको खो लेती हैं, इसी प्रकार इस संसारमें कई विवेकरहित सज्जन क्षुद्र अभिप्रायके वशीभूत होकर नष्ट होते हैं ॥ २१ ॥

काहारा भारमिच्छन्ति किञ्चिन्मान्दोलनस्थितिम् ।
कृतांहसो यथा केचित्कर्मभारान्वहन्त्यकम् ॥२२॥

अर्थः—कहार लोग केवल भारको चाहते हैं या भारको जानते हैं, कंपकपीमें [झूले] रहे हुए कोई पदार्थकी अपेक्षा व परिज्ञान उनको नहीं है । इसी प्रकार इस संसारमें कई सज्जन कर्मार्जन करते हुए कर्मभारको ही वहन करते हैं ॥ २२ ॥

विशन्त्यहन्यवटं नक्तं यान्ति लांभनका यथा ।
पुण्यकालेऽतिविमुखाः पापे केचित्सुखेच्छवः ॥२३॥

अर्थ—जमीन खोदने वाले मनुष्य दिनमें गड्ढा खोदते हुए नीचे जाते हैं परंतु जब रात हो जाती है तब ऊपर आते हैं उसी तरह कितनेक पुरुष पुण्य करने के समय में पुण्य कृत्य से विमुख होकर

पाप में तत्पर होते हैं तथा पाप करने में तत्पर होकर उस से सुख प्राप्ति की इच्छा करते हैं। ऐसे विचारोंसे वे इह पर लोक में हितको नष्ट कर के दुःख को ही भोगते रहते हैं ॥२३॥

स्वर्गान्नरं नरात्स्वर्गं कथाञ्चित्तपःपराः।
केचिन्मिथ्यादृशो यान्ति मुहुः शाखामृगा यथा ॥२४॥

अर्थ—कोई २ मिथ्यादृष्टि तपश्चर्याके फलसे स्वर्गसे नरपर्यायको, मनुष्यपर्यायमे स्वर्गको इस प्रकार क्रमसे बार २ जाते आते रहते हैं, जिस प्रकार कि बंदर वृक्षोंपर एक शाखासे दूसरी शाखापर कूदते रहते हैं ॥ २४ ॥

घनध्वनिश्रुतेरेव निर्विषाः शिखिनो यथा॥
नटन्ति निरघाः केचिद्धर्मोत्साहध्वनेस्तथा ॥ २५ ॥

अर्थ—मेघकी ध्वनि के सुनते ही जिस प्रकार मयूर निर्विष होते हैं, उसी प्रकार कोई २ पापरहित सज्जन धर्मोत्साह को उत्पन्न करने वाले शब्दको सुनते ही मंदकषायी होते हैं ॥२५॥

व्याघ्रध्वनिश्रुतेरेव पलायन्ते यथा मृगाः॥
तथा हिंसाश्रुतेरेव पलायन्तेऽघभीरवः ॥ २६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार व्याघ्रके शब्दको सुनते ही मृगगण भाग जाते हैं उसी प्रकार हिंसाविषयको सुनते ही पापभीरु सज्जन भाग जाते हैं ॥ २६ ॥

श्वानश्चंद्रोदयं दृष्ट्वा भषन्ते चात्यसूयया॥
केचिद्धन्यजनं दृष्ट्वा प्रद्विषन्त्यत्यसूयया ॥ २७ ॥

अर्थ—चंद्रमाके उदय होते ही ईर्षासे कुत्ते भोंकने लगते हैं, उसी प्रकार कोई २ सज्जन व धर्मात्माओंसे ईर्षासे द्वेष करते रहते हैं ॥ २७ ॥

कोई परोपदेशमें पंडित होते हैं.

परेषां भवदन्तोऽपि शुभाशुभफलं सदा ॥
केचित्स्वयं न जानन्ति माणिक्याः पक्षिणो यथा ॥२८॥

अर्थ—दूसरों को शुभाशुभ फलको अपने शकुन से कहते हुए भी रत्नाय पक्षी स्वयं उस शुभाशुभ को नहीं जानते हैं। इसी प्रकार कोई परोपदेश में पंडित रहते हैं ॥ २८ ॥

कोई बैलके तुल्य होते हैं.

परस्त्रीसंगमासक्ताः परार्थभृतविग्रहाः ॥
आत्तदेहेन्द्रियसुखाः केचिच्च वृषभा यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—संसार में ऐसे भी कोई मनुष्य हैं जो बैलके समान परस्त्री-संगममें आसक्त रहते हैं, दूसरोंकी सेवामें ही सदा तत्पर रहते हैं, अपने देह व इंद्रियके सुखमें ही सदा मग्न रहते हैं ॥ २९ ॥

कोई पिंगलके तुल्य मिष्टवचनी होते हैं.

मागच्छताय पुरतोऽध्वनि पीडनास्ती-
त्येवं ब्रुवन्त इव पिङ्गलपक्षिणोऽत्र ।
मांसाशिनः सुवचसा परिपूजनीया,
मांसाशिनोऽपि कतिचिच्छुभभाषिणःस्युः ॥३०॥

अर्थ—पिंगल पक्षी अपने वचनसे कहता है कि आगे आज तुम मत जावो, मार्ग में पीडा है। मांसभक्षी होने पर भी उसका वचन शकुनशास्त्रमें ग्राह्य है। इसीप्रकार इस संसार में मांसभक्षी भी कोई मीठे वचन को बोलनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥

कोई चिक्रोडतुल्य होते हैं

केचित्स्वकुक्षिभृत्यर्थं लोकेष्टानि फलान्यपि ।
पातयन्तः स्वपुण्यानि चिक्रोडा इव जन्तवः ॥ ३१ ॥

अर्थ—चिक्रोड नामक जो जंतु है वह अपने उदरपूरण के

लिए लोगोंको इष्ट ऐसे भी सर्व फलोंको गिराते रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार में कितने ही सज्जन पुण्यका नाश करते हैं. ॥ ३१ ॥

कोई सिंहके तुल्य पाप कमा लेते हैं.

गजो हतः केसरिणात्मनोऽघं भवेदन्तीव च जम्बुकाद्याः ॥
वृथा क्रुधैकः महतस्तदर्थानन्ये हरन्त्यात्मन एव पापम् ॥३२॥

अर्थ—सिंह क्रोधसे हाथीको मारता है, परंतु उसका मांस शृगाल वगैरे प्राणी भक्षण करते हैं। सिंह गजवधके पापसे लिप्त होता है। इसीप्रकार कोई पुरुष क्रोधसे किसीको मारता है और उस के धनादिक अन्य लोग उठा लेते हैं। हरण करते हैं। मारने वालेको केवल पाप की ही प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

कोई संकेतादिसे प्रणाम करते हैं.

सङ्केतादङ्गसंस्पृष्ट्या बधिराः शयिता यथा ।
प्रणमन्ति समक्षाश्च नमन्ति कतिचित्तथा ॥३३॥

अर्थ—कितने ही बहरे संकेत, अंगस्पर्शन आदिसे शयनादि क्रिया करते हैं। उसीप्रकार इस संसारमें अनेक व्यक्ति संकेतादिसे ही प्रणाम वंदना आदि क्रिया करते हैं ॥३३॥

कोई बिल्लीके तुल्य हिंसातुर होते हैं.

स्थित्वा ध्यायन्ति मार्जारा मूषाबिलबिलान्तिके ।
एकाग्रचिन्तया केचिन्नरा हिंसातुरास्तथा ॥३४॥

अर्थ—जैसे बिल्ली चूहेके बिलके बाहर बैठकर ध्यान करती है, उसी प्रकार इस संसारमें कोई एकाग्रचितासे ध्यान करते हुए हिंसातुर रहते हैं ॥ ३४ ॥

कोई हिंसानंदी होते हैं.

मार्जारनकुलश्वान्ता दश्यान्पश्यन्त्यहर्निशम् ।
यथा हिंसानंदिजनो व्यनक्ति मुकुर्नाशसि ॥३५॥

अर्थ—मार्जार नकुलादि प्राणी जिस प्रकार रात्रिंदिन एकमेकको देखकर वैरविरोधको धारण करते हैं या रात्रिंदिन हिंसा करनेमें ही आनंदित होते हैं, इसी प्रकार इस संसारमें कोई कोई मनुष्य भी हिंसा करनेमें ही आनंद मानते हैं ॥ ३५ ॥

कोई कूर्मके तुल्य भ्रमण करते हैं.

हिंसया दुर्गतिं गत्वा लब्धा हिंसन्त्यसून्नराः ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केचित्कूर्मा इवाम्भसि ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई हिंसाके फलसे दुर्गतिको जाकर वहां भी पुनः प्राणियों का वध कर पुनः दुर्गतिमें परिभ्रमण करते हैं । इस प्रकार जलमें कछुवेके समान संसारसागरमें बराबर गोते लगाते फिरते हैं ॥ ३६॥

पापी उल्लूके तुल्य धर्मको देखते नहीं.

प्रकाशद्वेषिणः केचिद्घूका वा खनका इव ।
धर्ममार्गप्रकाशं न पश्यन्ति दुरितान्धकाः ॥ ३७॥

अर्थ—उल्लू व घूंस जिस प्रकार प्रकाशसे नफरत करते हैं उसी प्रकार कोई पापीजीव धर्ममार्गके प्रकाशको देखना नहीं चाहते हैं ॥ ३७॥

कोई चूहेके तुल्य विवेकहीन होते हैं.

हिताहितं न जानन्तो मूषाः पश्यन्त्यहर्निशम् ।
सद्गुणोच्छेदिनो लोके यथा केचिद्गुणापहाः ॥ ३८॥

अर्थ—जिस प्रकार चूहे अपने हिताहितको नहीं देखते, तथा उत्तम तंतुओंसे निर्मित वस्त्रादिकोंको नष्ट करते हैं । इसी प्रकार कोई २ गुणको अपहरण करनेवाले पुरुष सद्गुणको नाश करते हैं एवं अपने हिताहितको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कोई कौवेके तुल्य मर्मभेदी होते हैं.

पश्वाद्यङ्गव्रणान् दृष्ट्वा खादन्त्यहीव वायसाः ।
केचिन्मर्माणि सर्वेषां सर्वदोद्घाटयन्त्यलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कौवे जानवरोंके शरीर पर जखम देखकर उसे खोदने लगते हैं, खाते हैं। उसी प्रकार कोई २ जीव दूसरोंके दुःखकी अवस्थामें भी उनके मर्मस्थलको भेदते हैं ॥ ३९ ॥

कोई मनुष्योंका नाश करते हैं

कारयन्ति स्वयं पापं केचिदाश्रित्य भूपतीन् ।
नाशयन्ति जनान् राज्ये छेकाः खगमृगान्यथा ॥ ४० ॥

अर्थ—कोई २ सज्जन राजाके आश्रयसे स्वयं पाप करते हैं, एवं दूसरोंसे पाप कराते हैं, जैसे कोई मनुष्य पाले हुए चतुर पशु, पक्षीके द्वारा दूसरे पशु, पक्षीको पकडते हैं ॥ ४० ॥

कोई तृणके तुल्य होते हैं.

वर्षाकाले प्रवर्धन्ते ग्रीष्मे नश्यन्ति च स्वयम् ।
धृष्टयुत्पन्नतृणानीव केचिज्जीवन्ति सर्वथा ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई घास बरसातमें उत्पन्न होते हैं एवं गरमीमें नष्ट होते हैं, इसी प्रकार कोई २ जीवों की हालत है। परंतु कोई २ बरसातमें उत्पन्न हुए घास सदा ही जीते हैं। उसी प्रकार किन्ही २ जीवोंका परिणाम होता है ॥ ४१ ॥

स्पृष्टा यथा गाः सकलाश्च भद्रा-
स्तुष्टा मनस्येव भवन्ति धृद्धाः ।
सुरा इवाथो ललनाः समीक्ष्य
स्पृष्ट्वा तथाह्लादितमानसाः स्युः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अच्छी वृद्ध गायें बैलोंको स्पर्श करने मात्रसे मनमें ही संतुष्ट होती हैं, इसी प्रकार कोई २ अच्छी स्त्रियां अपने पति को देखकर व स्पर्शकर मनमें संतुष्ट होती हैं ॥ ४२ ॥

बलात्कारसे परस्त्री गमन करते हैं.

हठादाक्रमितुं गाश्च धावन्ति वृषभा यथा ॥
प्रसह्यान्यांगना केचिद्गांक्कुर्वन्ति मानवाः ॥ ४३ ॥

अर्थः—जिस प्रकार कोई बैल जबर्दस्ती गायके सेवन करने के लिए जाते हैं, उसी प्रकार कितने ही पुरुष परस्त्रियोंके प्रति जबर्दस्ती व आसक्तचित्तसे प्रवृत्ति करते हैं ॥ ४३ ॥

क्षेत्रे कूटाकूटे वृष्टेऽनन्तादयो यथैधन्ते ।
बाह्याशुद्धेन तपसा येनान्तरघानि चाशु वर्धन्ते ॥४४॥

अर्थः—जिस प्रकार उभाड खेत में वर्षाके पटने पर अनेक सस्य विशेष उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार बाह्यमें अशुद्धि होनेपर तपश्चर्या के करनेसे अतरंग में पाप की वृद्धि होती है ॥ ४४ ॥

कोई कैदीके तुल्य भोगकी इच्छा करता है

इच्छन्ति भोगान् स्मरणेन नित्यं
भोगान्तरायेण तपो भवेन्न ।
ध्यायन्ति केचिन्मनुजा यथास्मिन्
कारालये शृखलिता हि चौराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य नित्य ही भोगकी इच्छा करते हैं, स्मरण करते हैं, परंतु भोगातरायके उदयसे उसकी प्राप्ति नहीं होती है । भोगोंकी प्राप्ति होनेसे वे तप करते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये । जिस प्रकार कारागृहमें पडा हुआ चोर अपने छुटकारेका ही ध्यान किया करता है, उसी प्रकार उस व्यक्तिकी हालत है ॥४५॥

दुष्टोंके लिये उपकार अपकारके लिये होता है.

हितं पयो विषायैव सर्पाणामिव जायते ।
केषां चिद्वक्रभावानां स्यात्कृत पुण्यमंहसे ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सर्प को पिलाया हुआ हितकर दूध भी विष हुआ करता है, उसी प्रकार कोई कोई दुष्टोंको किया हुआ उपकार भी अपकार के लिए हुआ करता है, पुण्य भी पापके रूप मे परिणत होता है ॥ ४६ ॥

कर्म पूर्वार्जितं सर्वं किञ्चिदुद्भवति स्फुटम् ॥
अकृष्टानार्द्रसतृणक्षेत्रेषूप्तसुबीजवत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—उपार्जित कर्मोंमेंसे कोई कर्म उदयमें आकर फल देते हैं, सर्व कर्म फल नहीं देते हैं। बोये गए सब बीजोंसे धान्य उत्पन्न नहीं होता है. कुछ बीज अंकुरित होकर उन थोडेसे थोडी धान्योत्पत्ति होती ॥ ४७ ॥

प्रवृद्धपुण्यानि तदात्र केचिद्धरन्ति सार्थानि समीहितानि ॥
प्रवृद्धसस्यानि यथात्र मार्यो हरन्ति सार्थानि समीहितानि॥४८॥

अर्थ—पुण्यसे प्राप्त हुआ धनादिक पापोदयसे नष्ट होता है जैसे उत्पन्न हुआ धान्य धान्यमारी रोगसे नष्ट होता है। अतः प्राप्त हुए भी धनादिक पदार्थोंको लोग पापोदयसे भोग नहीं सकते,ऐसा समझकर पुण्य लोग प्राप्तिके [redacted] कार्य हमेशा करना चाहिये॥ ४८ ॥

केचित्कुर्वन्ति दानस्य विघ्नं विघ्नार्जनक्षमाः ।
शुक्रपश्चिमकाष्ठेंद्रचापो वृष्टिहरो यथा ॥ ४९ ॥

अर्थ—किसी किसी का स्वभाव ही यह है कि दान में विघ्न उपस्थित किया जाय, वे अंतराय कर्म का अर्जन करते हैं। जिस प्रकार कि शुक्रग्रह के पश्चिम में रहने वाला इंद्रधनुष नियम से वृष्टि को दूर करता है, उसी प्रकार यह भी दान कार्य नहीं होने देता है ॥ ४९ ॥

सुगंधिरंभोष्णजलेन मृत्युं गतेव केचिद्दुरिते प्रविष्टे ॥
क्षयं प्रयाति क्रमतः सुगंधिरंभामवंतीव वृषं तु जनाः ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार गरम पानीसे सुगंधी केलेका वृक्ष नष्ट होता है उसी प्रकार पापप्रविष्ट होनेसे यह व्यक्ति नष्ट होता है। जिस प्रकार उस केलेके वृक्ष की रक्षा करते हैं उसी प्रकार धर्मकी रक्षा करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए॥ ५० ॥

क्षीरेयं श्वाशित तस्य यथा कुक्षौ न तिष्ठति ।
केषां चेतसि सद्धर्मस्तथा पुण्य न तिष्ठति ॥ ५१ ॥

अर्थ—कुत्तेके द्वारा पीया हुआ घी उस के पेटमें कभी नहीं ठहरता है। उसी प्रकार किसी किसीके हृदय में सद्धर्म तथा पुण्य कभी नहीं ठहरता है ॥ ५१ ॥

वस्त्रान्तान्तनिशाकान्तिर्लयं याति यथातपे ।
धर्मेच्छा सुकृत केषां दुस्सगात् क्षीयते क्रमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ —वस्त्र में व्याप्त हरिद्रा का रंग धूपमें नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार किसी किसीके धर्म धारण करने की इच्छा व पुण्य नीचसंगतिसे नष्ट होते हैं ॥ ५२ ॥

यथा वह्निमुखे सूतः सद्यो नास्ति त्रसद्दृशाम् ।
मिथ्यादृक्सृष्टिवाग्द्रव्यभक्तिभिर्दर्शनपस्य ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमुखमें उत्पन्न या रखा हुआ पदार्थ तत्क्षण नष्ट होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टियोंको कष्ट पहुंचा कर, मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्ति में प्रेरणा, द्रव्यदान, भक्ति आदिमें मदत पहुंचाता है उस के दर्शन व पुण्य शीघ्र नष्ट होते है ॥ ५३ ॥

आमकुंभे यथा तोयं सद्यस्तस्य विभेदकृत् ।
हृदपके न धर्मोऽस्य पीतौषधमिव ज्वरे ॥ ५४ ॥

अर्थ—कच्चे घडे में भरा हुआ पानी जिस प्रकार शीघ्र उस का भेदन करता है, उसी प्रकार कच्चे हृदय में स्थित धर्मकी भी हालत होती है। जिस प्रकार यह मनुष्य ज्वरकी हालत में औषध पीता है तो वह ज्वर का भेदन करता है, उसी प्रकार उस धर्म की भी हालत होती है ॥ ५४ ॥

गावः प्रजा पद ज्ञात्वा कृत्वा बीज वपन्त्यहो ।
तथा न कृतिन कुर्यु पुण्यबीज वपन्ति न ॥ ५५ ॥

पुण्यकर पाप

केचिदाखेटिकं गत्वा शून्यहस्ता भवन्त्यहो ।
तेषां पुण्यकरं पापं ब्रुवन्तीह मुनीश्वराः ॥ ५८ ॥

अर्थ—कोई कोई शिकार खेलनेके लिए जाते हैं, शिकार कुछ भी न मिलनेपर शून्य हस्तसे लौटते हैं। परन्तु मनमें खिन्न नहीं होते हैं। प्रत्युत हर्षित होते हैं कि आज शिकार नहीं मिला तो अच्छा हुआ, मेरे हाथसे होनेवाली हिंसासे मैं बच गया, उन प्राणियोंकी भी रक्षा हुई। यद्यपि उनकी क्रिया पाप है तथापि परिणामसे पुण्यकर है ॥

जारतादिकृतिस्मृत्याबाधा बहुविधा भवेत् ।
तेषां पुण्यकरं पापं कर्मरूपविदो विदुः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जारत्वादिदुष्कृतियों को करके जो व्यक्ति उन कृतियों से होनेवाली बाधाओंको विचार कर पश्चात्ताप करते हैं। एवं उन पापोंको छोडते हैं तो उनका पाप पुण्यकर है, ऐसा कर्मस्वरूपको जानने वाले महर्षि कहते हैं ॥ ५९ ॥

पापकर पुण्य.

विना राजादिबाधां यज्जारस्यावति जारताम् ।
तस्य पापकरं पुण्यं कर्मरूपविदो विदुः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो व्यक्ति राजादिकी बाधासे दूसरे जारव्यक्ति की जारता को संरक्षण करता है अर्थात् उस जारपुरुषको कोई कष्ट नहीं होने देता है, वह पापकर पुण्य है, इस प्रकार महर्षिगण कहते हैं ॥ ६० ॥

क्रुद्धोऽपवादाच्चकितोऽपि यो जनो दंष्ट्रा विदार्याग्रयमत्रमाशु ।
तथा पिपासुर्भुवि वर्तते यथाप्यलर्के आरब्धगलो दिदंक्षुकः ॥

अर्थ—जो मनुष्य निंदासे भययुक्त होता है तथा क्रुद्ध होता है तब वह अपनी दाढें कडकडाता है, अपनी मुट्ठी फाडता है। उस

समय वह दंश करनेके लिए उद्युक्त होकर जिसने अपना मुख फाडा है ऐसे पागल कुत्तेके समान दिखता है ॥ ६१ ॥

झंझावाते जाते पतिते फरकोचये रसालानाम्।
प्रपतन्ति फलानि यथा केचिच्च महान्तरायवन्तः स्युः ॥६२॥

अर्थ—विशिष्ट आंधीके चलनेपर जिस प्रकार वृक्षसे आम्रफलादि पतित होते हैं उसी प्रकार कोई २ सज्जनोंको अकस्मात कर्मवश महा अंतराय उपस्थित होता है ॥ ६२ ॥

स्वामिद्रोही योऽर्हदर्थापहर्ता दातुः शक्तिं योऽप्यविज्ञाय भोक्ता ।
भोजं भोजं तद्गृहस्यापकर्ता सोऽयं क्षिप्रं याति पापं दरिद्रम्॥६३॥

अर्थः—जो व्यक्ति स्वामिद्रोही है, देवद्रव्यको अपहरण करनेवाला है, दाताकी शक्तिको न जानकर ही उससे लाभ उठाना चाहता है, किसी घरका रोज रोज खाकर भी उसको अपकार करता है, वह व्यक्ति शीघ्र ही तीव्रपापको संचय करता है। एवं उसके फलसे दरिद्रताको प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

जारान् ये तर्पयन्त्यर्थैस्तेषां जन्मान्तरेऽत्र च ।
सर्वे दृग्गोचराः कान्ता वश्याः स्युः स्वांगना इव ॥ ६४ ॥

अर्थ—जार पुरुषको धन देकर जो खुश करते हैं उनकी स्त्रियां इस जन्म में तथा परजन्म में मानो जार पुरुष की ही स्त्रियां हैं इस प्रकार उन के वश होती हैं। अर्थात जार पुरुषको दान देना उसका आदर करना वगैरह कार्य करने से अपने वंशकी शुद्धि नष्ट होती है अतः जारादिक दुराचारियोंको दानादिक नहीं देना चाहिये ॥६४॥

तरण्डमापूरितसर्वमानवं नदीतटं तारयति प्रकुप्यति ।
तदन्तरस्थानिह सर्वमानवान् प्रपत्यमी तिष्ठ यथा स मौनिनः॥

अर्थ—जिस में लोक बैठे हैं ऐसी नावको नाविक नदीके किनारे लगाता है। परंतु उसको यदि लोग भाडा देकर कुपित करेंगे तो वह

समस्त लोगोंको नदीमें डुबा देगा। उसी तरह दान देनेवाले की उस के कार्य की प्रशंसा कर दानमें प्रवृत्त करना चाहिए। ऐसे करने से धर्मप्रभावना होगी अन्यथा धर्म का विनाश होगा। योग्य दान, देने वाले की प्रशंसा करो अथवा मौन धारण करो परंतु उसकी निंदा करने से धर्मका नाश करनेका अकार्य होता है, ऐसा समझकर ऐसे कार्य से सदैव दूर रहो ॥६५॥

अस्मिन् गार्यरिक्ता वसन्ति नगरे वीथीषु मुष्टिर्भेदैः ।
पुण्यं वस्तुचयं हरन्ति च यथा मुष्टिपुराणश्रुते ॥
दत्ते यो नृपवत्फलं तलवरो बध्नाति दुष्टं यथा ।
द्वौ नार्यौ वसतः शुभाशुभकरौ लोके यथार्थोऽसि ? ॥६६॥

अर्थ—कतरनी वगैरे चोरीके साधन लेकर राजाने स्वतः अपने कोषागारमें चोरी की थी। तब कोतवालने शोध करके राजा ही चोर है ऐसा निश्चय कर उस को पकड लिया, उस समय प्रजाने कोतवालकी बहुत प्रशंसा की। उसी तरह धनादिक वस्तुओंको हम यदि सत्पात्रादि दानमें लगायेंगे तो हम कोतवाल के समान पुण्यफल—स्वर्गादिक फल मिलेगा, हमारी इह लोकमें कीर्ति होगी और यदि हम हमारे धनादिकों को असत्कार्य में विनियुक्त करेंगे तो स्वयं ही दृष्टांतमें प्रदर्शित किये राजाके समान दंडित होंगे अर्थात् पापसे दुर्गतिदुःख भोगेंगे। ऐसा समझकर सत्पात्रादिक को दान देना चाहिए ॥६६॥

सदा विकलदुःपरिग्रहबहुग्रहैः पीडितम् ।
मनोऽतिपवनदुच्चलत्सलिलवीचिवत्कंपयते ॥
सनेल [ग] जलमध्यकम्पिततृणांगवत्कम्पते ।
ज्वलज्ज्वलनपात्रसंकथितवारिवत्क्षुभ्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ—मन परिग्रहसे रहित होने पर भी वायुसे ऊपर उठी हुई जलतरंगके समान सदैव चंचल व शोकमग्न रहता है। यदि दुष्ट

परिग्रह हो तो मनुष्योंका मन वेगयुक्त जलके बीच में रहे हुए तृण के समान बार २ चंचल होता है। और यदि परिग्रहसंग्रह अत्यधिक होगया तो उस से अग्नि की ज्वालासे संतप्त पात्र में स्थित उबलते हुए पानीके समान मनकी स्थिति होती है। अतः सत्पात्रमें दान देने से ही मनःशान्ति होती है ऐसा समझकर दान कार्य में मन को लगाना चाहिए ॥ ६७ ॥

न विघ्नाः सन्ति केषांचित्पापिनां पापमूर्तये ॥
न विघ्नाः सन्ति केषांचित्कृतिनां पुण्यमूर्तये ॥ ६८ ॥

अर्थ—लोकमें विघ्न अंतराय किसे नहीं है? अपितु अवश्य है, परंतु पुण्यशालियोंको अपने पुण्यमूर्तित्वके प्रभाव से विघ्न नहीं होते हैं, व आनेपर भी दूर होते हैं ॥ ६८ ॥

दर्शनचारित्ररहित ज्ञान.

निरुप्तसेव्यसुविदवृत्तिमन्द इनादराः ॥
ज्ञानं कृषिकवत्तस्य जीवितं निष्फलं भवेत् ॥६९॥
दृष्टिवृत्तविहीनस्य परं ज्ञानप्रभाविनः ।
जीवितं निष्फलं तस्य निरर्थं सेवकृषिवत् ॥७०॥

अर्थ—चारित्र व दर्शनसे रहित ज्ञान व्यर्थ है, जिस प्रकार किसानको खेतीका ज्ञान होनेपर भी यदि उसने बीज नहीं बोया तो वह निष्फल है, बोया तो भी वृष्टि आदिकी अनुकूलता नहीं मिली तो उसका ज्ञान निष्फल है। उसी प्रकार दर्शन व चारित्रसे रहित विशिष्टज्ञानको धारण करनेवाले प्रभावी व्यक्तिका भी जीवन निष्फल है। अतः ज्ञानार्जनके साथ श्रद्धानमें दृढता व चारित्रके पालनके लिए भी प्रयत्न करना चाहिये ६९-७०

गुरुयोंकी अनुमतिके विना चारित्रपालननिषेध.

ग्रामजनपत्यनुज्ञां विना नराः कुर्वतेऽत्र यत्कार्यम् ।
हानिः स्यात्तेन यथा गुर्वनुमतिमन्तरेण यद्वृत्तम् ॥७१॥

अर्थ–जिस प्रकार लोकमें ग्रामपति व जनपतिकी अनुमतिके लिये बिना कोई कार्य करे तो उसकी हानि होती है। उसी प्रकार गुरुवोंकी अनुमतिके विना जो चारित्रको पालन करते हैं उनकी हानि होती है। अर्थात् व्रतग्रहणादिक गुरुसाक्षीपूर्वक ही होना चाहिये ॥ ७१ ॥

यद्यत्कार्यमिदं जना नृपजनानुज्ञां विना कुर्वते ॥
नाशं यान्ति फलं लभेत न यथा तत्तेन जीवा गुरोः ॥
साज्ञां च विना स्वयं व्रतमिता धर्मंतर वर्तनं ।
सम्यग्धर्मफलं प्रयान्ति न विना तीर्थेशमन्येन च ॥७२॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि मनुष्य जो कार्य राजकीय परवानगीके विना ही करते हैं, उससे उनकी हानि होती है, एवं उस कार्यसे उन को भी फल नहीं मिलता है। इसी प्रकार हे जीव ! जो व्यक्ति गुरुवोंकी अनुमति व उपदेश आदिके विना स्वतः ही व्रत ग्रहण करते हैं उनकी हानि होती है, वे धर्माचरण भी कर सकते हैं। पर उनको यथेष्ट फल नहीं मिल सकता है। क्यों कि तीर्थंकर परमेष्ठियोंके द्वारा प्रतिपादित मार्गपर गये विना धर्मका समीचीन फल नहीं मिल सकता है ॥ ७२ ॥

व्यर्थ अर्थ.

स्यात्स्वेशार्थो न धर्माय न भोगाय मनागपि ॥
यस्य तज्जीवनं व्यर्थं यथा चालेयजीवनम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंका धन धर्मसाधन में और भोग में तिल मात्र भी उपयुक्त नहीं होता है, उनका जीवन गधेके जीवनके समान व्यर्थ है। ऐसा समझकर अपने धनका सत्कार्यमें उपयोग करो। अन्यथा गधेमें और तुममें कोई अंतर ही नहीं रहेगा ॥ ७३ ॥

नेह चौरानुते लोके तनस्थे जायते स्वयम् ।
मुक्त्वा तदैव धावन्ति न ज्ञात्वाप्यपायम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—घर पर जिस समय चोर आवें उस समय घरवाले जगते हों तो वे चोर भाग जाते हैं, चोरी नहीं करते, इसी प्रकार विवेकसे जो मनुष्य जागृत है उसे पापरूपी चोर स्पर्श नहीं करता है ॥७४॥

ये कुर्वन्ति यष्टिं सुताय सततं तैराश्रयन्ति ग्रहा-।
स्तं मर्कोटकमक्षिकाश्च चटका देशं च काका इव ॥
ते गौडं मकदान्यवामनिशं दातृनिमे याचकाः ।
निःशंकं सुदृशं च दीनमिति तं मत्वा विमुञ्चंति ते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो पुत्रप्राप्ति के लिए बलि देते हैं । तथा ग्रहोंका जप पूजनादिक कार्य करते हैं । ऐसे लोगोंका याचकजन आश्रय करते हैं । जैसे गुडका मार्कोटक, मक्षिका वगैरह प्राणी आश्रय करते हैं । परंतु जो पुत्रप्राप्ति के लिए बलि देना, ग्रहपूजन इत्यादिक कार्य नहीं करते हैं जो निःशंक और सम्यग्दृष्टि हैं, उनका याचक लोग आश्रय नहीं करते हैं । ऐसे पुरुषोंको दीन समझकर याचक त्याग करते हैं ॥७५॥

येऽन्यद्विषः सुतप्रीता जीवन्ति स्वपरिग्रहे ।
तेषां न भूतिर्न मनःस्वास्थ्यं रोगादिभिर्वृथा ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो अपने पुत्रोंके प्रति प्रीति करते हुए, दूसरोंसे द्वेष करते हैं, सदा अपने परिग्रहोंको ही संरक्षण करना चाहते हैं, उन की संपत्ति व्यर्थ है, उनका मन भी मलिन है । स्वास्थ्य भी रोगादि से संयुक्त होता है अर्थात् वे सदा अस्वस्थ रहते हैं ॥ ७६ ॥

वचेयमुक्तवचनं निशाम्य तद्द्वारमाश्रित्य चिरं वसंति ।
दैन्यं कृतं भूरि यथेतदर्थो लब्धो न योचाश्रितकीरवाराः ॥७७॥

अर्थ—अमुक दाता दान देता है-ऐसा वचन सुनने पर याचक उस के द्वारका आश्रय लेकर दीर्घ कालतक याचना करते रहते हैं । और जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए याचना करते हैं वह वस्तु नहीं

मिली तो केलेके फल का आश्रय छोड देनेवाले कीरके समान दाताको छोड देते हैं ॥ ७७ ॥

नो लज्जा नाभिमानो न पटुतरमतिर्नो विवेको न बंधु- ।
र्नो मित्रं नाभिजातिर्न च सुकृतबलं न व्रतं धर्मधीर्न ॥
नो देवो नो गुरुर्नो पतिरिह पितरौ नो वधूर्नो वचोर्थी ।
नायद्रव्यार्जनं यो ग्रहिल इव स तस्यांगजग्रस्तचित्तः ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो याचक जन हैं उनको न लज्जा है, न अभिमान है, न तीक्ष्णतर बुद्धि है, न विवेक है, बंधु भी नहीं है, मित्र भी नहीं है, कुलीनता नहीं है, पुण्य नहीं, व्रत नहीं, धर्मबुद्धि नहीं, देव नहीं, गुरु नहीं, पति, मातापिता, स्त्री वगैरे कोई भी नहीं है । वह कामवेदना से पीडित चित्तवाले के समान रहता है ॥ ७८ ॥

साधवो दोषमायान्ति खलसंगात्प्रभूतकम् ।
शुद्धान्तो दोषमायाति जारैकसहवासतः ॥ ७९ ॥

अर्थ—दुष्टोंके संगसे सज्जन भी दोषको प्राप्त होते हैं। जारोंके सहवाससे शुद्ध अंतःपुरस्त्रियां भी दोष को प्राप्त होती हैं ॥ ७९ ॥

को वा स्त्रियो वल्लभ एव धीमान्यो गाढसंगं कुरुते स एव ॥
रूपं न वृत्तं न कुलं न जातिः शाकस्य चोच्छिष्टमिवासमीक्ष्य ॥

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीको दृढसंभोग से खुष करता है, उसी के ऊपर वह प्रेम करती है । वही उसका वल्लभ है । स्त्रिया रूप, चारित्र, कुल तथा जातीका विचार नहीं करती है । जैसे कोई दीन पुरुष झूठे शाकका विचार नहीं करता हुआ उसको लेता है । उसी तरह अयोग्य स्त्रियां अयोग्य पुरुषको भी अपना वल्लभ समझती है ॥ ८० ॥

दैवे लौकिक उत्साही ये विघ्नं कुर्वते यदि ॥
देशगेहे नरस्तोभो मृत्युर्वा सर्वथा भवेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति देव कार्यमें व लौकिक कार्य में विघ्न उपस्थित

करता है, उसके फलसे देशमें, घर पर क्षोभ उत्पन्न होता है, कदाचित् मरण भी होता है ॥ ८१ ॥

परछिद्रान्वेषणपरो यः स्यात् स पुरुषः कश्चित् ।
महादोषान्वितो जीवः पुण्यलक्ष्मविमुञ्चति ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो कोई मनुष्य हमेशा दूसरेके दोष देखने में तत्पर रहता है, उसको पुरुषका चिह्न प्राप्त नहीं होगा अर्थात् वह प्रति जन्म में स्त्री तथा नपुंसक अवस्थाको प्राप्त होगा। स्वयं बहुत दोषी होने से पवित्र चिह्न उस को छोड़ देते हैं ॥ ८२ ॥

देवस्थानपुरेशत्व वंशपुण्यादिमर्दनम् ।
पापापकीर्तिमभूतिर्दुर्गुणव्रजवर्धनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—देवस्थानद्रोह, राजद्रोह, वंशकी, पुण्यहानि, पाप, अपकीर्ति, आदि दुर्गुणों की वृद्धि भी मनुष्य कभी न करे ॥ ८३ ॥

देवस्थानग्रामवमादिपदं नो सत्पुण्यस्यास्ति तन्मुक्तिरन्यैः ।
नो चेत्तास्या द्वित्रिवर्षान्तरेषु स्वस्यापि स्थानत्रयस्यापि नाशः ॥ ८४ ॥

अर्थ—पुण्यहीन प्राणिको देवस्थानादिपद, ग्रामाधिपत्य आदि प्राप्त नहीं हो सकते हैं। हो तो भी दूसरे उसे छुडायेंगे, यदि नहीं छुडावे तो दो तीन वर्षोंमें अपना व अपने स्थानत्रयका नाश होता है॥

सद्दृष्टिसत्कारमहं करोमीत्युक्त्वा पुनस्तं न करोत्युदास्ते ।
यः सोऽल्पवृद्धेर्बहुमूलहानेः क्लिश्नाति चात्मीयधनानि दत्वा ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीवोंका सत्कार मैं करूंगा, इस प्रकार वचन देकर जो उपेक्षा करता है, उसके धनका नाश होता है, वृद्धि नहीं होती है, धन को देकर भी वह दुःख उठाता है ॥ ८५ ॥

क्षेत्राणि सप्त ह्यतिना शुचि न स्पृशन्ति ।
तेषां च मुक्तिजना न विशन्ति गेहम् ॥

शूद्रो गृहं स्पृशति संविशति मदोषो ।
दोषा भवेयुरनिशं विविधः क्षयः स्यात् ॥८६॥

अर्थ—जो धनिक लोग उन क्षेत्रों में दान देते नहीं, उनके गेहको इतना अपवित्र समझना चाहिए कि सूतकी लोग भी उनके घर में प्रवेश करने से अधिक अपवित्र होंगे । ऐसे धनिकोंके घर में यदि शूद्र प्रवेश करे तो अधिक ही दोष प्रविष्ट होते हैं और वे धनिकोंके घर नष्ट होते हैं ॥ ८६ ॥

ये सूतकिजनाश्च स्युः कृतिनो न स्पृशंति ते ।
कुलीना अपि जायन्ते सद्वृत्ताः शीलशालिनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो सूतकी जन पुण्यक्षेत्रका स्पर्श नहीं करते वे सज्जन कुलीन, सच्चारित्र, शीलवान् होते हैं ॥ ८७ ॥

पूजाके नामसे द्रव्यापहरणका दोष

जिनपूजार्थमाहृत्य निष्फलो यत्कृतोद्यमः ।
अस्पृष्ट्वा जिनपूजार्थमिष्टार्थः स्यात्कृतोद्यमः ॥ ८८ ॥

अर्थ— जिनपूजाके नामसे जो दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करने के लिए प्रयत्न करता है उससे कोई अच्छा फल नहीं मिल सकता है । अच्छे भावसे यदि जिनपूजाके लिए प्रयत्न करके जिनपूजा न कर सके तो भी श्रावक इष्टार्थ को प्राप्त करता है ॥ ८८ ॥

पुण्यायुषां विषाहारः परस्वघयतीव भोः ।
धर्मार्थैः कृतिनां सद्यो दण्डं क्रूरं करोति सः ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिनका आयुष्य दानादि कृत्योंके करनेसे पवित्र होगया है ऐसे धनिक लोग, यदि धर्मके लिए जिसका उपयोग करना है ऐसे धनका उपयोग स्वार्थके लिए करेंगे तो उनका यह अकृत्य कुल्हाडीके समान उनका नाश करेगा । अर्थात् देवद्रव्य खानेसे नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥

स्वाम्यादिद्रव्यापहरणफल.

वंचना स्वामिदेवार्थे पित्राद्यर्थे करोति यः ।
सोऽसाध्यक्षयरोगीव क्रमान्मुंचति जीवनम् ॥ ९० ॥

अर्थ—स्वामिद्रव्य, देवद्रव्य, पितृद्रव्य आदि में जो ठगता है वह असाध्य क्षयरोगी के समान कष्ट भोगकर क्रमसे जीवनको छोडता है अर्थात् मरता है ॥ ९० ॥

पात्रके बहानेसे द्रव्यापहरणफल

यः परद्रव्यमाहृत्य पात्रव्याजाच्च जीवति ।
इहामुत्र स जीवः स्याद्विष्टिकारो यथा जनः ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो पात्रके बहानेसे दूसरोंके द्रव्यको अपहरण कर जीता है; वह इहलोक व परलोक में एक मजूरके समान दुःखी जीवनको व्यतीत करता है ॥ ९१ ॥

पुण्यवान् को पापकर्म आश्रय नहीं करते हैं

शुचित्वतः सर्वशुभोदयः स्यादनिष्टकर्माणि न चाश्रयंति ॥
सुगंधिगेहं न विशंति कीटास्ततः कृतिज्ञाः शुचितां लभेरन् ॥

अर्थ—परिणामकी विशुद्धि से पुण्यकर्मका उदय होता है जिससे कि अशुभकर्म उस मनुष्य का आश्रय नहीं करते हैं । जिस प्रकार कि सुगंधि (औषधविशेष, धर्मात्मा) के घर में कोई कीटक व रोगादिक प्रवेश नहीं करते । इसलिए कृतज्ञ पुरुषोंको परिणाम में निर्मलताको प्राप्त करना चाहिए ॥ ९२ ॥

अशुभपरिणामसे पापास्रव

अशुचित्वं करोत्येवाशुभकर्मास्रवं सदा ।
दुर्गंधिमंदिरं कीटाः प्रविशंति यथा तथा ॥ ९३ ॥

अर्थ—परिणाम की अशुभता सदा अशुभ कर्मास्रवको करती है ।

जिस प्रकार कि दुर्गंधयुक्त घर आदि में कीडे आदि प्रवेश करते हैं उसी प्रकार अशुभपरिणामसे अशुभ कर्म आते हैं ॥ ९३ ॥

जैनमुनियोंके समाधिभंगफल

जिनमुनिसमाधिसमये चित्तनिरोधं करोति यस्तस्य ।
गेहपुरदेशनाशः स्वस्थानोच्चाटनं भवेन्नियमात् ॥ ९४ ॥

अर्थ—जैन मुनियोंकी समाधिके समय में जो व्यक्ति उनके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करता है, उसका घर, नगर, देश आदिका नाश होता है, इतना ही नहीं अपने स्थानका उच्चाटन होता है ॥ ९४ ॥

पापभीरु गुरुजनोंके आसनपर नहीं बैठते

आसने यत्र तिष्ठन्ति राजानो गुरवो बुधाः ॥
तत्र तदासने जैना न वसन्त्यघभीरवः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जिस आसनपर राजा, गुरु व विद्वान् विराजमान होते हैं, उस आसन पर पापभीरु जैन कभी नहीं बैठते हैं ॥ ९५ ॥

विदुषा गुरुणा राज्ञा साकमेकासने बुधाः ।
तत्तुल्यधर्मरहिता न तिष्ठेयुः कदाचन ॥ ९६ ॥

अर्थ—विद्वान, गुरु, व राजाके आसनपर उनके समान गुणोंसे विरहित सामान्यजनोंको कभी न बैठना चाहिए ॥ ९६ ॥

सज्जन पापकार्यको त्याग दें

त्यक्त्वाऽस्तेऽन्नमजीर्णे वा सन्निपाते च कामिनीम् ॥
कृतीव पापकृत्यानि कषायानिव पुण्यवान् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अजीर्ण होनेपर अन्नका, सन्निपात होनेपर स्त्रीका, पुण्यवान् व्यक्ति कषायोंका त्याग करता है उसी प्रकार सज्जनोंको पापकार्योंका त्याग करना चाहिए ॥ ९७ ॥

तपश्चरणसे सुख

नानैकक्षणसन्निभैकजनने वाजं ? विनान्तर्बहि- ।
ग्रन्थं सर्वमिमं विहाय तपसि क्षान्तः कषायोज्झितः ।
यो वर्तेत मुनिः स चापरिमितं कालं प्रयासं विना ।
स्वर्गे सौख्यकरं सुखं त्वनुभवेद्बुध्द्वैव कुर्यात्तपः ॥ ९८ ॥

अर्थ—अत्यंत चंचल, नश्वर इस अंतरंग व बहिरंग परिग्रहको त्याग कर जो व्यक्ति उत्तमक्षमादिगुणोंको धारणकर, कषायोंका परित्याग कर तपश्चर्यामें लीन रहता है । वह मुनि अपरिमितकाल पर्यंत स्वर्गीयसुखका अनुभव करता है । इस प्रकार जानकर शुद्ध अंतःकरणसे तपश्चर्या करनी चाहिए ॥ ९८ ॥

उक्तंच-क्षणैकनिभमेकजन्मनि विनाशमेवाखिलं ।
परिग्रहमिमं विहाय करणत्रयान्निर्मलं ॥
छलत्तपसि वर्ततेऽपरिमितं च कालं सुखं ।
सदानुभवितुं भवेदिह विना प्रयासं क्षमः ॥ ९९ ॥

अर्थ—कहा भी है, क्षणभर भी जिसका भरोसा नहीं है, ऐसे परिग्रहको त्यागकर मन वचन कायकी विशुद्धि से जो तपश्चर्या करता है वह अपरिमित कालतक सुखको बिना श्रमके ही अनुभव करता है अर्थात् मोक्षलक्ष्मीको पाता है ॥९९॥

आचरणके अनुसार फल

मत्वा जैनजनान्विशारदजनान् दत्वा च तेभ्यो धनं ।
विस्मृत्यात्मगुणांश्च चेतसि च तद्दोषान् स्मरन्तो जनाः ॥
संसन्तीह पुरा नमन्ति परमे काले च पापोदया- ।
द्दोषोऽयं भुवि पातकी नट इमानंचन्ति निंदन्ति च ॥ १०० ॥

अर्थ—जो भव्यजीव जैन-विद्वान लोगोंका सम्मान करके धन देते

हैं, परंतु उनके गुणोंको भूलकर उनके दोषोंका स्मरण करते रहते हैं। तथा उनको प्रत्यक्षमें नमस्कार कर परोक्षमें उनकी निंदा करते हैं—ऐसे लोगोंको जो कर्मबंध होता है उसका उदय होनेपर वे भी प्रत्यक्षमें पूज्य होते हैं परंतु परोक्षनिंदाके पात्र बनते हैं। अर्थात् उनकी प्रत्यक्ष तो स्तुति होती है परंतु परोक्षमें कोग उनकी बुराई करते हैं। जैसा जो आचरण करेगा वैसा फल मिलता है, यह इस श्लोकका अभिप्राय समझना चाहिये ॥ १०० ॥

स्वक्षेत्रको छोडनेवाला पापी है

स्वकीयसुक्षेत्रयुगं विहाय दुःक्षेत्रयुग्मेऽपि च वर्तते यः।
इहाप्यमुत्रात्महितं सुतं ?(स्वं) न कभेत धर्मं न च पापवान् भवेत् ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सच्चे देव गुरुयोंके क्षेत्रको छोडकर दूसरोंके मिथ्याक्षेत्रों में प्रवृत्ति करते हैं वे इहपरमें सुखको प्राप्त नहीं कर सकते, उनके हाथसे धर्माचरण भी नहीं हो सकता है, वह पापी है ॥ १०१ ॥

मातापितादिकोंकी निंदाका फल

मातापित्रोरुदास्ते यो धर्मे संघे जिने गुरौ।
सोऽरिभिः स्वैः परैर्नित्यं भवेद्वध्यो भवे भवे ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो माता, पिता, धर्म, संघ, जिनदेव व गुरु आदिकी अवहेलना या उपेक्षा करता है, वह भवभवमें शत्रुओंके द्वारा मारा जाता है। और सदा कष्टका अनुभव करता है ॥ १०२ ॥

स्वद्रव्यको छोडकर परद्रव्यका अपहरण न करें

यत्पापागमने यदर्जितमिदं हस्तागतं स्वं धनं।
सर्वं नश्यति तत्क्षणे परधनं राज्ञाहृतं सर्वदा ॥
सर्वे ते बुध वंचयन्ति च परैः छिद्नाति चित्ते भवान्।
क्लेशं मा कुरु मा स्पृशान्यधनमात्मद्रव्यतो जीव मो·] ॥

अर्थ—जिस समय पापका उदय होता है, उस समय मनुष्यके द्वारा अर्जित व अपने पासमें स्थित धनका नाश होता है। सर्व मनुष्य उसे ठगनेका प्रयत्न करते हैं। जिसका धन नष्ट होता है वह मनमें दुःखी होता है। ऐसे जीवोंको आचार्य उपदेश देते हैं कि भो भोले भाले जीव! अपने मनमें दुखी मत होवो, अपने द्रव्यसे भिन्न दूसरोंके धनको स्पर्श मत करो। क्यों कि स्वतः के धन के नष्ट होने का कारण ही यह है कि तुमने पूर्वमें परद्रव्यका अपहरण किया है अतः पुनः उस पापको मत करो ॥ १०३ ॥

देवद्रव्यापहरणनिषेध

येन द्रव्यमिहाहृतं जिनपतेस्तस्यापि हस्तागतं ॥
दायं दायमि(म) येत् पुरो न लभते माया भवेत्स्थापितम् ॥
निर्द्रव्यारकुरुते धनव्ययकरान्कृष्यादिकानुधमा- ।
स्तन्न श्रीमति चेद्रिरिक्त इव चास्पृश्याऽर्हतं जीव भो ॥१०४॥

अर्थ—जिसने देवद्रव्यका अपहरण किया, उसके हाथमें आया हुआ धन भी नष्ट होता है, आगे नहीं मिलता है, कहीं गाढकर रक्खे तो वह भी नहीं मिलता है, अदृश्य होता है। निर्धनी होनेसे वह खेती आदि उद्योगको करता है। तथापि धनके बिना उसमें भी कोई उपयोग नहीं होता है। अतएव हे जीव! देवद्रव्यका स्पर्श मत करो ॥ १०४ ॥

देवद्रव्यादिमें ईर्ष्या नहीं करें

मनोवपुर्वाग्गृहवमवित्तविरोधमेर्षा मुदगादिकानां ॥
करोति यस्तस्य जिनार्थकेर्ष्या नैस्वं मृतिर्वाऽप्यचिरद्धिरेव ॥

अर्थ—जो व्यक्ति मन, वचन, काय व अपनी प्रवृत्तिसे सम्यग्दृष्टि साधर्मि सज्जनोंका विरोध करता है एवं देवद्रव्यसे ईर्ष्या करता है, उससे उसकी हानि होती है। पापकी वृद्धि होती है, विशेष क्या! कदाचित् मरण ही होता है ॥ १०५ ॥

देवद्रव्यापहरणका प्रत्यक्षफल

देवाद्यन्यधनाहृतेः परपुरे मृत्युं गताक्रंदनात् ।
स्वावासे शपनाद्विवादकरणादुल्लंघ्य शक्तिं निजाम् ॥
वृत्तेः पापचरित्रतः परिणताद्रुक्तार्कषायोग्रतो ।
मित्रद्रोहसुखात्स्वपुण्यकुलसद्भार्यायुरादिक्षयः ॥ १०६ ॥

अर्थ—देवद्रव्यादि परद्रव्यके अपहरण करनेसे देखा गया है कि दूसरे स्थानमें ही उसका मरण होता है, उसके घरपर रोते ही रहते हैं। दूसरोंको गाली देना, दूसरोंके साथ झगडा करना, अपनी शक्तिको उल्लंघन कर वृत्ति रखना, पापाचरणमें मग्न होना; कषायकी उग्रताको धारण करना, मित्रद्रोह करना आदि बातोंसे पुण्य, कुल, सद्भार्या व आयु आदिका क्षय होता है ॥ १०६ ॥

हिंसां मा कुरु माऽनृतं वद चुरां मुञ्चाङ्गनां मा स्पृश ॥
कांक्षां मा कुरु जैनमार्गनिजसत्क्षेत्रभुक्तिं कुरु ।
दुष्टे स्वामिनि सेवके शपति च क्रुध्यत्यलं जीव भो ।
मौनीभूय निवर्त्य गच्छति यथा पुण्याय तिष्ठ क्षमी ॥१०७॥

अर्थ—हे जीव ! हिंसा मतकर, झूठ मत बोलो, चोरी नहीं करो, स्त्रियोंको स्पर्श मत कर, परिग्रहोंकी अभिलाषाका परित्याग कर, जैन मार्ग से अपने मतक्षेत्रोंका अनुभव कर। जिस प्रकार दुष्ट स्वामी होने पर सेवकके ऊपर अत्यधिक क्रोधित होता है, गाली देता है, परंतु शिष्ट सेवक पुण्य के लिए क्षमा धारण कर मौनसे जाता है, इसी प्रकार कर्मके परतंत्रता से तुम्हारे लिए कष्ट होनेपर भी कषायोद्रिक्त न होकर उदासीनसे अनुभव करो। तुम्हारा भला होगा ॥ १०७ ॥

संसारे दुःखभीरूणां कषायस्ति विशोधनम् ।
यद्भेदमधिगम्याहं तद्ब्रवीम्यागमोक्तितः ॥ १०८ ॥

अर्थ—संसारमें दुःख भीरुवोंकी विशुद्धि किस प्रकार होती है। उन के भेदको मैं जानकर आगमानुसार कथन करूंगा ॥ १०८ ॥

॥ जिनधर्म के अपवादको दूर करें

यथागमं यथाकालं यथाशक्ति यथोचितम् ।
भूपाः प्रजागःशान्त्यर्थं दंडं स्वीकुर्वते यथा ॥१०९॥
जिनधर्मापवादांश्च दृष्ट्वा श्रुत्वाऽघभीरवः ॥
श्रुतेऽहि कुर्युः संशुद्धिं तारतम्येन सर्वथा ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा यथागम, यथाकाल, यथाशक्ति, यथा उचित आदि बातोंको विचार कर प्रजावोंके पापकी शांति के लिए दंड विधानको स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार पापभीरु सज्जन जिनधर्मके अपवादोंको देखकर अथवा सुनकर तारतम्यसे शास्त्रोक्तविधि से उसका शोधन करें ॥ १०९ ११० ॥

अविभक्तोंकी शुद्धि.

एकेनैव कृते दोषे सर्वेषामविभागिनाम् ।
शुद्धे सम्यग्विधानां सर्वशुद्धिः स्यादेकशुद्धितः ॥ १११ ॥

अर्थ—कहीं कहीं एक व्यक्तिके दोषसे उनके साथ रहनेवाले अनेक व्यक्तियोंको दोष लगता है। इसलिए उस महापातकी एक ही व्यक्तिकी शुद्धि होनेपर सबका शोधन हो सकता है। यह अविभक्तोंके लिए नियम है ॥ १११ ॥

विभक्तोंकी शुद्धि.

विभक्तानां तु सर्वेषामन्तरेकघृतापतः ॥
शुद्धिः स्यात्तस्य नान्येषामुद्रक्त्येव पृथक्त्वात् ॥ ११२ ॥

अर्थ—विभक्तोंके लिए सबका भिन्न २ रूपसे ही शोधन होना चाहिये। अर्थात् जिसने पातक किया है उसीका शोधन हो। दूसरों की आवश्यकता नहीं है ॥ ११२ ॥

न तत्संबंधिना दोषो न धिषकारोऽघने घनि ।
घनिसंबंधिनामंतस्तस्य कुर्वाद्विशोधनम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—कोई गरीब पुरुषने पाप किया हो तो उसके संबंधीजनोंको सहकारी न होनेसे प्रायश्चित्त ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है । वह अकेला ही पापका प्रायश्चित्त करे । परंतु धनीके सहायकोंने यदि पाप किया होतो धनी और उसके सहायकोंको भी प्रायश्चित्त लेना आवश्यक है ॥ ११३ ॥

कार्येण धर्मेण कुलेन वृत्तात्संबंधहीनाय जनाय वित्तम् ।
दत्ते स्वकीयं प्रतिभूरिवार्यो जैनस्य दोषोपशमाय दद्युः ॥ ११४ ॥

अर्थ—कार्यसे, धर्मसे, कुलसे, चारित्रसे जो व्यक्ति पतित है, उसे अपने द्रव्यको देनेसे विशिष्ट दोष लगता है, लोग उस क्रियाको अच्छी नजरसे नहीं देखते हैं । किसी साधर्मी सज्जनके दोषके उपशमके लिए द्रव्यका प्रदान करना चाहिये ॥ ११४ ॥

राजापराधिमनुजं परिगृह्य भृत्या-
श्छेत्तुं शिरः पथि च गच्छत एव दृष्ट्वा ।
दत्वा धनं खलु विमोचयतीव लोको
जैनार्जितार्घशमनाय धनानि दद्युः ॥ ११५ ॥

अर्थ—अपराधी मनुष्यके छेदन करनेके लिए राजाकी आज्ञा हुई तो सेवकजन उसे पकडकर लेजाते हैं, उस मार्गमें कोई दयालु उसे देखता है तो धन देकर उसे छुडानेके लिए प्रयत्न करता है । उसी प्रकार अपने साधर्मियोंके द्वारा अर्जितपापके शमनके लिए धनका व्यय करना चाहिये ॥ ११५ ॥

एके नृपं धनं धान्यं गां क्षेत्रं कोद्दलादिकम् ।
दत्वैवात्मपुराविष्टाञ्जनान् पांति जिनाश्रितान् ॥ ११६ ॥

अर्थ—कोई २ धर्म, धन, धान्य, गाय, क्षेत्र गाजे बाजे आदिको प्रदान कर अपने नगरमें आये हुए साधर्मी भाईयोंका स्वागत करते हैं। [यह स्तुत्य है] ॥ ११६ ॥

यावत्सूतकमप्यस्ति तावदपि संशुद्धिर्जनानां विधि—।
जैनानामिह दुर्मृतौ सुखमृतौ सा स्याद्यथाशक्ति च ।
मुख्यानां गुरुभूपधार्मिकसतां शुद्धिर्जिनार्चादिभिः
कार्या शासनवत्सलैरिव जनैर्भूपाय दत्तं धनम् ॥११७॥

अर्थ—लोक व शास्त्रकी विधि है कि जिस प्रकार का सूतक है उस प्रकारका शुद्धिविधान भी होना चाहिये । किसीका मरण दुर्मरण होता है, किसीका मरण सुखसमाधिपूर्वक होता है । इन सब बातोंको जानकर यथाशक्ति शुद्धि करनी चाहिये । मुख्य गुरु राजा व धार्मिक जनोंकी शुद्धि जिनपूजादिकोंसे होनी चाहिये । जिस प्रकार राजाके लिए धन दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसे समय धर्मवत्सलोंके द्वारा शुद्धिविधानका होना आवश्यक है ॥ ११७ ॥

मुनिसत्साधुराट्सद्दृग्व्रतिकादिजनस्य च ।
धर्मोद्धारकरस्यापि दुर्मृतौ सन्मृतावपि ॥ ११८ ॥
जिनभक्ताश्च यावन्तस्तावन्तः पुरुषाः समाः ।
तद्दोषोपशमायैव शुद्धिमिच्छंति सर्वथा ॥ ११९ ॥

पाठान्तर युगलम् ।

अर्थः—मुनि, आचार्य, सम्यग्दृष्टि, व्रतिक व धर्मोद्धारक आदि के दुर्मरण या सन्मरण होनेपर जितने जिनभक्त हैं वे सर्व समानरूप से उस दोषके उपशमके लिए शोधन करें ॥ १२० ॥

उक्तंच—सर्वेषामविभागिनामभिहिता शुद्धिर्विभक्तात्मना ।
नोढाया दुहितुर्यया पितृमर्योऽप्यर्धी पवा कारयेत् ॥

हिंसादुर्मृतिदूषणे च महतां धर्मापकीर्तौ मतां ।
साक्षेतं पतितेऽप्यवंति च यथा सा स्याद्यथाशक्तितः॥१२०

अर्थ—जो भव्य अविभक्त है उन सर्व को शुद्धि कही है । परंतु वे अविभक्त नहीं हो तो उन को शुद्धि नहीं है। जिस कन्याका विवाह हो गया है वह भिन्नगोत्रा हो जाने से उस के पितादिक जैसे दोष शुद्धिके लिए योग्य हैं वैसी वह नहीं है। हिंसा, दुर्मरण, दूषण लगाना, धर्म की निंदा करना, पर्वतादिकसे गिरकर पडना इत्यादिक पातक हो जाने पर यथाशक्ति शुद्धि ग्रहण करके पाप से मुक्त होना चाहिए।

विमोचयन् रोगभरं भिषग्यथा विमोचयन् दैन्यभरं नृपो यथा ।
मृते च बंधावसुखोपशांतये यथातिदुःखं स्वजनेन मोचयन्॥१२१

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य रोगको छुडाता है, राजा दीनता को छुडाता है, उसी प्रकार किसी बंधुका मरण होनेपर अपने कुटुंबियोंके दुःखकी उपशांति के लिए उन के दुःख को दूर करते हुए शुद्धि विधान करना चाहिए॥ १२१ ॥

धनका उपयोग

नृपोऽर्जितार्थं निजसैन्यपुष्टये यथा प्रजार्थो नृपवप्रकर्मणे ।
जिनाश्रिता जैनजनाघशांतये ददाति सर्वं च धनं तथा जनः॥१२२

जिस प्रकार राजाके द्वारा संचित धन अपनी सेनाके पोषणके लिए है। प्रजाओंका धन राजाके संरक्षणके लिए है। उसी प्रकार जिनभक्त जीवोंका धन साधर्मी भाईयोंके पापकी अशांतिके लिए उपयोगमें आना चाहिये। उसी प्रकारके कार्योंमें सज्जन अपने धनको देते हैं॥१२२॥

शुद्धिविधान

अनुकंपैकं सपयति गर्हैकं गुरुदयैकमिति दोषस्य।
निजगुरुदत्तव्रतधृतिरेकं भागं ततोऽतिनिर्दोषाः स्युः ॥१२३॥

अर्थ–किसी २ दोषको अनुकंपा ही दूर कर देती है, किसीकी शुद्धि गर्हणासे होती है, किसी दोषकी शुद्धि अपने गुरुके द्वारा दिए हुए व्रतके पालनसे होती है। दोषके तारतम्यसे शुद्धिविधानमें भी तारतम्य है यदि अल्पदोष हुआ तो व्यस्त व अधिक दोष हुआ तो समस्त शुद्धि विधान भेदोंका उपयोग करना चाहिये ॥ १२३ ॥

> शाकेऽब्दे त्रियुगाग्निशीतगुयुतेऽतीते विषावत्सरे।
> माघे मासि च शुक्लपक्षदशमे श्रीवासुपूज्यर्षिणा ॥
> प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं ज्ञात्वा हितं कुर्वतां।
> दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिकाः ॥१२४॥

अर्थ——श्री वासुपूज्यऋषिने यह दानशासन नामका पवित्र शास्त्र शालिवाहन शक १३४३ विषु संवत्सरके माघ शुद्ध दशमीके दिन रचा है। इस ग्रंथका अभिप्राय जानकर भव्यजीव अपना हित करें। सुवर्ण परीक्षक जैसे सच्चा सोना ग्रहण करते हैं उसी तरह धार्मिक लोग इस ग्रंथसे ज्ञान प्राप्त कर तीन प्रकारके सत्पात्रोंको दान देवे व अपना हित करें ॥ १२४ ॥

